युग प्रमुख चारित्रशिरोमणि सन्मार्गदिवाकर पूज्य आचार्यश्री विमलसागरजी महाराज की हीरक जयन्ती प्रकाशन माला

आचार्य शुभचन्द्र विरचित

अंगपण्णत्ति

हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन

गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी

अर्थ सहयोग

श्री सुभाषचन्द जैन सर्राफ, बर्तन वाले
एटा (उ० प्र०)

प्रकाशक

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

प्रस्तावना

इस पवित्र भारत वसुन्धरा में दृश्यमान लौकिक इन्द्रिय विषय सुखों से परे अतीन्द्रिय अलौकिक आत्मीय सुख की खोज मानव संस्कृति के इतिहास में हुई जिनका एक ही लक्ष्य रहा आत्मा के उस निरुपाधि, निरालम्ब, निर्विकार, सर्वशुद्ध आनन्दमयस्वरूप की उपलब्धि जिसे पा लेने, जान लेने पर अन्य कुछ भी प्राप्तव्य एवं ज्ञातव्य नहीं रहता। उसको पाना, जानना हो ब्रह्म को पाना, जानना है। वही मुक्ति अथवा मोक्ष है।

इस मुक्ति पथ पर प्रथम आरोहण करने से लेकर मोक्ष के सर्वोच्च शिखर पर सफलतापूर्वक पहुँचने का क्रम है। जैन साहित्य में वर्णित द्वादशाङ्ग जिनागम में जो अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट रूप है। 'अंग पण्णत्ति' आचार्य शुभचन्द्र कृत प्राकृत गाथा निबद्ध ग्यारह अङ्ग, चौदह पूर्व और चौदह प्रकीर्ण की रचना है। अतः इसका अंग पण्णत्ति ये सार्थक नाम है। ग्रन्थ रचना की प्रतिज्ञा करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—

"पुव्वपमाणमेगारहअंगसंजुत्तं"

मैं ग्यारह अङ्ग सहित चौदह पूर्व का कथन करूँगा। अन्त में भी कहा है—

"सिरिवड्ढमाणमुहकयविणिग्गयं वारहंगसुदणाणं।
सिरिगोयमेण रइयं अविरुद्धं सुणह भवियजणा ॥४२॥

श्री वर्द्धमान स्वामी के मुख से निर्गत, श्री गौतम स्वामी के द्वारा अविरुद्ध रूप से विरचित इस ग्रन्थ को हे भव्यजीव! एकाग्र होकर के सुनो। अतः इस ग्रन्थ में जीव अजीव रूप आस्रव के कारणों का निरूपण किया गया है।

ग्यारह अङ्ग, चौदह पूर्व और चौदह प्रकीर्ण का कथन है जो चौदह पूर्व प्रकीर्ण, ग्यारह अङ्ग इनकी रचना में सर्व अङ्गों का चौदह पूर्व और चौदह प्रकीर्ण और एक अङ्ग में कथन हो जाता है।

यद्यपि इसका नाम अंग पण्णत्ति होने से मुख्यतः बारह अङ्ग तथा दृष्टिवाद के पाँच भेदों में कथित परिकर्म, चूलिका, सूत्र, प्रथमानुयोग और पूर्व का वर्णन है परन्तु सामान्यतः मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल-ज्ञान स्वरूप पाँचों ज्ञानों का और उनके भेदों का कथन किया गया है तथा इसी

सन्दर्भ में अङ्गबाह्य का कथन भी किया है। इस ग्रन्थ में पर्याय, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति, अनुयोग आदि का वर्णन सुन्दरतम किया है। अङ्ग बाह्य की संख्याओं का कथन भी विशेष रूप से है।

सर्व प्रथम अङ्ग निरूपण नामक प्रथम अधिकार में ७७ गाथाओं में बारह अङ्ग का वर्णन है।

चतुर्दश पूर्वाङ्गप्रज्ञप्ति नामक द्वितीय अधिकार में ११७ गाथाओं में दृष्टि-वाद के परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, चूलिका और पूर्व का कथन किया है।

तृतीय अधिकार में चौवन गाथाओं के द्वारा १४ अङ्गबाह्य का विस्तार-पूर्वक कथन किया है तथा अन्त में ग्रन्थ कर्त्ता ने गुरु पट्टावली लिखी है।

अंगपण्णत्ति के रचयिता आचार्य शुभचन्द्र हैं। शुभचन्द्र नाम के दो तीन आचार्य हुए हैं।

सर्व प्रथम ज्ञानार्णव के कर्त्ता शुभचन्द्र आचार्य हुए हैं जो भर्तृहरि के भ्राता थे। इनके समय का पूर्णतया निर्णय करना तो बहुत कठिन है तथापि कुछ विद्वानों के अभिमत से वे नवमी शताब्दि में हुए हैं।

शुभचन्द्र नाम के एक दूसरे आचार्य सागवाड़ा के पट्ट पर विक्रम संवत् १६०० ई० सन् १५४४ में हुए हैं। उन्हें षट् भाषा कवि चक्रवर्ती की उपाधि थी। पाण्डव-पुराण स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका आदि ४०-५० ग्रन्थ उनके बनाये हुए हैं परन्तु ज्ञानार्णव के कर्त्ता शुभचन्द्र से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। शुभचन्द्र नाम के और भी विद्वान् भट्टारक सुने जाते हैं परन्तु मैं इनका निर्णय नहीं कर सकती कि इस अङ्ग पण्णत्ति के कर्त्ता कौन से हैं ?

इस ग्रन्थ के अन्त में शुभचन्द्र आचार्य ने अपनी पट्टावली में अपनी गुरु परम्परा लिखी है। सकलकीर्ति भट्टारक से लेकर वह इस प्रकार है—

सिरिसयलकित्तिपट्टे आसेसी भुवणकित्तिपरमगुरु।
तप्पट्टकमलभाणू भडारओ बोहभूसणओ ॥ ५० ॥

श्री सकलकीर्तिपट्टे आसीत् भुवनकीर्तिपरमगुरुः।
तत्पट्टकमलभानुः भट्टारकः बोधभूषणः ॥ ५० ॥

सिरिविजकित्तिदेओ णाणासत्थप्पयासओ धीरो।
बुहसेवियपयजुयलो तप्पयवरकलभसलो य ॥ ५१ ॥

श्री विजयकीर्तिदेवो नानाशास्त्रप्रकाशको धीरः।
बुधसेवितपदयुगलः तत्पदवरकलभसलो य ॥ ५१ ॥

तप्पयसेवणसत्तो तेविज्जो उहयभास परिवेई।
सुहचंदो तेण इणं रइयं सत्थं समासेण॥५२॥

तत्पदसेवनसक्तः त्रैविद्यः उभयभाषापरिसेवी।
शुभचन्द्रस्तेनेदं रचितं शास्त्रं समासेन॥ ५२ ॥

अर्थ—श्री सकलकीर्ति आचार्य के पट्ट पर परमगुरु भुवनकीर्ति आसीन हुये। उनके पट्ट पर भट्टारक कमलभानु, उनके पट्ट पर बोधभूषण, उनके पट्ट पर नाना शास्त्र के प्रकाशक, धीर विद्वज्जनों के द्वारा सेवित पदयुगल, बोधभूषण के चरण केशर में आसक्त भ्रमर श्री विजयकीर्तिदेव आसीन हुए थे।

श्री विजयकीर्ति के पट्ट पर उनके चरणों को सेवन में आसक्त तथा उभय (संस्कृत प्राकृत) भाषा का ज्ञाता त्रैविद्य नामक आचार्य आसीन हुए थे। त्रैविद्य के शिष्य शुभचन्द्र आचार्य देव ने संक्षेप में इस अङ्गपण्णत्ति नामक शास्त्र की रचना की है॥ ५०-५१-५२ ॥

इस कथन के अनुसार शुभचन्द्र त्रैविद्य मुनिराज के शिष्य हैं—इस "अङ्ग पण्णत्ति" के कर्त्ता।

ज्ञानार्णव में शुभचन्द्राचार्य ने जिनसेन की स्तुति करते समय लिखा है—

"जयन्ती जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः।
योगिभिर्याः समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये॥१६॥

"जिनके वचन त्रैविद्य के द्वारा वन्दित हैं, पूजित हैं।" यह शब्द विचारणीय है। यद्यपि हिन्दी कर्त्ता ने त्रैविद्य का अर्थ न्याय, व्याकरण और सिद्धान्त इन तीन विद्याओं के ज्ञाताओं के द्वारा वन्दित कहा है। यह "त्रैविद्य" शब्द गोमट्टसार में भी आया है परन्तु अंग पण्णत्ति में लिखित 'त्रैविद्य' से यह सिद्ध होता है—वे शुभचन्द्राचार्य के गुरुदेव थे तथा जिनसेन के समकालीन थे। परन्तु जब आदि की परम्परा को देखते हैं तब लगता है कोई दूसरे हैं। इनका निर्णय करना कठिन है कि अंग पण्णत्ति के कर्त्ता शुभचन्द्र आचार्य कौन से हैं? पाण्डवपुराण आदि के कर्त्ता हैं या ज्ञानार्णव के?

मुझे आश्चर्य होता है कि जिन्होंने कभी स्कूली शिक्षा भी प्राप्त नहीं की, जो स्वयं अशिक्षित रहकर M.A. एवं Ph.D. करने वाले छात्र-छात्राओं को भी शिक्षा दी, जिनके जीवन में 'असम्भव' जैसा कोई शब्द नहीं यानि 'अंग-पण्णत्ति' जैसे कठिन ग्रन्थ, जो प्राकृत भाषा में निबद्ध है, जिसमें हिन्दी का कहीं भी संकेत नहीं, ऐसे ग्रन्थ को भी जिन्होंने अपनी प्रतिभा एवं अभीक्षण ज्ञानोपयोग के द्वारा सरल, सुवाच्य शब्दों में हिन्दी रूपान्तरण किया।

समुत्कृष्ट चारित्र की धनी इनकी जीवनचर्या से स्पष्ट झलकता है कि इनका एक क्षण, एक पल कभी व्यर्थ नहीं जाता। दिन हो या रात, अन्धकार हो या

प्रकाश, जीवन साधना की कोई न कोई क्रिया अनवरत गतिशील बनी ही रहती है। चिन्तन-मनन, ध्यान-स्वाध्याय, लेखन-अध्यापन, जप-तप के रूप में आपका समय सार्थक बना रहता है।

आगमवाणी में "समयं गोयमं मा पमायए' के रूप में जैसा प्रमाद रहित जीवन बिताने का उल्लेख है, आप दृढ़ संकल्प के साथ उसका अनुसरण करती हैं।

इनके जीवन में बहुत विशेषतायें हैं। समय का मूल्यांकन यानी समय का काम समय पर ही करना, पूर्ण दृढ़ता और तत्परता से इसका अनुपालन करती हैं और कराती हैं। इनके जीवन का हर कार्य समय पर ही होता है यानी घड़ी की तरह कार्य सहज सम्पादित होते रहते हैं। कैसी भी विकट परिस्थिति क्यों न हो, चर्या दोष रहित होती है।

इनका आत्मबल, मनोबल, अत्यन्त उच्च व दृढ़ीभूत है। गम्भीर से गम्भीर परिस्थिति होने पर भी आप विचलित नहीं होतीं, मुख मुद्रा पर चिन्ता की स्वल्प रेखा तक दृष्टिगोचर नहीं होती। इनका ब्रह्म तेज से चमकता मुख मण्डल, निर्विकार सुलोचन, शान्त-प्रशान्त, प्रखर प्रतिभा सम्पन्न आप जैसी महायोगी को देखकर जन-जन के मानस में अपूर्व आन्तरिक सुखद अनुभूति का संचार हो जाता है।

आपके पवित्र सान्निध्य में विकथा और प्रमाद भरे आचरण का कतई स्थान नहीं है। इनका अन्तःकरण निर्मल एवं विचार परमोच्च है। आप संयम साधना की आराधना में पूर्ण सजग एवं सावधान है।

इनका जीवन बड़ा ही सधा हुआ, त्याग-वैराग्यमय एवं अप्रमत्त है। आप निरन्तर आत्म साधना में संलग्न रहती हैं। लम्बे समय तक आराम नहीं करतीं। रात में ब्रह्ममूहूर्त में शय्या त्याग कर ध्यान, चिन्तन, मनन, स्वाध्याय में तल्लीन रहती हैं।

इनको आगामों का गहन एवं विशाल अध्ययन है। इनकी उल्लेखनीय विशेषता-प्रवचन-शैली, शास्त्रीय ज्ञान, एक-एक शब्द तोलकर बोलने का अभ्यास तथा स्मरणशक्ति तो बहुत गजब की है।

ऐसी विराम रहित, सरस्वती साधिका, तपस्विनी, परम वन्दनीय, अतृप्त दर्शनीय, पूज्य सुपार्श्वमति माताजी के चरणों में वन्दना करती हुई इनके प्रशस्त संयमी जीवन से निरन्तर प्रेरणा ग्रहण करने की इच्छा रखती हुई इनके दीर्घ जीवन की कामना करती हूँ।

—प्रमिला जैन

दो शब्द

दिगम्बर जैन आचार्य परम्परा में शुभचन्द्र नामके अनेक आचार्य हुए हैं। एक शुभचन्द्र वे हैं जिन्होंने "ज्ञानार्णव" नामका प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है। इनका काल संभवतः ७वीं या ८वीं शताब्दि का है। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन शुभचन्द्र आचार्य का काल ई० सन् १००३ से १०६८ के बीच रहा हो। ये शुभचन्द्र किस संघ या गण कच्छ के थे और उनके गुरु का क्या नाम था, इसका अभी तक कोई पता नहीं चला। 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ की उपलब्ध प्रतियों में इसका कोई संकेत नहीं मिलता।

'अंगपण्णत्ति' नामक यह छोटा-सा ग्रन्थ आचार्य शुभचन्द्र की एक महान् कृति है। ये शुभचन्द्र कौन से शुभचन्द्र हैं, इसके बारे में सटीक कुछ कहा नहीं जा सकता। इतिहासज्ञों एवं शोधकर्ताओं के लिये यह एक शोध का विषय है। जो भी हो यह छोटा सा ग्रन्थ अपने आपमें एक अभिनव ग्रन्थ है।

समस्त द्रव्य और पर्यायों की जानने की अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही समान हैं। अन्तर इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष रूप से जानता है और श्रुतज्ञान परोक्ष रूप से। अतएव श्रुतज्ञान की प्रमाणता असंदिग्ध है। स्वामी समन्तभद्र ने केवलज्ञान और स्याद्वादमय श्रुतज्ञान को समस्त पदार्थों का समान रूप से प्रकाशक माना है। दोनों में केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही अन्तर है।

श्रुत के मूल दो भेद हैं—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। आप्त के उपदेशरूप द्वादशांगवाणी को द्रव्यश्रुत और उससे होने वाले ज्ञान को भावश्रुत कहते हैं। ग्रन्थ रूप द्रव्यश्रुत के मूल दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंग बाह्य के १२ भेद हैं—(१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति (६) ज्ञात धर्म कथा (७) उपासकाध्यनांग (८) अन्तःकृद्दशांग (९) अनुत्तरोपपादिक (१०) प्रश्न व्याकरणांग (११) विपाक श्रुतांग (१२) दृष्टिवादांग। जैसे पुरुष के शरीर में दो पैर, दो जाँघ, दो उरु, दो हाथ, एक पीठ, एक उदर, एक छाती और एक मस्तक ये बारह अंग होते हैं। उसी प्रकार श्रुतज्ञान रूपी पुरुष के भी बारह अंग

होते हैं। सर्वज्ञ, वीतरागी, अर्हन्त तीर्थंकर के मुखारविन्द से सुना हुआ ज्ञान होने के कारण ही यह श्रुतज्ञान कहलाता है।

द्रव्यश्रुत के दूसरे भेद अंग बाह्य के चौदह भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प व्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और निषिद्धिका।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

श्रुतज्ञान के पद और अक्षर—

श्रुतज्ञान के असंयोगी समस्त वर्णों का प्रमाण चौसठ है। इनके निमित्त से जितने संयोगी अक्षर उत्पन्न होते हैं, उनमें असंयोगी वर्णों को मिला देने से श्रुतज्ञान के अक्षरों का प्रमाण होता है। इसका खुलासा इस प्रकार है—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ और औ ये नौ स्वर ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से सत्ताईस होते हैं। क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग और प वर्ग ये पच्चीस तथा य, र, ल, व, श, ष, स और ह ये आठ, इस प्रकार कुल मिलाकर तैंतीस व्यंजन होते हैं। तथा अं, अः, ᳵक और ᳶप ये चार योगवाह होते हैं। इस प्रकार सत्ताईस स्वर, तैंतीस व्यंजन और चार योगवाह सब मिलाकर चौसठ अक्षर होते हैं। इनके द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी आदि चौसठ संयोगी अक्षरों का प्रमाण निकालकर उसमें मूल चौसठ वर्णों को जोड़ देने से कुल द्रव्यश्रुत के अक्षरों का प्रमाण १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ होता है। संसार के किसी भी भाषा के अक्षर इससे बाहर नहीं होते।

अब श्रुत के पदों का प्रमाण लीजिए—पद के तीन भेद हैं—प्रमाण पद, अर्थ पद और मध्यम पद। जो आठ अक्षरों से बनता है उसे प्रमाण पद कहते हैं। जैसे—'धम्मो मंगलमुक्कट्ठं'। चार प्रमाण पदों का एक श्लोक होता है। इस प्रमाण पद के द्वारा सामायिक आदि अंग बाह्य ग्रन्थों के पदों की और श्लोकों की संख्या आँकी जाती है कि अमुक अंगबाह्य में इतने पद तथा इतने श्लोक हैं।

जितने अक्षरों से अर्थ का बोध होता है उतने अक्षरों के समुदाय को अर्थ पद कहते हैं। जैसे 'प्रमाण के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ के एक देश के निश्चय करने को नय कहते हैं।' इस वाक्य से नय का बोध होता है; इसलिये यह एक अर्थ पद है।

सोलह सौ चौतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी अक्षरों का एक मध्यम पद होता है। इस मध्यम पद के द्वारा अंग और

पूर्वों के पदों की संख्या का प्रमाण कहा जाता है। अर्थात् मध्यम पद के अक्षरों के द्वारा श्रुतज्ञान के सम्पूर्ण अक्षरों को भाजित करने पर सम्पूर्ण बारह अंगों के एक सौ बारह करोड़, तिरासी लाख, अट्ठावन हजार पाँच पद होते हैं। बारह अंगों में निबद्ध अक्षरों से आठ करोड़, एक लाख, आठ हजार एक सौ पचहत्तर अक्षर शेष बचते हैं। इन अक्षरों को बत्तीस से भाजित करने पर चौदह अंग बाह्य श्लोकों का प्रमाण पच्चीस लाख, तीन हजार तीन सौ अस्सी होता है।

परम पूज्य आर्यिकारत्न १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी एक परम विदुषी आर्यिका हैं। आचार्य शुभचन्द्र के इस छोटे से किन्तु महान् ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करके आपने अपनी विशिष्ट विद्वत्ता का परिचय दिया है। आपकी भाषा सरल, सुपाठ्य और मनोग्राही है तथा ग्रन्थकर्ता के मूल भावों को ज्यों का त्यों प्रकट करती है। मौलिक लेखन की तुलना में अनुवाद करना एक अत्यन्त कठिन और दुरूह कार्य है। परन्तु पूज्य सुपार्श्वमती माताजी ने इस कठिन कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करके अपने विशाल श्रुतज्ञान का परिचय तो दिया ही है साथ में जैन वाङ्मय की श्रीवृद्धि भी की है।

श्रुतपंचमी सं० २०४८
दि० १६-६-९१

कपूरचन्द पाटनी
एम. ए., एल. एल. बी.
गौहाटी

सिरिसुहचंदाइरिय विरइया

अंगपण्णत्ति

श्री शुभचन्द्राचार्य विरचित

अंग प्रज्ञप्ति

प्रथम अधिकार

द्वादशाङ्गप्रज्ञप्तिः

सिद्धं बुद्धं णिच्चं णाणभूसणं णमीय सुहयंदं ।
वोच्छे पुव्वपमाणमेगारहअंगसंजुत्तं ॥ १ ॥

सिद्धं बुद्धं नित्यं ज्ञानभूषणं नत्वा शुभचन्द्रम् ।
वक्ष्ये पूर्वप्रमाणमेकादशांगसंयुक्तम् ॥ १ ॥

ज्ञान के भूषण वा ज्ञान ही है भूषण जिनका ऐसे शुभभावों को वृद्धिगत करने वाले नित्य, बुद्ध स्वरूप सिद्धों को नमस्कार करके ग्यारह अंग सहित पूर्वगत प्रमाण को कहूँगा ॥१॥

विशेषार्थ

इस गाथा के पूर्वार्द्ध में इष्टदेव को नमस्कारपूर्वक मंगलाचरण और उत्तरार्द्ध में इस ग्रन्थ प्रतिपाद्य विषय के कहने की प्रतिज्ञा की है।

'सिद्ध'[1] शब्द का अर्थ कृत-कृत्य होता है, अर्थात् जिन्होंने अपने करने योग्य सर्व कार्यों को कर लिया है।

जिन्होंने अनादिकाल से बँधे हुए ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों को ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा भस्म कर दिया है ऐसे कर्म प्रपंच मुक्त जीवों को सिद्ध कहते हैं।

षिधु धातु गमनार्थक भी है, जिससे सिद्ध शब्द का अर्थ होता है, कि जो शिवलोक में पहुँच चुके हैं, वहाँ से लौटकर कभी नहीं आते।

---

१. सितं बद्धमष्ट प्रकारं कर्मेन्धनं ध्यातं दग्धं जाज्वल्यमान शुक्लध्यानानलेन यैस्ते सिद्धाः ।

जो केवलज्ञान के द्वारा सर्व पदार्थों को जानते हैं अथवा जो केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय सहित हैं उसको बुद्ध कहते हैं।

अपर्यवसान (जिसका कभी नाश नहीं होगा ऐसी) स्थिति वाले होने से वे सिद्ध नित्य हैं।

केवलज्ञानरूपी आभूषणों से भूषित (शोभित) होने से ज्ञानभूषण हैं। शुभ उपयोग को वृद्धिगत करने के लिए जो चन्द्रमा के समान हैं अतः शुभचन्द्र हैं। इस प्रकार शुभचन्द्र आचार्य ने सर्व प्रथम शास्त्र के प्रारम्भ में सिद्धों को नमस्कार करके मंगलाचरण किया है।

यह मंगल स्वरूप गाथा देशामर्षक होने से मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता इन छह अधिकारों का सकारण प्ररूपण करती है, क्योंकि आचार्य मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्त्ता का व्याख्यान करके ही शास्त्र का व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं। अतः शुभचन्द्र आचार्य ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में सिद्धों को नमस्कार रूप मंगलाचरण किया है।

मंगल—जो 'मं' अर्थात् पाप मल का प्रक्षालन करता है, विध्वंस करता है वह मंगल है। अथवा जो 'मंग' अर्थात् पुण्य को प्राप्त कराता है, आत्मा को पवित्र करता है अथवा जिन क्रियाओं से सुख की प्राप्ति होती है वह मंगल है।

"सिद्ध प्रभु की भक्ति से विघ्नों का समूह नष्ट होता है, आन्तरिक भक्ति से सिद्धों के गुणों में तन्मय होकर सिद्धों को नमस्कार करने से तत्सम्बन्धी पुण्य-बन्ध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती है।"[१] अतः शास्त्र के प्रारम्भ में, मध्य में और अन्त में मंगलाचरण अवश्य करना चाहिए। क्योंकि शास्त्र के प्रारम्भ में मंगलाचरण करने से शीघ्र विद्या का लाभ, मध्य में करने से निर्विघ्न शास्त्र की समाप्ति और अन्त में मंगलाचरण करने से विद्या का फल प्राप्त होता है अर्थात् अज्ञान का नाश होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर शुभचन्द्राचार्य ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगल के लिए सिद्ध प्रभु को अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित करके उनकी अभिवन्दना की है।

इस गाथा में 'वोच्छे' यह उत्तम पुरुष की एक वचन की क्रिया है। जिसमें 'अहं' शब्द गर्भित है। उस (अहं) शब्द से शुभचन्द्र आचार्य आराधक और सिद्ध भगवान् आराध्य इस प्रकार द्वैतनमस्कार भी किया है।

१. जयधवला, पु० १।

इस प्रकार शुभचन्द्र आचार्य देव ने सर्व प्रथम ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण निमित्त सिद्ध प्रभु को नमस्कार किया है।

निमित्त—इस ग्रन्थ का मुख्य निमित्त है भव्य जीवों का कल्याण तथा अपने परिणामों की विशुद्धि। भव्य जीवों के कल्याण से प्रेरित होकर वा अपने परिणामों की विशुद्धि के लिए आचार्य देव ने इस ग्रन्थ की रचना की है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी

हेतु—हेतु का दूसरा नाम है फल। वह फल दो प्रकार का है–प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रत्यक्ष फल के भी दो भेद हैं—साक्षात् और परम्परा। इस ग्रन्थ के पढ़ने का साक्षात् फल है अज्ञान नाश, सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति और असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा।

परम्परा प्रत्यक्ष फल है, शिष्य-प्रति शिष्यों के द्वारा पूजा, प्रशंसा, स्तुति आदि की प्राप्ति तथा शिष्यों की प्राप्ति।

परोक्ष फल भी दो प्रकार का है–एक सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति और दूसरा फल है मोक्ष का लाभ।

परिमाण—परिमाण दो प्रकार का है ग्रन्थ परिमाण और अर्थ परिमाण। ग्रन्थ परिमाण है—इस ग्रन्थ की गाथा संख्या २४८ तथा अर्थ परिमाण तो इस ग्रन्थ का अनन्त वा असीम है जिसका कथन करने के लिए छद्मस्थ की जिह्वा समर्थ नहीं है। अथवा इसका प्रतिपाद्य विषय है ग्यारह अंग सहित चौदह पूर्व तथा चौदह प्रकीर्णक है।

नाम—नाम भी दो प्रकार के होते हैं अन्वयार्थ और इच्छित। जैसा नाम हो वैसा ही उस शब्द का अर्थ हो वह अन्वयार्थक या सार्थक नाम है जैसे पद्मपुराण–पद्म अर्थात् बलभद्र (राम) उनका पुराण (चरित्र) जिस ग्रन्थ में हो वह ग्रन्थ पद्मपुराण कहलाता है। इस ग्रन्थ का नाम है 'अंग पण्णत्ति' (अंग प्रज्ञप्ति) अंगों का वर्णन होने से यह सार्थक नाम है।

कर्त्ता—'वोच्छे' क्रिया का कर्त्ता प्रथम पुरुष का एकवचन है। यह कर्त्ता (शुभचन्द्र) का द्योतक है। तथा गाथा में 'सुइचंद' इ शब्द से भी ग्रन्थ कर्त्ता का नाम सिद्ध होता है जैसे—गोम्मट्टसार में 'णेमिचंद' इस शब्द से नेमिचन्द्र ग्रन्थ कर्ता का नाम सूचित होता है।

कर्त्ता का नामोल्लेख करना इसलिए जरूरी है कि कर्त्ता की प्रमाणता से ही उसके वचनों में प्रमाणता आती है।

आचार्य शुभचन्द्र ने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ के पूर्व निर्विघ्न समाप्ति, नास्तिकता का परिहार, शिष्टाचार का परिपालन और उपकार स्मरण इन चार प्रयोजनों से इष्टदेव को नमस्कार करके इस ग्रन्थ में गाथा के उत्तरार्द्ध में "पुव्वपमाणमेगारहअंगसंजुत्तं" इस पद्य से इस ग्रन्थ में जो कुछ वक्तव्य है उसके कथन करने की प्रतिज्ञा की है।

पर्याय, पर्याय समास, अक्षर, अक्षर समास, पद, पद समास, संघात, संघात समास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिक समास, अनुयोग, अनुयोग समास, प्राभृत-प्राभृत, प्राभृत-प्राभृत समास, प्राभृत, प्राभृत समास, वस्तु, वस्तु-समास, पूर्व, पूर्व समास इस प्रकार श्रुतज्ञान के २० भेद हैं।

सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक के जो सबसे जघन्य ज्ञान होता है उसको पर्यायज्ञान कहते हैं। इसका दूसरा नाम लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान है। जब सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव छह हजार बारह क्षुद्र भव धारण कर अन्त में अपर्याप्त शरीर को तीन मोड़ाओं के द्वारा ग्रहण कर उत्पन्न होता है, उस समय उसके स्पर्शन इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है। लब्धि का अर्थ श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है और अक्षर का अर्थ है अविनश्वर। इसलिए इस ज्ञान को लब्ध्यक्षर कहते हैं, क्योंकि इस क्षयोपशम का कभी भी विनाश नहीं होता। कम से कम इतना क्षयोपशम तो जीव के रहता ही है। किसी-किसी ग्रन्थ में पर्यायज्ञान से कुछ अधिक ज्ञान को भी लब्ध्यक्षर ज्ञान कहते हैं।

यह जघन्य पर्यायज्ञान भी अगुरुलघुगुण के अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा अष्टांक (अनन्त गुणवृद्धि) प्रमाण होता है।[1]

सर्व जघन्य पर्यायज्ञान के ऊपर क्रम से अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्त गुणवृद्धि रूप छह वृद्धि होती है। सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का जितना प्रमाण है उतनी बार अनन्त भागवृद्धि हो जाने पर एक बार असंख्यात भागवृद्धि होती है, इसके अनन्तर पुनः सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का जितना प्रमाण है, उतनी बार अनन्त भागवृद्धि होने पर फिर एक बार असंख्यात भागवृद्धि होती है। इसी क्रम से असंख्यात भागवृद्धि भी जब सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण बार हो जाय तब सूच्यंगुल के

---

१. अनन्तभागवृद्धि को उर्वांक, असंख्यातभागवृद्धि को चतुरंक, संख्यातभागवृद्धि को पंचांक, संख्यातगुणवृद्धि को षडंक, असंख्यातगुणवृद्धि को सप्तांक और अनन्तगुणवृद्धि को अष्टांक कहते हैं।

असंख्यातवें भाग प्रमाण अनन्त भागवृद्धि होने पर एक बार संख्यात भाग-वृद्धि होती है। इस प्रकार अन्त की वृद्धि पर्यन्त जानना चाहिए।[1] इस प्रकार अनक्षरात्मक जघन्य पर्यायज्ञान के ऊपर असंख्यात लोक-प्रमाण षट् स्थान होते हैं। ये सब पर्याय समास ज्ञान के भेद हैं।

असंख्यात-लोक प्रमाण षट् स्थानों में अन्त के षट् स्थान की अन्तिम उर्वंक (अनन्त भाग) वृद्धि से युक्त उत्कृष्ट पर्याय समास ज्ञान से अनन्त-गुणा अर्थाक्षर ज्ञान होता है। यह अर्थाक्षर सम्पूर्ण श्रुतज्ञान रूप है। इसमें एक कम एकट्ठी का भाग देने से जो लब्ध आता है उतना ही अर्थाक्षर ज्ञान का प्रमाण होता है।

जो केवल केवलज्ञान के द्वारा जाने जा सकते हैं किन्तु जिनका वचन के द्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता ऐसे पदार्थ अनन्तानन्त हैं। इस प्रकार के पदार्थों में अनन्तवें भाग प्रमाण वे पदार्थ हैं कि जिनका वचन के द्वारा निरूपण हो सकता है उनको प्रज्ञापनीय भाव कहते हैं। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उनका भी अनन्तवां भाग श्रुताक्षर में निरूपित है।

अक्षर ज्ञान के ऊपर क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब संख्यात अक्षरों की वृद्धि हो जाती है तब पद नामक श्रुतज्ञान होता है। अक्षर ज्ञान के ऊपर और पद ज्ञान के पूर्व तक जितने ज्ञान के विकल्प हैं, वे सब अक्षर समास ज्ञान के भेद हैं।

पद ज्ञान के भेद और लक्षण

तिविहं पयं जिणेहिमत्थपयं खलु पमाणपयमुत्तं।
तदियं मज्झपयं हु तत्थत्थपयं परूवेमो ॥ २ ॥

त्रिविधं पदं जिनैरर्थपदं खलु प्रमाणपदमुक्तम्।
तृतीयं मध्यपदं हि तत्रार्थपदं प्ररूपयामः ॥ २ ॥

जाणादि अत्थं सत्थं अक्खरबूहेण जेत्तियेणेव।
अत्थपयं तं जाणह घडमाणय सिग्घमिच्चादि ॥ ३ ॥

जानाति अर्थं सार्थं अक्षरव्यूहेन यावतैव।
अर्थपदं तज्जानीहि घटमानय शीघ्रमित्यादि ॥ ३ ॥

---

१ इनका विशेष वर्णन गोमट्टसार आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए। विस्तार के

छंदपमाणपबद्धं पमाणपयमेत्थ मुणह जं तं खु ।
मज्झपयं जं आगमभणियं तं सुणह भवियजणा ।। ४ ।।

छंदः प्रमाणप्रबद्धं प्रमाणपदमत्र जानीहि यत्तत् खलु ।
मध्यपदं यदागमभणितं तच्छृणुत भव्यजनाः ।। ४ ।।

जिनेन्द्र भगवान् ने अर्थ पद, प्रमाण पद और मध्यम पद के भेद से पद तीन प्रकार का कहा है। उसमें से सर्व प्रथम अर्थ पद की प्ररूपणा करते हैं ।। २ ।।

जितने अक्षरों के समूह द्वारा अर्थ का समूह जाना जाता है, उसको अर्थ पद कहते हैं। "जैसे तुम शीघ्र ही घट को लाओ" इत्यादि। अर्थात् "रस्सी से बांधो", "अग्नि को लाओ", घर पर मत जाओ इत्यादि। अनियत अक्षरों के समूह रूप किसी अर्थ विशेषक बोधक वाक्य को अर्थ पद कहते हैं ।। ३ ।।

प्रमाण पद का लक्षण—छन्द प्रमाण से प्रबद्ध अक्षरों के समूह को यहाँ प्रमाण पद जानो। अर्थात् आठ, दश, तेरह, चौदह, सत्रह आदि अक्षर वाले पदों के छन्द के लक्षण के अनुसार नियत संख्या में अक्षरों का प्रमाण प्रमाण पद है। जैसे अनुष्टुप छन्द के पाद आठ अक्षर का होता है—"नमः श्री वर्द्धमानाय"। वसन्ततिलका छन्द में १४ अक्षर होते हैं—"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौगः"। शिखरिणी छन्द में १७ अक्षर होते हैं—"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी"। वंशस्थ छन्द में १२ अक्षर होते हैं—"जतौ तु वंशस्थमुदीरितं……" इत्यादि छन्दोबद्ध पद को प्रमाण पद कहते हैं।

हे भव्य जीवो ! आगे की गाथा में आगम कथित मध्यम पद के लक्षण को तथा उसमें स्थित अक्षरों के प्रमाण को कहते हैं उसको सुनो ।। ४ ।।

मध्यम पद में स्थित अक्षरों का प्रमाण

सोलससयचोतीसा कोडो तियसीदिलक्खयं जत्थ ।
सत्तसहस्सट्ठसयाऽडसीदऽपुणरुत्तपदवण्णा ।। ५ ।।

षोडशशतचतुस्त्रिंशत्कोट्यः त्र्यशीतिलक्षाणि यत्र ।
सप्तसहस्राणि अष्टशतान्यष्टाशीतिरपुनरुक्तपदवर्णाः ।।

मध्यम पद के सोलहसौ चौंतीस कोटि तिरासी लाख सात हजार

आठसौ अट्ठासी (१६३४, ८३० ७८ ८८) अपुनरुक्त अक्षर हैं। अर्थात् यह मध्यम पद के अक्षरों की संख्या है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ

इस गाथामें कथित पद के अक्षरों का प्रमाण सर्वदा के लिए निश्चित है। अतः इसी को मध्यम पद कहते हैं। परमागम में द्रव्यश्रुत का ज्ञान कराने के लिए जहाँ पदों का प्रमाण बताया गया है, वहाँ यह मध्यम पद ही समझना चाहिए। शेष अर्थ पद और प्रमाणपद लोक व्यवहार के अनुसार होते हैं।

संघात श्रुतज्ञान का लक्षण तथा उसके द्वारा प्रज्ञापनीय विषय और प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान का स्वरूप—

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संखसहस्सपयेहिं संघादसुदं णिरूवियं जाण।
इगिदरगदीणां रम्मं तं संखेज्जेहिं पडिवत्ती ॥ ६ ॥

संख्यातसहस्रपदैः संघातश्रुतं निरूपितं जानीहि।
एकतरगतीनां रम्यं तत्संख्यातैः प्रतिपत्तिः ॥

एक पद के आगे क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते संख्यात हजार पदों की वृद्धि हो जाय, तब संघात नामक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है। अर्थात् संख्यात हजार पदों के समूह को संघात श्रुतज्ञान कहते हैं। यह संघात नामक श्रुतज्ञान चारगति में से एक गति के स्वरूप का रमणीय निरूपण करता है। संख्यात संघातों के समूह को प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान कहते हैं। अर्थात्—चारगति में से किसी एक गति का निरूपण करने वाले संघात श्रुतज्ञान के ऊपर क्रमशः एक-एक अक्षर की तथा पदों और संघातों की वृद्धि होते-होते जब संख्यात संघात की वृद्धि हो जाती है, तब एक प्रतिपत्तिक नामक श्रुतज्ञान होता है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ

इस गाथा में संख्यात हजार नहीं है परन्तु जीव प्रबोधिनी टीका में संख्यात हजार संघात की वृद्धि को एक प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान कहा है।

एक पद के ऊपर और संघात नाम के ज्ञान के पूर्व जितने ज्ञान के भेद हैं वे सब पद समास के भेद हैं। संघात और प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान के मध्य में जितने श्रुतज्ञान के विकल्प हैं वे सब संघात समास ज्ञान के भेद हैं।

प्रतिपत्ति ज्ञान का विषय तथा अनुयोग का लक्षण और उसका विषय—

चउगइसरूवरूवयपडिसंखदेहिं अणियोगं ।
चोद्दसमग्गणसण्णाभेयविसेसेहिं संजुत्तं ॥ ७ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चतुर्गतिस्वरूपरूपकप्रतिपत्तिसंख्यातैरनुयोगम् ।
चतुर्दशमार्गणासंज्ञाभेदविशेषैः संयुक्तं ॥

प्रतिपत्ति ज्ञान चारों गतियों के स्वरूप का वर्णन करता है। चारों गतियों के स्वरूप का निरूपण करने वाले प्रतिपत्ति ज्ञान के ऊपर संख्यात प्रतिपत्ति की वृद्धि होने पर अनुयोग नामक श्रुतज्ञान होता है। तथा यह चौदह मार्गणा सहित ज्ञान के भेद विशेष रूप से संयुक्त है ॥ ७ ॥

विशेषार्थ

चारों गतियों के स्वरूप का निरूपण करने वाले प्रतिपत्ति ज्ञान के ऊपर क्रमशः पूर्व के समान एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्ति की वृद्धि हो जाय, तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। अनुयोग ज्ञान के पूर्व तथा प्रतिपत्ति ज्ञान के ऊपर सम्पूर्ण प्रतिपत्ति समास ज्ञान के भेद हैं। अन्तिम प्रतिपत्ति समास ज्ञान के भेद में एक अक्षर की वृद्धि होने से अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। इस अनुयोग ज्ञान के द्वारा चौदह मार्गणाओं का विस्तृत स्वरूप जाना जाता है।

प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञान का लक्षण और प्राभृत श्रुतज्ञान का स्वरूप तथा प्राभृत में होने वाले प्राभृत-प्राभृतों की संख्या का कथन—

चउरादीअणियोगे पाहुडपाहुडसुदं सया होदि ।
चउवीसे तम्हि हवे पाहुडयं वत्थुअहियारे ॥ ८ ॥

चतुराद्यनुयोगे प्राभृतप्राभृतश्रुतं सदा भवति ।
चतुर्विंशतौ तस्मिन् भवेत् प्राभृतं वस्तुत्वधिकारे ॥

चार आदि अनुयोग का एक प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। और चौवीस प्राभृत-प्राभृत का वस्तु अधिकार में एक प्राभृत होता है। अर्थात् वस्तु के एक अधिकार का नाम प्राभृत है ॥ ८ ॥

विशेषार्थ

चौदह मार्गणाओं का निरूपण करने वाले अनुयोग ज्ञान के ऊपर क्रमशः एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब चतुरादि (चार) अनुयोग

की वृद्धि हो जाती है तब प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है। अनुयोग और प्राभृत-प्राभृत ज्ञान के मध्य में जितने विकल्प हैं वे सब अनुयोग समास ज्ञान कहलाते हैं।

प्राभृत और अधिकार ये दोनों शब्द एकार्थवाची हैं। अतएव प्राभृत के अधिकार को प्राभृत-प्राभृत कहते हैं। अर्थात् वस्तु नाम श्रुतज्ञान के एक अधिकार को प्राभृत और अधिकार के अधिकार को प्राभृत-प्राभृत कहते हैं। अथवा चौबीस प्राभृत-प्राभृत के समूह को प्राभृत श्रुतज्ञान कहते हैं। अर्थात् प्राभृत-प्राभृत ज्ञान के ऊपर क्रमशः एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब चौबीस प्राभृत-प्राभृत की वृद्धि हो जाती है तब एक प्राभृतक नाम श्रुतज्ञान होता है। प्राभृत श्रुतज्ञान के पूर्व और प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञान के ऊपर जितने ज्ञान के विकल्प हैं वे सब ही प्राभृत-प्राभृत समास के भेद हैं।

प्राभृत अधिकार में वस्तु अधिकार और सम्पूर्ण चौदह पूर्व के वस्तु श्रुतज्ञान की संख्याओं का वर्णन—

वीसं वीसं पाहुडअहियारे एकवत्थु अहियारो।
तहिं दस चोद्दस अट्ठट्ठारसयं वार वारं च ॥ ९ ॥

विंशती विंशती प्राभृताधिकार एक वस्त्वधिकारः।
तत्र दश चतुर्दश अष्ट अष्टादश द्वादश-द्वादश च ॥

बीस-बीस प्राभृत अधिकार में एक वस्तु अधिकार होता है। इस गाथा में "वीसं वीसं" ऐसा दो वचन दिया है। इससे ऐसा समझना चाहिए कि एक-एक वस्तु अधिकार में बीस-बीस प्राभृत होते हैं और एक-एक प्राभृत में चौबीस-चौबीस प्राभृत-प्राभृत होते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त क्रमानुसार प्राभृत ज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब बीस प्राभृत की वृद्धि हो जाती है तब एक वस्तु अधिकार पूर्ण होता है। वस्तु ज्ञान के पूर्व और प्राभृत ज्ञान के ऊपर जितने विकल्प हैं वे सब प्राभृत समास ज्ञान के भेद हैं ॥ ९ ॥

सोलं च वीस तीसं पण्णारसयं च चउसु दस वत्थू।
एदेहि वत्थुएहिं चउद्दसपुव्वा हवंति पुणो ॥ १० ॥

षोडश च विंशति त्रिंशत् पंचदश च चतुर्षु दश वस्तूनि।
एतैः वस्तुभिः चतुर्दशपूर्वाणि भवन्ति पुनः ॥

उनमें दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस,

पन्द्रह और चार स्थान में दश-दश वस्तु है। इन सम्पूर्ण वस्तुओं के द्वारा चौदह पूर्व पूर्ण होते हैं ॥ १० ॥

विशेषार्थ

पूर्व ज्ञान के चौदह भेद हैं, जिनमें से प्रत्येक में क्रम से दश-चौदह, आठ-अठारह, बारह-बारह, सोलह बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश वस्तु नाम अधिकार है। जैसे उत्पाद पूर्व में दश वस्तु अधिकार हैं। आग्रायणीय पूर्व में चौदह वस्तु अधिकार हैं इत्यादि। पूर्व ज्ञान के पूर्व अर्थात् जब तक पूर्व ज्ञान पूर्ण न हो और वस्तु अधिकार पर एक अक्षर की वृद्धि हो जाती है वे सब मध्यम विकल्प वस्तु समास कहलाते हैं। अर्थात् वस्तु ज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर को वृद्धि के क्रम से पद संघात की वृद्धि होते-होते जब क्रमशः दश वस्तु की वृद्धि हो जाती है तब प्रथम उत्पादपूर्व उत्पन्न होता है। इसके आगे क्रमशः अक्षर पद संघात आदि की वृद्धि होते-होते चौदह वस्तु की वृद्धि हो जाती है तब दूसरा आग्राणीय पूर्व होता है। इसी प्रकार सर्व पूर्व जानना चाहिये।

पणणउदिसया वत्थू णवयसया तिसहस्सपाहुडया ।
चउदश पुव्वे सव्वे हवंति मिलिदा य ते तम्हि ॥ ११ ॥

पंचनवतिशतानि वस्तूनि नवकशतानि त्रिसहस्रप्राभृतानि ।
चतुर्दश पूर्वाणि सर्वाणि भवन्ति मिलितानि च तानि तत्र ॥

वत्थू १९५ वत्थू एकं प्रति पाहुड २०। पाहुड संख्या ३९००, पाहुड एकं प्रति पाहुड (पाहुड) २४ जात अनुयोगसंख्या २२, ४६, ४०० अनुयोगे पाहुड संख्या।

चौदह पूर्व के सारी वस्तु और उनके अधिकार भूत सारे प्राभृतों की जोड़ का प्रमाण तथा अनुयोग आदि की संख्याओं का कथन इन चौदह पूर्वों के सम्पूर्ण वस्तुओं का संकलन (जोड़) एक सौ पंचानबे होता है और सम्पूर्ण पाहुड (प्राभृत) ओं का प्रमाण तीन हजार नौ सौ होते हैं क्योंकि एक-एक वस्तु में बीस बीस प्राभृत होते हैं। अतः सर्व प्राभृतों का प्रमाण तीन हजार नौ सौ होता है।

एक-एक पाहुड (प्राभृत) में चौबीस प्राभृत-प्राभृत होते हैं, अतः तीन हजार नौ सौ से गुणा करने पर तिरानबे हजार छह सौ भेद होते हैं। अर्थात् प्राभृत-प्राभृत की संख्या तिरानबे हजार छह सौ होती है। एक-एक प्राभृत-प्राभृत में चौबीस अनुयोग द्वार होते हैं। अर्थात् तिरानबे हजार

छह सौ प्राभृत-प्राभृत को चौबीस के द्वारा गुणा करने पर बाईस लाख छियालीस हज़ार चार सौ अनुयोग द्वार संख्या उत्पन्न होती है ॥ ११ ॥

द्वादशांग के समस्त पदों की संख्या का कथन

सयकोडी बारुत्तर तेसीदीलक्खमंगगंथाणं ।
अट्ठावण्णसहस्सा पयाणि पंचेव जिणदिट्ठं ॥ १२ ॥

शतकोटिः द्वादशोत्तरा त्र्यशीतिलक्षाण्यङ्गग्रंथानां ।
अष्टापंचाशत्सहस्राणि पदानि पञ्चैव जिनदृष्टानि ॥

द्वादशाङ्गश्रुतपदानां संख्या ११२, ८३, ५८, ००, ५ ।

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा दृष्ट (कथित) द्वादशांग के सर्व पद एक सौ बारह करोड़ तिरासी (त्र्यासी) लाख अट्ठावन हज़ार पाँच होते हैं ॥ १२ ॥

सर्व द्वादशांग श्रुत के पदों की संख्या (११२, ८३, ५८, ००, ५) है ।

अंग बाह्य अक्षरों के प्रमाण का कथन

पण्णत्तरि वण्णाणं सयं सहस्साणि होदि अट्ठेव ।
इगिलक्खमट्ठकोडि पइण्णयाणं पमाणं हु ॥ १३ ॥

पञ्चसप्ततिः वर्णानां शतं सहस्राणि भवंति अष्टैव ।
एकलक्षं अष्टकोट्यः प्रकीर्णकानां प्रमाणं हि ॥

अंगबाह्यश्रुताक्षरसंख्या ८, ०१, ०८, १७५ ।

आठ करोड़ एक लाख आठ हज़ार एक सौ पचहत्तर (८, ०१, ०८, १७५) प्रकीर्णक अंग बाह्य श्रुत के अक्षरों की संख्या है ॥ १३ ॥

सर्व श्रुत के अक्षर संख्या के प्रमाण का वर्णन

पणदस सोलस पण पण णव णभ सग तिण्णि[1] चेव सगं[2] ।
[3]सुण्णं चउचउसगछचउचउअट्ठेक्कसव्व[4] सुदवण्णा ॥ १४ ॥

पंचदश षोडश पंच-पंच नव नभः सप्त त्रीणि चैव सप्त ।
शून्यं चतुःचतुःसप्तषट्चतुःचतुरष्टैकसर्वश्रुतवर्णाः ॥
१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५

---

१. तिणि पुस्तके पाठः ।
२. सग इति पाठः पुस्तके ।
३. सुणं पुस्तके पाठः ।
४. सव इति पाठः पुस्तके ।

पन्द्रह, सोलह, पाँच, पाँच नौ शून्य सात तीन सात शून्य चार-चार आठ और एक सारे श्रुत के अक्षर हैं ॥ १४ ॥

'अंकानां वामनो गतिः' 'अंकों की विपरीत गति होती है' इस नियम के अनुसार १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इतने अंग बाह्य और प्रविष्ट श्रुत के समस्त अपुनरुक्त अक्षर हैं। अर्थात् एक कम एक ही प्रमाण वा बीस अंक प्रमाण सारे श्रुत के अक्षरों की संख्या है। यह अपुनरुक्त अक्षर हैं। पुनरुक्त अक्षरों की संख्या का नियम नहीं है।

प्रथम आचाराङ्ग का कथन

आयारं पढमंगं तत्थट्ठारससहस्सपयमेतं ।
यत्थायरंति भव्वा मोक्खपहं तेण तं णाम ॥ १५ ॥

आचारं प्रथमांगं तत्राष्टादशसहस्रपदमात्रं ।
यत्राचरन्ति भव्या मोक्षपथं तेन तन्नाम ॥

प्रथम अङ्ग आचारांग है—उसके अठारह हजार पद हैं। जिसमें भव्य जीव मोक्षमार्ग का आचरण करते हैं, आराधना करते हैं, अतः इस अङ्ग को आचारांग कहते हैं। 'आचरन्ति-मोक्ष-मार्गमाराधयन्ति अस्मिन्ननेनेति वा आचारः' जिसके द्वारा वा जिसमें मोक्षमार्ग की आराधना करते हैं, मोक्ष-मार्ग का आचरण करते हैं वह आचार कहलाता है, उस मोक्षमार्ग के आचार (आचरण) चारित्र का जो अङ्ग है, कारण है, प्ररूपक है वह आचारांग कहलाता है अतः आचारांग यह सार्थक नाम है ॥ १५ ॥

आचारांग का प्ररूपण

कहं चरे कहं तिट्ठे कहमासे कहं सये ।
कहं भासे कहं भुंजे कहं पावं ण बंधइ ॥ १६ ॥

कथं चरेत् कथं तिष्ठेत् कथमासीत कथं शयीत ।
कथं भाषेत कथं भुंजीत कथं पापं न बध्यते ॥ १६ ॥

जदं चरे जदं तिट्ठे जदमासे जदं सये ।
जदं भासे जदं भुंजे एवं पावं ण बंधइ ॥ १७ ॥

यतं चरेत् यतं तिष्ठेत् यतं आसीत यतं शयीत ।
यतं भाषेत यतं भुंजीत एवं पापं न बध्यते ॥ १७ ॥

प्रथम आचारांग में "किस तरह आचरण करे ? खड़े किस प्रकार होवे ? बैठे कैसे ? किस तरह शयन करे ? किस तरह भाषण (वार्तालाप)

करे ? किस तरह भोजन करे ? जिससे पाप का बन्ध न हो। अर्थात् गमन, शयन, अशन, वार्तालाप आदि जितनी भी मन-वचन काय की क्रिया (चेष्टा) हैं, उनको किस प्रकार करें जिससे पाप कर्मों का आश्रव नहीं होता है ?" इत्यादि प्रश्नों के अनुसार यत्नपूर्वक आचरण करे, यत्नपूर्वक खड़े होना, यत्नपूर्वक बैठना, यत्नपूर्वक (प्रमाद को छोड़कर सावधानी-पूर्वक) शयन करना, यत्नपूर्वक भाषण (हित, मित, प्रिय, वचन बोलना) करना, यत्नपूर्वक भोजन करना, इससे पाप का बन्ध नहीं होता।" अर्थात् किसी भी क्रियाओं को सावधानीपूर्वक, प्रमाद रहित होकर करने से पाप का बन्ध नहीं होता है। इत्यादि उत्तर रूप वाक्यों के द्वारा मुनिराजों के सारे आचरण का वर्णन है ॥ १६-१७ ॥

जिसमें मुनि धर्म का निरूपण है उसको आचारांग कहते हैं। किस प्रकार मुनि धर्म का पालन किया जाता है। मुनिराजों की क्रिया कैसी होनी चाहिये आदि का कथन करने वाला आचारांग है।

मुनिराजों के २८ मूल गुणों का वर्णन—

महव्वयाणि पंचेव समिदीओक्खरोहणं।
लोओ आवसयाछक्कमवच्छण्हभूसया ॥ १८ ॥

महाव्रतानि पंचैव समितयोऽक्षरोधनं।
लोच आवश्यक षट्कं अवस्त्रस्नानभूशयनानि ॥

अदंतवणमेगभत्ती ठिदिभोयणमेव हि।
यदीणं यं समायारं वित्थरेवं परूवए ॥ १९ ॥

अदन्तमैकभक्ते स्थितिभोजनमेव हि।
यतीनां यं समाचारं विस्तारेणैव प्ररूपयेत् ॥

आचाराङ्गस्य पदानि १८००० । आचाराङ्गस्य श्लोक संख्या ९१९-५९२ ३११८७००० । आचाराङ्गस्य अक्षर संख्या २९९२६९९५४१ ९८४००० इति ।

पंच महाव्रत, पंच समिति, पंचेन्द्रिय निरोध, लोंच, छह आवश्यक, अचेलकत्व, स्नान त्याग, भूमि शयन, अदन्तवन (दंतौन नहीं करना) एकभुक्ति, स्थिति भोजन, इत्यादि यति जनों के समाचार विधि का आचारांग विस्तार पूर्वक वर्णन करता है ॥ १८-१९ ॥

विशेषार्थ

अहिंसा महाव्रत—जीवन पर्यन्त, त्रस, स्थावर जीवों का मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से विघात करना रूप द्रव्य हिंसा और राग द्वेषमय भाव हिंसा करने का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है।

सत्य महाव्रत—मन से सत्य सोचना, वाणी से सत्य बोलना और काय से सत्य आचरण करना तथा कर्कश, सावद्य वचनों के उच्चारण का त्याग करना सत्य महाव्रत हैं।

अचौर्य महाव्रत—चेतन (गाय भैंस आदि) अचेतन (घर, सोना, चाँदी आदि) चेतनाचेतन (वस्त्राभूषण पहने हुए स्त्री आदि) किसी भी वस्तु को स्वामी की आज्ञा बिना ग्रहण नहीं करना अचौर्य महाव्रत है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—काम वृत्ति और वासना का नियमन करके चेतन अचेतन सर्व स्त्री मात्र के प्रति रागोद्रेक का त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

अपरिग्रह महाव्रत—१० प्रकार के बाह्य और १४ प्रकार के अन्तरंग परिग्रह का त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है।

गुरुओं के भी गुरु महान् पुरुष जिनकी साधना करते हैं, जिनका पालन करते हैं, इसलिए इनको महाव्रत कहते हैं।

सम–प्रमाद रहित, इति–प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। संसारी प्राणी की प्रवृत्ति पाँच प्रकार की होती है–चलना, बोलना, खाना (भोजन करना), रखना, उठाना और मल-मूत्र का त्याग करना। संसार के सारे कार्य इन पाँच में गर्भित हो जाते हैं। इन पाँचों विषय में प्रमाद रहित होकर कार्य करना ही पंच समिति है।

ईर्या समिति—जीवों की रक्षा के लिए तथा हिंसा पाप से बचने के लिए सावधानी के साथ चार हाथ आगे की भूमि देखते चलना।

भाषा समिति—प्रमाद रहित होकर हित, मित, प्रिय वचन बोलना।

एषणा समिति—उद्गमादि छ्यालीस दोष टालकर उच्चकुल श्रावक के घर शुद्ध आहार करना।

आदाननिक्षेपण समिति—प्रमाद रहित होकर देखभाल कर निर्जन्तु स्थान में पीछी-कमण्डलु, शास्त्र आदि को रखना-उठाना।

व्युत्सर्ग समिति—सावधानीपूर्वक जीव रहित स्थान पर मल-मूत्रादि शरीर के मल को छोड़ना।

जो मुनिजनों के अवश्य करने योग्य कार्य होते हैं वे आवश्यक कहलाते हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

प्रतिक्रमण—व्रतों में लगे हुए दोषों का निराकरण करने के लिए प्रतिक्रमण दण्डकों को पढ़ना "मेरे पाप मिथ्या होवो" ऐसा उच्चारण करना।

प्रत्याख्यान—भविष्य काल में होने वाले पापों का त्याग करना तथा विषय वासनाओं में दौड़ती हुई इच्छाओं का निरोध करना।

समता—राग-द्वेष मय विचारों से चित्त-वृत्ति को पृथक् करके मध्यस्थ भाव से रहना वा आर्त-रौद्रध्यान को छोड़कर धर्म एवं शुक्लध्यान में लीन होना।

स्तवन—चतुर्विंशति तीर्थंकरों के गुणों का कीर्तन करना।

वन्दना—पूजनीय पुरुषों के प्रति मन, वचन, काय के द्वारा आदर प्रगट करना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना वा एक तीर्थंकर के गुणों का कीर्तन करना।

कायोत्सर्ग—शरीर सम्बन्धी ममत्व को हटाकर एक चित्त से ध्यान करना अथवा नव देवताओं के गुणों का स्मरण करना।

कछुए के समान अपनी इन्द्रियों को विषयों से रोक लेना अथवा अमनोज्ञ (अप्रिय) मनोज्ञ (प्रिय) सचेतन, अचेतन पदार्थों में राग-द्वेष नहीं करना पञ्चेन्द्रिय निरोध है।

स्नान नहीं करना, वस्त्रादिक का त्याग कर अचेलकत्व (नग्नत्व) धारण करना, हाथों से केशों को उखाड़ना। दिन में एक बार भोजन करना, खड़े होकर करपात्र में भोजन करना, जीवों की रक्षा करने के लिए दन्तौन नहीं करना। निर्जन भूमि पर या फलकासन पर शयन करना। ये मुनिराजों के अट्ठाईस मूलगुण हैं तथा चौरासी लाख उत्तरगुण हैं। इन मूलगुण और चौरासी लाख उत्तरगुण दैवसिक, रात्रिक क्रियाओं का वर्णन करने वाला आचारांग है।

इस आचारांग के अठारह हजार पद (१८०००) हैं। इसकी श्लोक

२९९२६९५४१९८४००० (उनत्तीस नील बानवे अरब उनहत्तर खरब चौवन करोड़ उन्नीस लाख चौरासी हजार है) ।

॥ इस प्रकार आचारांग का कथन समाप्त हुआ ॥

सूत्रकृतांग का कथन

सूदयडं विदियंगं छत्तीससहस्सपयपमाणं खु ।
सूचयदि सुत्तत्थं संखेवा तस्स[1] करणं तं ॥ २० ॥

सूत्रकृत् द्वितीयाङ्गं षट्त्रिंशत्सहस्रपदप्रमाणं खलु ।
सूचयति सूत्रार्थं संक्षेपेण तस्य करणं तत् ॥

सूत्र कृतांग नामक द्वितीयांग छत्तीस हजार पद प्रमाण है। उस सूत्र का वा सूत्र के द्वारा कृत करण सूत्रकृत कहलाता है। अर्थात् यह द्वितीय सूत्रकृतांग छत्तीस हजार पदों के द्वारा सूत्रार्थ का संक्षेप से, वर्णन करता है ॥ २० ॥

इसका संक्षेप से प्रतिपाद्य विषय—

णाणविणयादिविग्घातीदाझयणादिसव्वसक्किरिया ।
पण्णायणा (य) सुकथा कप्पं ववहारविसकिरिया ॥ २१ ॥

ज्ञानविनयादिविघ्नातीतस्वाध्यायादिसर्वसत्क्रिया ।
प्रज्ञापना च सुकथा कल्प्यं व्यवहारवृषक्रिया ॥

छेदोवट्ठावणं जइण समयं[2] यं परूवदि ।
परस्स समयं जत्थ किरियाभेया अणेयसे ॥ २२ ॥

छेदोपस्थापनं यतीनां समयं यत् प्ररूपयति ।
परस्य समयं यत्र क्रियाभेदान् अनेकशः ॥

पय प्रमाणं ३६००० । श्लोक प्रमाणं १८३९१८४६३७४००० । अक्षर प्रमाणं ५८८५३९०८३९६८००० ।

इदि सूदयडं विदियंगं गदं—इति सूत्रकृत द्वितीयाङ्गं गतं ।

मुनिगणों के ज्ञान विनय आदि पाँच प्रकार का विनय, निर्विघ्न स्वाध्याय (पठन पाठन) आदि सर्व सत्क्रिया (समीचीन क्रिया) प्रज्ञापना,

---

१. तस्य सूत्रस्य कृतं करणं ।

२. स्व समय जैन समयं ।

सुकथा, कल्प, व्यवहार धर्म क्रिया, छेदोपस्थापना, स्वसमय, परसमय आदि अनेक क्रियाओं के भेदों का जिसमें प्ररूपण होता है वह सूत्रकृतांग है ॥ २१-२२ ॥

विशेषार्थ

दर्शन विनय, ज्ञान विनय और चारित्र विनय के भेद से विनय तीन प्रकार का है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार के भेद से विनय चार प्रकार का है। अथवा ज्ञान, चारित्र, तप, दर्शन, और उपचार के भेद से विनय पाँच प्रकार का है।

अथवा लोकानुवृत्ति विनय, अर्थ निमित्तक विनय, कामतन्त्र विनय, भय विनय और मोक्ष विनय के भेद से विनय पाँच प्रकार का है। यहाँ मोक्ष के कारण मल ज्ञान विनय, दर्शन, चारित्र विनय का प्रकरण है।

निर्विघ्न स्वाध्याय के प्रथम क्या करना चाहिए? किस भक्ति का पाठ करना चाहिए इत्यादि सत्क्रिया का वर्णन सत्क्रिया कहलाती है।

प्रज्ञापना—कथन करना, नय विविक्षा से वस्तु की सिद्धि करना। सुकथा (समीचीन कथा) कल्प (करने योग्य क्रियाओं का वर्णन) व्यवहार वृषक्रिया (व्यवहार धार्मिक क्रिया का वर्णन) यतिजनों के व्रतों में दूषण लगने पर छेदोपस्थापना आदि प्रायश्चित्त का वर्णन तथा स्वसमय (जिनधर्म) पर समय (अन्य धर्म) आदि अनेक क्रियाओं का वर्णन जिसमें है।

अर्थात् जिसमें छत्तीस हजार पदों के द्वारा स्वसमय, परसमय और स्वपर समय का कथन है। जो जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष रूप स्व समय कथित पदार्थों का वर्णन करके पाप से मलीन मति की विशुद्धि करने के लिए एक सौ अस्सी क्रियावादी, चौरासी अक्रियावादी, सड़सठ अज्ञानवादी और बत्तीस विनयवादी, इन तीन सौ त्रेसठ मिथ्या पाखंड रूप पर समय का खंडन कर जीवों को स्व समय में स्थापित करता है। ज्ञान विनय आदि पाँच प्रकार का विनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोस्थापना आदि व्यवहार धर्म क्रियाओं का जिसमें कथन है वह सूत्रकृतांग है।

इस अंग के पद का प्रमाण छत्तीस हजार (३६०००) प्रमाण है।

श्लोक संख्या—एक नील, तिरासी खरब, इकानवे अरब, चौरासी

करोड़, त्रेसठ लाख, चौहत्तर हजार (१८३९१८४६३७४०००) प्रमाण है। अक्षर संख्या का प्रमाण अट्ठावन नील, पिच्यासी खरब, उन्चालीस अरब, आठ करोड़, उनचालीस लाख, अड़सठ हजार (५८८५९०८३९६८०००)

॥ इस प्रकार सूत्र कृतांग का कथन समाप्त हुआ ॥

स्थानांग का प्ररूपण

बादालसहस्सपदं ठाणंगं ठाणभेयसंजुत्तं ।
चिट्ठंति ठाणभेया एयादि जत्थ जिणदिट्ठा ॥ २३ ॥

द्वाचत्वारिंशत्सहस्रपदं स्थानाङ्गं स्थानभेदसंयुक्तं ।
तिष्ठन्ति स्थानभेदा एकादयो यत्र जिनदृष्टाः ॥

जिसमें ब्यालीस हजार पदों के द्वारा जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कथित जीव, अजीव आदि के एक से लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थान भेदों से संयुक्त स्थान भेद रहते हैं। अथवा स्थान भेदों का कथन किया जाता है वह स्थानांग है ॥ २३ ॥

संगहणयेण जीवो एक्को ववहारदो दु संसारिओ मुत्तो ।
सो तिविहो पुणुप्पादव्वयधोव्वसंजुत्तो ॥ २४ ॥

संग्रहनयेन जीव एको व्यवहारतस्तु संसारी मुक्तः ।
स त्रिविधः पुनरुत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्तः ॥

चउगइसंकमणजुदो पंचविहो पंचभावभेएण ।
पुव्वपरदक्खिणुत्तरउड्ढाधोगमणदो छद्धा ॥ २५ ॥

चतुर्गतिसंक्रमणयुक्तः पंचविधः पंचभावभेदेन ।
पूर्वापरदक्षिणोत्तरोर्ध्वाधोगमनतः षोढा ॥

सिय अत्थि णत्थि उहयं सिय वत्तव्वं च अत्थिवत्तव्वं ।
सिय वत्तव्वं णत्थि उभहो वत्तव्वमिदि सत्त ॥ २६ ॥

स्यादस्ति, नास्ति, उभयः, स्यादवक्तव्यः, अस्त्यवक्तव्यः ।
स्यादवक्तव्यो नास्ति, उभयोऽवक्तव्य इति सप्त ॥

जैसे संग्रह नय की अपेक्षा जीव एक प्रकार का है और व्यवहार नय से संसारी एवं मुक्त के भेद से दो प्रकार का है।[1]

---

१. ज्ञान दर्शन की अपेक्षा, और त्रस स्थावर की अपेक्षा भी जीव के दो भेद हैं।

वह जीव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की अपेक्षा तीन प्रकार का है।[1] कर्मोदय वश चारों गतियों में भ्रमण करने की अपेक्षा से यह जीव चार भेद संयुक्त हैं। औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन पाँच भावों के भेद से आत्मा पाँच प्रकार की है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भवान्तर में संक्रमण के समय पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधोगमन के कारण (छह संक्रमण लक्षण अपक्रमों से युक्त होने की अपेक्षा) जीव छह प्रकार का है॥ २४-२५॥

स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवक्तव्यं, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य और स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य इस सप्तभंगी की अपेक्षा जीव सात प्रकार का है॥ २६॥

अट्ठविहकम्मजुत्तो अत्थि णवच्छ णवत्थगो जीवो।
पुढविजलतेउवाउपच्चेयणिगोयवितिचपगा ॥ २७ ॥

अष्टविधकर्मयुक्तः अस्ति नवधा नवर्थको जीवः।
पृथ्वीजलतेजोवायुप्रत्येकनिगोदद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रिया ॥

दहभेया पुण जीवा एवमजीवं तु पुग्गलो एक्को।
अणुखंधादो दुविहो एवं सव्वत्थ णायव्वं ॥ २८ ॥

दशभेदाः पुनः जीवा एकोऽजीवः तु पुद्गलः एकः।
अणुस्कन्धतो द्विविध एवं सर्वत्र ज्ञातव्यं ॥

[2]ठाणांगस्स पयप्पमाणं ४२००० । श्लोक २१४५७१५४१०३००० ।
अक्षर प्रमाणं ६८६६२८९३१२९६००० ।

इदि ठाणांगं तिदियं गदं—इति स्थानाङ्गं तृतीयं गतम्।

ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों से युक्त होने से जीव आठ प्रकार[3] का है।

---

१. कर्म चेतना, कर्म फल चेतना और ज्ञान चेतना के भेद से जीव तीन प्रकार है।

२. स्थानाङ्गस्य पदप्रमाणं।

३. सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि सिद्धों के आठ गुणों की अपेक्षा अथवा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, ज्ञानत्व और दर्शनत्व इन सामान्य आठ गुणों की अपेक्षा भी जीव आठ प्रकार का है।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप रूप नव प्रकार के पदार्थों का विषय करने वाला, अथवा जीवादि नौ पदार्थ रूप परिणमन करने वाला होने से जीव नौ प्रकार का है।

पृथिवी कायिक, जल कायिक, अग्नि कायिक, वायु कायिक, प्रत्येक वनस्पति कायिक, साधारण वनस्पति कायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति के भेद से दश स्थान गत होने से जीव दश प्रकार का है ॥ २७ ॥

सामान्यतः संग्रह नय की अपेक्षा पुद्गल एक प्रकार का है—अणु स्कन्ध के भेद से दो प्रकार है। इस प्रकार सर्व द्रव्यों के स्थान गत भेदों का वर्णन जिसमें किया जाता है वह स्थानांग है ॥ २८ ॥

इस स्थानांग के पदों को प्रमाण ब्यालीस हजार (४२०००) है। इसके श्लोक का प्रमाण २१४५७१५४१०३००० (दो नोल, चौदह खरब, सत्तावन अरब, पन्द्रह करोड़, इकतालीस लाख और तीन हजार) है। इस अंग के अक्षरों का प्रमाण ६८,६६,२८,९३,१२,९६००० (अड़सठ नील, छ्यासठ खरब, अठाइस अरब, तिरानबे करोड़, बारह लाख और छ्यानबे हजार) है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

॥ इस प्रकार तीसरे स्थानांग का कथन समाप्त हुआ ॥

समवायांग का कथन

समवायंगं अडकदिसहस्समिगिलक्खमाणुपयमेत्तं ।
संगहणयेण दव्वं खेत्तं कालं पडुच्च भवं ॥ २९ ॥

समवायाङ्गं अष्टकृतिसहस्रं एकलक्षमानपदमात्रं ।
संग्रहनयेन द्रव्यं क्षेत्रं कालं प्रतीत्य भावं ॥

दीवादी अवियंति अत्था णज्जंति सरित्थसामण्णा ।
[1]दव्वा धम्माधम्माजीवपदेसा तिलोयसमा ॥ ३० ॥

द्वीपादयो अवेयन्ते अर्था ज्ञायन्ते सदृशसामान्येन ।
द्रव्येण धर्माधर्मजीवप्रदेशाः त्रिलोकसमाः ॥

समवायांग एक लाख चौसठ हजार पदों प्रमाण से युक्त है तथा संग्रहनय की अपेक्षा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की प्रतोति लेकर द्वोपादि के सादृश्य प्रदेशादि का वर्णन करता है ॥ २९ ॥

१. द्रव्यापेक्षया इत्यर्थः ।

जिस अंग के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सादृश्य सामान्य से द्वीपादि पदार्थ जाने जाते हैं। अर्थात् समवाय का अर्थ है— सादृश्य सामान्य। वह सादृश्यपना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार प्रकार का है, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा द्रव्यों के सादृश्यता का वर्णन करता है वह समवायांग है। द्रव्य समवाय का अर्थ है द्रव्यों के प्रदेशों की समानता। जैसे द्रव्य समवाय की अपेक्षा, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एक जीव और तीन (ऊर्ध्व, मध्य और अधो) लोक (लोकाकाश) ये समान प्रदेशी हैं। अर्थात् ये असंख्यात प्रदेशी हैं। यह द्रव्य समवाय (द्रव्य सादृश्य) है ॥ ३० ॥

सीमंतणरय माणुसखेत्तं उडुइंदयं च सिद्धिसिलं।
सिद्धट्ठाणं सरिसं खेत्तासयदो मुणेयव्वं[1] ॥ ३१ ॥

सीमन्तनरकं मानुषक्षेत्रं ऋत्विन्द्रकं च सिद्धिशिला।
सिद्धस्थानं सदृशं क्षेत्राश्रयतो मंतव्यं ॥

ओहिट्ठाणं जंबूदीवं सव्वत्थसिद्धि सम्माणं।
णंदीसरवावीओ वाणिदपुराणि सरिसाणि ॥ ३२ ॥

अवधिस्थानं जम्बूद्वीपः सर्वार्थसिद्धिः समानं।
नन्दीश्वरवाप्यः वानेन्द्रपुराणि[2] सदृशानि[3] ॥

क्षेत्र समवाय का अर्थ है क्षेत्र की सादृश्यता। जैसे सीमन्त नरक (प्रथम नरक के प्रथम पटल का सीमन्त नामक इन्द्रक बिल) ढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य क्षेत्र, ऋजु विमान (प्रथम स्वर्ग के प्रथम पटल का ऋजु नामक इन्द्रक विमान) सिद्धशिला और सिद्धक्षेत्र ये पाँचों क्षेत्र की अपेक्षा समान हैं। अर्थात् ये पाँचों पैंतालीस लाख-पैंतालीस लाख योजन प्रमाण हैं। तथा अवधि स्थान (सप्तम नरक मध्य का इन्द्रक बिल) जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि का विमान नन्दीश्वर की वापिका और व्यन्तर इन्द्रों का पुर (नगर)[4] ये पाँच स्थान एक लाख योजन प्रमाण हैं। इनका क्षेत्र सदृश (समान) होने से इनको क्षेत्र समवाय समझना चाहिये ॥ ३१-३२ ॥

१. एते पंच पंचचत्वारिंशल्लक्षप्रमिताः।

२. व्यन्तरेन्द्राणां पुराणि।

३. एतानि सर्वाणि स्थानानि एकलक्षयोजन प्रमितानि।

४. इस ग्रन्थ में एक लाख के पाँच स्थानों में व्यन्तर देवों के पुरों का वर्णन है और अन्य ग्रन्थों में सुदर्शन मेरु का कथन है।

समओ समएण समो आवलिएणं समा हु आवलिया।
कालेण पढमपुढवीणारथ भोमाण वो (वा) णाणं ॥ ३३ ॥

समयः समयेन सम आवलिकया समा हि आवलिका।
कालेन प्रथमपृथ्वीनारकाणां भोमानां वानानां ॥

सरिसं जहण्णआऊ सत्तमखिदिणारयाण उक्कसं।
सव्वट्ठाणं आऊ सरिसं उस्सप्पिणीपमुहं ॥ ३४ ॥

सदृशं जघन्यायुः सप्तमक्षितिनारकाणामुत्कृष्टं।
सर्वार्थस्थानां आयुः सदृशं उत्सर्पिणीप्रमुखं ॥

काल समवाय की अपेक्षा एक समय एक समय के बराबर है। एक आवली का समय एक आवली के बराबर है। प्रथम नरक के नारकियों की भवनवासी देवों की और व्यन्तर देवों की जघन्य आयु समान (दश हजार वर्ष प्रमाण) है। सप्तम नरक के नारकियों और सर्वार्थसिद्धि के देवों की उत्कृष्ट आयु समान (तेतीस सागर) प्रमाण है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का काल सदृश (दस कोटा-कोटी प्रमाण) है। इस प्रकार काल की अपेक्षा समानता को काल समवाय जानना चाहिए ॥ ३३-३४ ॥

भावे केवलणाणं केवलदंसणसमाणयं दिट्ठं।
एवं जत्थ सरित्थं वेंति जिणा सव्वअत्थाणं ॥ ३५ ॥

भावेन केवलज्ञानं केवलदर्शनसमानं दिष्टं।
एवं यत्र सदृशं जानन्ति जिना सर्वार्थान् ॥

समवायांगपदं १६४०००। श्लोक ८३७८५०७७९२६०००। अक्षर २६८११२२४९३६३२०००।

इति समवायांगं चउत्थं गदं—इति समवायाङ्गं चतुर्थं गतं।

भाव समवाय की अपेक्षा केवलज्ञान, केवलदर्शन के समान कहा है क्योंकि आत्मा के जितने प्रदेशों में ज्ञान है उतने ही प्रदेशों में दर्शन है। अथवा केवलज्ञान के अविभागी परिच्छेद और केवलदर्शन के अविभागी-परिच्छेद समान है। अथवा ज्ञेय प्रमाण ज्ञान के बराबर दर्शन चेतना शक्ति की उपलब्धि होती है। इस प्रकार जिन पदार्थों का जैसा सादृस्य केवली भगवान् जानते हैं, उनके सादृस्य का कथन करने वाला समवायांग है ॥ ३५ ॥

विशेषार्थ

जिस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल की अपेक्षा सादृश्य का कथन है उसी प्रकार इस अंग में बहुत प्रकार की पर्यायों को अपेक्षा से होने वाले सादृश्य का भी कथन किया जाता है। जैसे देव और नारकियों में गुणस्थान, आयु, ज्ञान, दर्शन, योग, प्राण, पर्याप्ति, संज्ञा, इन्द्रिय, काय, संयम स्थान समान हैं। अर्थात् देवों के भी आदि के चार गुणस्थान होते हैं और नारकियों के भी चार गुणस्थान हैं। देव और नारकियों की आयु भी जघन्य और उत्कृष्ट समान है। देवों के तीन सुज्ञान, तीन कुज्ञान, चक्षु, अचक्षु, अवधि ये तीन दर्शन ११ (चार मन, चार वचन, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र और कार्माण योग चार संज्ञा, पंचेन्द्रिय, त्रसकाय, नौ उपयोग, छह पर्याप्ति और दश प्राण हैं वैसे नारकियों के हैं। मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में जघन्य, उत्कृष्ट आयु संज्ञा, प्राण, पर्याप्ति समान हैं। इसी प्रकार चारों गतियों के जीवों के आहार, श्वासोच्छ्वास, लेश्या, आवास संख्या का प्रमाण, उपपाद, च्यवन (वहाँ से च्युत होना) उवग्रहण उवधि, वेदना विधान, उपयोग, योग, इन्द्रिय, कषाय, विविध प्रकार की जीव योनि, विष्कंभ, उत्सेध परिमाण, विधि विशेष, मन्दारि पर्वत, कुचालक तथा कुलकर, तीर्थंकर, गणधर चक्रवर्ती, अर्ध चक्रवर्ती, हलधर आदि की क्षेत्र की अपेक्षा संख्या, उनका वैभव आदि की सादृशता का वर्णन जिसमें किया जाता है, वह समवायांग है।

इस समवायांग के एक लाख चौसठ हजार पद हैं। इस अंग में ८,३७,८५०,७७९,२६००० (आठ नील, सैंतीस खरब, पिच्चासी अरब, सात करोड़, उन्यासी लाख, छब्बीस हजार श्लोक हैं। और २,६८,११,२२, ४९,३६,३२००० (दो शंख, अड़सठ नील, ग्यारह खरब, बाईस अरब, उन्नचास करोड़, छत्तीस लाख, बत्तीस हजार) अक्षर हैं।

॥ इस समवायांग नामक चतुर्थ अंग का प्रकरण समाप्त हुआ ॥

विपाकप्रज्ञप्त्यंग का कथन

दुगदुगअडतियसुण्णं विवायपण्णत्तिअंगपरिमाणं ।
णाणाविसेसकहणं वेंति जिणा जत्थ गणिपण्हा ॥ ३६ ॥

द्विकद्विकत्रिकशून्यं विपाकप्रज्ञप्त्यङ्गपरिमाणं ।
नानाविशेषकथनं ब्रुवन्ति जिना यत्र गणिप्रश्नान् ॥

विपाक प्रज्ञप्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति) अंग के पदों का प्रमाण दो दो

आठ और तीन शून्य अर्थात् दो लाख अट्ठाईस हजार है (२२८०००)। इस अंग में जिनेन्द्र भगवान् गणधर के प्रश्नानुसार नाना प्रकार के विशेषों के कथन को कहते हैं। अर्थात् विविध प्रकार के "आख्याः" गणधर देव कृत साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान जिसमें किया जाता है, वह व्याख्या-प्रज्ञप्त्यंग कहलाता है॥ ३६॥

जीव है कि नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देकर अनुमान और आगम के द्वारा जीव के अस्तित्व की सिद्धि करता है—

किं अत्थि णत्थि जीवो णिच्चोऽणिच्चोऽहवाह किं एगो।
वत्तव्वो किमवत्तव्वो हि किं भिण्णो॥ ३७॥

किमस्ति नास्ति जीवो नित्योऽनित्योऽथवाथ किमेकः।
वक्तव्यः किमवक्तव्यो हि किं भिन्नः॥

गुणपज्जयादभिण्णो सट्ठिसहस्सा गणिस्स पण्हेवं।
जत्थत्थि तं वियाणपण्णत्तिमंगं खु॥ ३८॥

गुणपर्यायाभ्यामभिन्नः षष्टिसहस्राणि गणिनः प्रश्नाः।
यत्र सन्ति तद्विपाकप्रज्ञप्त्यंगं खलु॥

विवायपण्णत्ति अंगपदं २२८०००। श्लोक ११६४८१६९३७०२०००। वर्ण ३७२७४१४१९८४६४०००।

इदि विवागपण्णत्तिअंगं गदं—इति विपाकप्रज्ञप्त्यङ्गं गतं।

जीव है या नहीं ? जीव नित्य है या अनित्य है ? एक है या अनेक है ? वक्तव्य है अथवा अवक्तव्य है ? अपनी गुण और पर्यायों से आत्मा सर्वथा भिन्न है या अभिन्न है ? इस प्रकार गणधर देव के साठ हजार प्रश्नों का उत्तर जिस अंग में है वह व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग है॥ ३७-३८॥

विशेषार्थ

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीव नित्य है क्योंकि जीव द्रव्य का कभी नाश नहीं होता, यदि जीव द्रव्य का नाश हो जाता तो शुभ-अशुभ क्रियाओं का फल नष्ट हो जाता है। स्मरण आदि का नाश हो जाने से लोक व्यवहार भी नष्ट हो जाता है।

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा आत्मा अनित्य है क्योंकि प्रतिक्षण पर्यायें पलटती रहती हैं। यदि द्रव्य कूटस्थ नित्य होता तो स्वर्ग आदि सुख की

प्राप्ति, बाल अवस्था आदि सारी प्रत्यक्ष गोचर व्यवस्थाओं का नाश हो जाता है।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा आत्मा एक है क्योंकि चैतन्य गुण सामान्य सब में एक सा पाया जाता है। और प्रत्येक आत्मा के सुख-दुःख भिन्न होने से आत्मा अनेक भी है। अपने स्वरूप की अपेक्षा वक्तव्य है और पर स्वरूप की अपेक्षा अवक्तव्य है।

संज्ञा, प्रयोजन, लक्षण आदि की अपेक्षा आत्मा अपनी गुण पर्यायों से आत्मा भिन्न (पृथक्) है। और द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अभिन्न है। इस प्रकार नाना प्रकार के देव, राजा, राज ऋषि आदि के विषय में अनेक प्रकार के संशय को निवारण करने के लिए जो प्रश्न पूछते हैं उनका जो प्रत्युत्तर दिया जाता है, उसको व्याख्याप्रज्ञप्ति कहते हैं।

इस विपाकपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति) अंग के दो लाख अट्ठाईस हजार (२२८०००) पद हैं और ग्यारह नील चौसठ खरब एक्यासी अरब उनहत्तर करोड़, सैंतीस लाख दो हजार श्लोक संख्या है।

इस अंग के अक्षरों की संख्या ३,७२,७४,१४,१९,८४,६४०००। तीन सौ बहत्तर नील चौहत्तर खरब चोदह अरब उन्नीस करोड़ चौरासी लाख चौसठ हजार है।

॥ इस प्रकार व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग का कथन समाप्त हुआ ॥

ज्ञातृकथा अंग का कथन

णाणकहाछट्ठंगं पयाइं पंचेव जत्थत्थि।
छप्पण्णं च सहस्सा णाहकहाकहणसंजुत्तं ॥ ३९ ॥

ज्ञातृकथाषष्टाङ्गं पदानि पंचैव यत्र सन्ति।
षट्पंचाशच्च सहस्राणि नायकथाकथनसंयुक्तं ॥

णाहो तिलोयसामी धम्मकहा तस्स तच्चसंकहणं।
घाइकम्मखयादो केवलणाणेण रम्मस्स ॥ ४० ॥

नाथः त्रिलोकस्वामी धर्मकथा तस्य [1]तत्त्वसंकथनं।
घातिकर्मक्षयात् केवलज्ञानेन रम्यस्स ॥

तित्थयरस्स तिसंज्झे णाहस्स सुमज्झिमाय रत्तीए।
बारहसहासु मज्झे छग्घडियादिव्वझुणीकालो ॥ ४१ ॥

---

१. जीवादिवस्तु स्वभाव कथनं।

तीर्थंकरस्य त्रिसंध्यायां नाथस्य सुमध्यमायां रात्रौ।
द्वादशसभासु मध्ये षड्घटिका दिव्यध्वनिकालः ॥

होदि गणिचक्किमहवपण्हादो अण्णदावि दिव्वझुणि।
सो दहलक्खणधम्मं कहेदि खलु भवियवरजीवे ॥ ४२ ॥
भवति गणिचक्रिमघवप्रश्नतः अन्यदापि दिव्यध्वनिः।
स दशलक्षणधर्मं कथयति खलु भव्यवरजीवे ॥

णादारस्स य पण्हा गणहरदेवस्स णायमाणस्स।
उत्तरवयणं तस्स वि जीवादी वत्थुकहणे सा ॥ ४३ ॥
ज्ञातुश्च प्रश्नाः गणधरदेवस्य जिज्ञासमानस्य।
उत्तरवचनं तस्यापि जीवादिवस्तुकथनं सा ॥

अहवा णादाराणं धम्माणुकहादिकहणमेवं सा।
तित्थगणिचक्कणरवरसक्काईणं च णाहकहा ॥ ४४ ॥
अथवा ज्ञातृणां धर्मानुकथादिकथनमेवं सा।
तीर्थगणिचक्रिनरवरशक्रादीनां च नाथकथा ॥

ज्ञातृधर्मकथांगस्य पदानि ५५६०००। श्लोक २८४०५१८४९५५४०००। वर्ण ९०९६५९१८५७२८०००।

इदि णादाधम्मकहाणाम छट्ठमंगं गदं—इति ज्ञातृधर्मकथानाम षष्ठाङ्गं गतं।

ज्ञातृ कथांग नामक छट्ठा अंग है, इनका दूसरा नाम नाथ कथा भी है जिसमें पाँच लाख छप्पन हजार पद हैं। जो नाथ कथा (महापुरुषों की कथा चरित्र) के कथन से युक्त है। अर्थात् जिसमें महापुरुषों के चरित्र का वर्णन है।

तीन लोक के स्वामी (तीर्थंकर) को नाथ कहते हैं। उस नाथ (तीर्थंकर परम भट्टारक) की धर्म कथा जीवादि वस्तु स्वभाव का कथन है। अथवा घातिया कर्म के क्षयानन्तर केवलज्ञान के साथ उत्पन्न रम्य तीर्थंकर नाथ की पूर्वाह्न, अपराह्न, मध्याह्न और सुमध्य (अर्ध) रात्रि में छह-छह घटिका[1] काल पर्यन्त बारह सभा के मध्य दिव्यध्वनि निकलती है। अर्थात् तीन संध्या और अर्ध रात्रि में छह-छह घटिका दिव्यध्वनि का

१. २४ मिनट की एक घटिका होती है।

काल होता है। तथा विशिष्ट पुण्यशाली गणधर, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि प्रधान पुरुषों के प्रश्नानन्तर के कारण अन्य काल में भी प्रभु की दिव्य-ध्वनि खिरती है। वह प्रभु की दिव्यध्वनि, सारे श्रेष्ठ भव्य जीवों के लिए उत्तम क्षमा, मार्दव आदि दश लक्षण धर्म का कथन करती है।

अथवा जिसमें जिज्ञासु ज्ञाता गणधर देव के प्रश्नानुसार उसके उत्तर वाक्य रूप जीवादि वस्तु का कथन है वा वस्तु स्वभाव रूप धर्म का कथन है वह ज्ञातृ कथांग वा नाथ कथांग है।

अथवा ज्ञाता तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि महापुरुषों की धर्मानुबन्धी कथा एवं उपकथाओं का कथन करती है वही नाथ कथांग वा ज्ञातृधम कथांग है॥ ३९-४०-४१-४२-४३-४४॥

विशेषार्थ

ज्ञातृकथा (नाथ कथा) नाम का छट्ठा अंग पाँच लाख छप्पन हजार पदों के द्वारा सिद्धान्तों का विधि से स्वाध्याय की प्रस्थापना के लिए तीर्थंकरों की धर्म देशना का तथा सन्देह को प्राप्त गणधर देव के संशय को दूर करने की विधि का और अनेक प्रकार की कथा एवं उप-कथाओं का वर्णन करता है।

इस ज्ञातृ कथांग के पाँच लाख छप्पन हजार पद हैं। इसकी श्लोक संख्या अट्ठाईस नील, चालीस खरब, इकावन अरब, चौरासी करोड़, पिचानबे लाख, चौवन हजार है। और वर्ण संख्या अट्ठानवे नील, छ्यानवे खरब, उन्नसठ अरब, अठारह करोड़, सत्तावन लाख, अट्ठाईस हजार है।

॥ इस प्रकार ज्ञातृकथांग नाम छट्ठे अंग का कथन समाप्त॥

उपासकाध्ययनांग का कथन

सत्तरिसहस्स लक्खा एयारह जत्थुवासयज्झयणे।
उत्तं पयप्पमाणं जिणेण तं णमह भवियजणा॥४५॥

सप्ततिसहस्रं लक्षाणि एकादश यत्रोपासकाध्ययने।
उक्तं पदप्रमाणं जिनेन तं नमत भव्यजनाः॥

उपासकाध्ययनांग के विषय का वर्णन

दंसणवयसामाइयपोसहसचित्तरायभत्ते य।
बंभारंभपरिग्गहअणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे॥ ४६॥

दर्शनव्रतसामायिकप्रोषधसचित्तरात्रिभक्ताश्च।
ब्रह्मारंभपरिग्रहानुमतोद्दिष्टा देशविरता एते॥

जिस उपासकाध्ययन में जिनेन्द्र भगवान् ने ग्यारह लाख सत्तर हजार पद का प्रमाण कहा है। हे भव्य जीवो उस उपासकाध्ययनांग को तुम नमस्कार करो॥ ४५॥

विशेषार्थ

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आचार्य शुभचन्द्र ने उपासकाध्ययन के प्रति श्रद्धा अनुराग प्रकट करने के लिए भव्यजीवों को नमस्कार करने के लिए प्रेरित किया है। क्योंकि जब उपासकाध्ययन के प्रति श्रद्धा प्रकट होती है तब ही भव्य जीव व्रतों को धारण करने लिए उत्सुक होता है।

दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषध प्रतिमा, सचित्त-त्याग प्रतिमा, रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरम्भत्याग प्रतिमा, परिग्रहत्याग प्रतिमा, अनुमतित्याग प्रतिमा और उद्दिष्टत्याग प्रतिमा ये देशविरत के ग्यारह भेद हैं। अर्थात् देशविरत ग्यारह प्रकार के होते हैं॥ ४६॥

जत्थे यारहसद्धा दाणं पूयं च संहसेवं च।
वयगुणसीलं किरिया तेसिं मंता वि मुच्चंति॥ ४७॥

यत्रैकादशश्रद्धा दानं पूजा च संघसेवा च।
व्रतगुणशीलानि क्रिया तेषां मंत्रा अपि उच्यन्ते॥

उपासकाध्ययनस्य पदानि ११७००००। श्लोक ५९७७३५००७१५५०००। अक्षर १९१२७५२०२२८९६००००।

इदि उवासयज्झयणं सत्तमं अगं गदं—इत्युपासकाध्ययनं सप्तमङ्गं गतम्।

जिस ग्रन्थ (अंग) में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का, श्रावक के व्रतों का, सम्यग्दर्शन की विशुद्धि का, दान, पूजा, संघसेवा, श्रावकों के व्रत (पाँच अणुव्रत) गुण (तीन गुणव्रत) चार शिक्षाव्रत रूप सात शीलों का, श्रावक को क्रियाओं (५३ क्रिया) का तथा उनके भेदों का अर्थात् धारण करने की विधि का वर्णन है। वह उपासकाध्ययनांग कहलाता है॥ ४७॥

संक्षेप से प्रतिमाओं का स्वरूप

दर्शनप्रतिमा—अष्टमूलगुण[1] धारण, सप्तव्यसन[2] का त्याग, अभक्ष्य भक्षण नहीं करना, शास्त्रोक्त अन्तराय का पालन करना तथा संसार, शरीर और पञ्चेन्द्रिय जन्य विषयों से विरक्त होना तथा पंच परमेष्ठी की भक्ति में लीन होना, दर्शनप्रतिमा है। इस प्रतिमा का पालन करने के लिए सम्यग्दर्शन की परम आवश्यकता है और तत्त्व श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन को निर्मल करने के लिए पानी छानकर पीना, रात्रि में चारों प्रकार के आहार का, सप्तव्यसन का तथा अष्टमूलगुणों का निरतिचार पालन करना चाहिए।

व्रत प्रतिमा—दर्शन प्रतिमा की क्रिया के साथ पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का निरतिचार पालन करना। इसमें पाँच अणुव्रतों का निरतिचार पालन होता है और सात शील (तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत) में अतिचार लग सकता है।

सामायिक प्रतिमा—तीनों संध्याओं के समय मन, वचन, काय को शुद्ध कर जिन मन्दिर अथवा अपने घर में वा अन्य पवित्र स्थान में पूर्व वा उत्तर दिशा में मुख करके जिनधर्म, जिनवाणी, जिनबिम्ब, जिनालय और पंचपरमेष्ठी की वन्दना करना है। जिसमें चार आवर्तन, तीन शिरोनति, दो नमस्कार करके देव वन्दना की जाती है तथा आर्त्त-रौद्र-ध्यान का परित्याग कर अपनी आत्मा का चिन्तन किया जाता है।

प्रोषध प्रतिमा—अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास करना वा नीरस, एक बार भोजन करना अथवा सप्तमी एवं त्रयोदशी को एकाशन करके अष्टमी एवं चतुर्दशी को उपवास करना।

सचित्तत्याग प्रतिमा—सचित्त वनस्पति, जल आदि को नहीं खाना।

रात्रिभुक्त व्रत—दिवा मैथुन का त्याग तथा सूर्योदय के ४८ मिनट तक और सूर्यास्त के ४८ मिनट पूर्व आहार का त्याग करना।

ब्रह्मचर्य व्रत प्रतिमा—मन, वचन और काय से स्त्री मात्र की अभिलाषा नहीं करना, पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना।

---

१. वट फल, पीपल फल, उदम्बर, गूलर और अंजीर इन पाँच उदम्बर फल का त्याग तथा मद्य, मांस, मधु का त्याग।

२. शराब पीना, मांस खाना, जुआ खेलना, शिकार खेलना, वेश्या सेवन, पर-स्त्री रमण और चोरी करना ये सप्त व्यसन कहलाते हैं।

आरम्भत्याग प्रतिमा—कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भ का त्याग करना।

परिग्रहत्याग प्रतिमा—परिमित वस्त्र के सिवाय दश प्रकार के परिग्रह का त्याग करना।

अनुमतित्याग प्रतिमा—कृषि आदि आरम्भ परिग्रह और विवाह आदि लौकिक कार्यों में अनुमति देने का त्याग करना।

उद्दिष्टत्याग प्रतिमा—घर का त्याग करके मुनियों के पास वन में जाकर गुरु के समक्ष व्रत धारण कर एक लंगोटी और एक खण्ड वस्त्र रखना तथा उद्दिष्ट (अपने लिए बनाये हुए आहार) का त्याग कर भिक्षावृत्ति से भोजन करना। यह श्रावक की ११ प्रतिमा हैं। इनका विस्तार पूर्वक वर्णन उपासकाध्ययनांग में किया गया है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमा का पालन करने के लिए श्रावक के १२ व्रत हैं, उनका वर्णन भी उपासकाध्ययन में है, उनका संक्षेप वर्णन—

संसार में जीव दो प्रकार के हैं—त्रस और स्थावर। उसमें निरपराध त्रसजीवों की संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा का त्याग करना अहिंसाणुव्रत है।

जिस असत्य भाषण से मानव झूठा कहलाता है, राज दण्डनीय और लोक निन्दनीय होता है ऐसे स्थूल असत्य बोलने का त्याग करना सत्याणुव्रत कहलाता है।

मालिक की आज्ञा बिना किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करना चाहे गिरी हुई, भूली हुई हो, अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

पाप के भय से दूसरे की स्त्री का सेवन नहीं करना और न दूसरों को सेवन करने की आज्ञा देना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

धन, धान्य, दासी, दास आदि दस प्रकार के परिग्रह की सीमा बाँधना परिग्रहपरिमाणुव्रत है।

जिनसे अणुव्रतों की संपुष्टि, वृद्धि और रक्षा होती है उन्हें गुणव्रत कहते हैं। ये गुणव्रत तीन हैं—दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग-परिमाणव्रत।

निरंकुश तृष्णा को नियन्त्रित करने के लिए दिशा और विदिशाओं में गमनागमन की मर्यादा करना दिग्व्रत है।

बिना प्रयोजना की मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को रोकना अनर्थदण्डत्यागव्रत है।

मानसिक इच्छाओं पर नियन्त्रण करने के लिए भोग (एक बार भोगने योग्य आहारादि का) तथा उपभोग (जिन्हें पुनः-पुनः भोगा जा सके ऐसे वस्त्र आदि उपभोग वस्तुओं की मर्यादा बाँध लेना भोगोपभोग-परिमाणव्रत है।

शिक्षा प्रधान होने से या नियत काल के लिए होने वाले व्रत को शिक्षाव्रत कहते हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, देशविरति और अतिथि-संविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं।

समय का अर्थ है एकत्व रूप से गमन अर्थात् मन, वचन, काय की क्रियाओं से निवृत्त होकर एक आत्म द्रव्य में लीन होना। तथा चैत्यभक्ति, पंचगुरु भक्ति और अन्त में समाधिभक्ति, मध्य में दो कायोत्सर्ग, चार आवर्त्त, तीन शिरोनति तथा दो नमस्कार रूप क्रिया को दिन में एक बार, दो बार या तीन बार करना सामायिक शिक्षाव्रत है।

प्रोषध का अर्थ है पर्व या एक बार भोजन करना। यह अष्टमी, चतुर्दशी के दिन किया जाता है। क्योंकि इन दोनों तिथियों को पर्व कहते हैं। पर्व के दिन एकाशन या उपवास करना प्रोषधव्रत है।

प्रतिदिन गृह, ग्राम आदि के जाने की मर्यादा करना देशविरति है।

जिनके आने की प्रतिपदा आदि तिथि नियत नहीं है, उन्हें अतिथि कहते हैं। उन अतिथियों का पूजा-सत्कार, नवधाभक्तिपूर्वक और सात गुण सहित आहार दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है।

निष्प्रतिकार उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग के उपस्थित हो जाने पर धर्म के लिए शरीर को छोड़ना सल्लेखना कहलाती है।

स्व और पर का अनुग्रह करने के लिए अपने धन का त्याग करना, संसार तारक तीन प्रकार के पात्रों को दान देना और निश्चय से रागद्वेष का त्याग करना दान है।

पंच परमेष्ठी, जिनबिम्ब, जिन मन्दिर, जिनशास्त्र और जिनधर्म रूप नव देवता की अर्चा करना पूजा है।

मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाओं के समूह को संघ कहते हैं। उस संघ की सेवा करना, उनकी आपत्ति को दूर करना संघसेवा है।

आठ मूलगुण, बारह अणुव्रत, बारह तप, समता, ग्यारह प्रतिमा, चार

प्रकार का दान, जलगालन, रात्रिभोजनत्याग, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पालन ये श्रावक की ५३ (त्रेपन) क्रिया हैं।

इस प्रकार श्रावक के सर्व व्रतों का विधान, उनके धारण की विधि, मंत्रोच्चारण आदि के विधान का जिसमें कथन है वह उपासकाध्ययनांग है। श्रावक के व्रत धारण की विधि, गर्भाधानादि एकसौ आठ क्रियाओं का क्रियाविशालपूर्व में विस्तार पूर्वक करेंगे।

इस उपसकाध्ययनांग के ग्यारह लाख सत्तर हजार (११७००००) पद हैं। इस अंग के श्लोक की संख्या उनसठ नील सतहत्तर खरब पैंतीस अरब इकोत्तर लाख पचपन हजार (५९७७३५००७१५५०००) है। इस अंग की अक्षर संख्या उन्नीस शंख, बारह नील, पचहत्तर खरब, बीस अरब बाईस करोड़, नियासी लाख, साठ हजार (१९१२,७५,२०,२२,८९,६००००) प्रमाण है।

॥ इस प्रकार उपासकाध्ययनांग का कथन समाप्त हुआ ॥

अन्तकृतदशांग का कथन

अंतयडं वरमंगं पयाणि तेवीसलक्ख सुसहस्सा।
अट्ठावीसं जत्थ हि वण्णिज्जइ अंतकयणाहो ॥ ४८ ॥

अन्तकृद्वरमङ्गं पदानि त्रयोविंशतिलक्षाणि सहस्राणि।
अष्टाविंशतिः यत्र हि वर्ण्यते अन्तकृन्नाथः ॥

पडितित्थं वरमुणिणो दह दह सहिऊण तिव्वमुवसग्गं।
इंदादिरइयपूयं लद्धा मुंचंति संसारं ॥ ४९ ॥

प्रतितीर्थं वरमुनयो दश दश सोढ्वा तीव्रमुपसर्गं।
इन्द्रादिरचितपूजां लब्ध्वा मुञ्चन्ति संसारं ॥

माहप्पं वरचरणं तेसिं वण्णिज्जए सया रम्मं।
जह वड्ढमाणतित्थे दहावि अंतयडकेवलिओ ॥ ५० ॥

माहात्म्यं वरचरणं तेषां वर्ण्यते सदा रम्यं।
यथा वर्धमानतीर्थे दशापि अन्तकृत्केवलिनः ॥

जिस अङ्ग में अन्तकृत नाथ (अन्तकृत केवली) का वर्णन किया जाता है, वह श्रेष्ठ अन्तकृत अङ्ग है, जिसके तेईस लाख अट्ठाईस हजार पद हैं ॥ ४८ ॥

जिन्होंने संसार का अन्त किया है, या केवलज्ञान और मोक्ष एक साथ प्राप्त किया है उनको अन्तकृतनाथ कहते हैं। उनका वर्णन जिस अङ्ग में किया गया है, अन्तकृतनाथ अङ्ग कहलाता है।

प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में दश-दश श्रेष्ठ मुनि घोर उपसर्ग को सहन कर तथा इन्द्र के द्वारा रचित पूजा को प्राप्त कर संसार को छोड़ते हैं, इससे जाना जाता है कि वे अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त कर तत्पश्चात् १४वें गुणस्थान में जाकर मुक्ति को प्राप्त करते हैं। यद्यपि ८, ९, १०, १२, १३ और १४ वाँ ये सब गुणस्थान एक अन्तर्मुहूर्त में ही होते हैं तथापि अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद हैं अतः इन्द्र के द्वारा पूजा प्राप्त कर संसार छोड़ते हैं। इससे अनुमान लगाया जाता है कि वे १३ वें गुणस्थान को प्राप्त कर चौदह में जाते हैं। परन्तु विशेष अनन्तर न होने से एक साथ कह दिया जाता है ॥ ४९ ॥

जिस अंग में घोर उपसर्ग सहन कर केवलज्ञान उपार्जन कर मोक्ष में जाने वाले केवलियों के माहात्म्य तथा उनका रमणीय श्रेष्ठ आचरण वर्णन किया जाता है— जैसे प्रत्येक तीर्थंकर के समय में दश-दश अन्तकृत केवली होते हैं। वैसे महावीर भगवान् के तीर्थ में दश अन्तकृतकेवली हुए थे। उनके नाम निम्न प्रकार हैं ॥ ५० ॥

अन्तकृतदशांग में अन्तकृत दश केवलियों के नाम—

मायंग रामपुत्तो सोमिल जमलीकणाम किक्कंबी।
सुदंसणो वलीको य णमी अलंबद्ध पुत्तलया ॥ ५१ ॥

मंतगो रामपुत्रः सोमिलः यमलीकनाम किष्कंविलः।
सुदर्शनः बलिकश्च नमिः पालंवष्टः पुत्राः ॥

अन्तकृद्दशाङ्गस्य पदानि २३२८०००। श्लोकाः ११८९३३९३-९८८५२०००। अक्षराणि ३८०५८८६०७६३२३४०००।

इदि अंतयड दशांगमट्ठमं गदं—इत्यन्तकृद्दशाङ्गमष्टमं गतम्।

मांतग, रामपुत्र, सोमिल, यमलीक नाम, किष्कंविल, सुदर्शन, बलिक, नमि, पालम्ब और अष्टमपुत्र ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर के समय में दश-दश मुनिगण घोरोपसर्ग को सहन कर कर्मों का क्षय कर अन्तकृत केवली हुए हैं, उनकी दशा

घोरोपसर्ग आदि का वर्णन जिसमें पाया जाता है, उसे अन्तकृतद्दशांग कहते हैं।

अन्तकृत दशांग के पद, श्लोक और अक्षरों की संख्या का कथन—

अन्तकृद्दशांग के पद तेईस लाख, अट्ठाईस हजार हैं (२३२८०००) इस अङ्ग के श्लोकों की संख्या एक सौ अट्ठारह नील, तिरानबे खरब, उनचालीस अरब, उनचालीस करोड़, अट्ठासी लाख, बावन हजार (११८,९३,३९,३९,८८,५२०००) है। तथा अक्षरों की संख्या तीन हजार आठ सौ पाँच नील, अठासी खरब, साठ अरब, छिहत्तर करोड़, बत्तीस लाख, चौंतीस हजार (३८०५,८८,६०,७६,३२,३४०००) है।

॥ इस प्रकार अन्तकृद्दशांग का कथन समाप्त हुआ ॥

अनुत्तरोपपादिक दशांग का कथन

तिणहंचउचउदुगणवयाणि चाणुत्तरोपवाददसे ।
विजयादिसु पंचसु य उववायिका विमाणेसु ॥ ५२ ॥
त्रिनभश्चतुश्चतुर्द्विकनवपदानि चानुत्तरोपपाददशके ।
विजयादिषु पंचसु च औपपादिका विमानेषु ॥

पडितित्थं सहिऊण हु दारुवसग्गोपलद्धमाहप्पा ।
दह दह मुणिणो विहिणा पाणे मोत्तूण झाणमया ॥ ५३ ॥
प्रतितीर्थं सोढ्वा हि दारुणोपसर्गं उपलब्धमाहात्म्याः ।
दश दश मुनयो विधिना प्राणान् मुक्त्वा ध्यानमयाः ॥

विजयादिसु उववण्णा वण्णिज्जंते सुहावसुहबहुला ।
ते णमह वीरतित्थे उजुदासो सलिभद्दक्खो ॥ ५४ ॥
विजयादिषूपपन्ना वर्ण्यन्ते स्वभावसुखबहुलाः ।
तान् नमन वीरतीर्थे ऋजुदासः शालिभद्राख्यः ॥

सुणक्खत्तो अभयो वि य धण्णो वरवारिसेणणंदणया ।
णंदो चिलायपुत्तो कत्तइयो जह तह अण्णे ॥ ५५ ॥
सुनक्षत्रोऽभयोऽपि च धन्यः वरवारिषेणनन्दनौ ।
नन्दः चिलातपुत्रः कार्तिकेयो यथा तथा[1] अन्येषु ॥

१. यथा वर्धमान तीर्थे एते तथान्येषु तीर्थेषु अन्ये दश ।

अनुत्तरोपपादाङ्गस्य पदानि—९२४४००० ।

श्लोकाः—४७२२६१७४४१४६००० ।

अक्षराणि—१५११२३७५८११६६७००० ।

इदि अणुत्तरोववादं णवमं अङ्गं गदं—इत्यनुत्तरोपपादं नवमं अंग गतं ।

अनुत्तरोपपादिक दशांग में तीन शून्य चार चार दो नौ (बानबे लाख चवालीस हजार (९२४४०००) पद हैं। उपपाद जन्म वालों को औपपादिक कहते हैं। विजयादि पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने से अनुत्तरोपपादिक कहलाते हैं ॥ ५२ ॥

प्रत्येक तीर्थंकरों के समय में उपलब्ध (प्राप्त) किया है माहात्म्य को जिन्होंने ऐसे ध्यान में लीन, दश दश महामुनि घोर उपसर्ग को सहन कर विधिपूर्वक प्राणों को छोड़कर विजयादि अनुत्तरों में उत्पन्न होते हैं, जो स्वभाव से सुखी हैं उनका वर्णन जिसमें पाया जाता है, उसको अनुत्तरोपपादिक दशांग कहते हैं। जैसा वर्द्धमान के तीर्थ में १. ऋजुदास, २. शालिभद्र, ३. सुनक्षत्र, ४. अभय, ५. धन्यकुमार, ६. श्रेष्ठवारिषेण, ७. नन्दन, ८. नन्द, ९. चिलातपुत्र और कार्तिकेय दश मुनि घोर उपसर्ग को सहन कर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इनमें उत्पन्न हुए हैं, उसी प्रकार अन्य तेईस तीर्थंकरों के तीर्थ में भी दश दश मुनि घोरोपसर्ग सहन कर विजयादि पाँच अनुत्तरों में उत्पन्न होते हैं। हे भव्य जीवो ! तुम उनको नमस्कार करो ॥ ५३–५४–५५ ॥

विशेषार्थ

उपपाद जन्म जिनका प्रयोजन है वे औपपादिक कहलाते हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पाँच अनुत्तर कहलाते हैं। अनुत्तरों में उत्पन्न होने से अनुत्तरोपपादिक कहलाते हैं।

चेतन और अचेतन कृत के भेद से उपसर्ग दो प्रकार का होता है।

तिर्यञ्च कृत, मानव कृत और देव कृत के भेद से चेतन कृत उपसर्ग तीन प्रकार का है। इस प्रकार चेतन और अचेतन कृत चार प्रकार के घोरोपसर्ग को सहन कर पाँच अनुत्तरों में उत्पन्न होने वाले मुनिगणों का वर्णन अनुत्तरोपपादिक अङ्ग में पाया जाता है।

अनुत्तरोपपादिक दशांग की पद संख्या बानबे लाख, चवालीस हजार (९२४४०००) है। श्लोक संख्या सैंतालीस नील, बाईस खरब, इकसठ

अरब, चौहत्तर करोड़, इकतालीस लाख, छियालीस हजार (४७,२२, ६१,७४,४१,४६०००) है। इस अङ्ग के अक्षरों की संख्या पन्द्रह शंख, ग्यारह नील, तेईस खरब, पचहत्तर अरब, ईक्यासी करोड़, सोलह लाख, सड़सठ हजार (१५,११,२३,७५,८१,१६,६७०००) प्रमाण है।

॥ इस प्रकार अनुत्तरोपपादिक अङ्ग का कथन समाप्त हुआ ॥

प्रश्नव्याकरण अंग का कथन

पण्हाणं वायरणं अंग पयाणि तियसुण्णसोलसियं ।
तेणवदिलक्खसंखा जत्थ जिणा बेंति सुणह जणा ॥ ५६ ॥

प्रश्नानां व्याकरणमङ्गं पदानि त्रिशून्यषोडश ।
त्रिनवतिलक्षसंख्या यत्र जिना ब्रुवन्ति श्रृणुत जनाः ॥

इसमें प्रतिपाद्य विषय का कथन

पण्हस्स दूदवयणणट्ठपमुट्ठिमणुत्थयसरूवस्स ।
धादुणरमूलजस्स वि अत्थो तियकालगोचरयो ॥ ५७ ॥

प्रश्नस्य दूतवचननष्टप्रमुष्टिमनःस्थस्वरूपस्य ।
धातुनरमूलजास्यपि अर्थस्त्रिकालगोचरः ॥

धणधण्णजयपराजयलाहालाहादिसुहदुहं णेयं ।
जीवियमरणत्थो वि य जत्थ कहिज्जइ सहावेण ॥ ५८ ॥

धन्यधान्यजयपराजयलाभालाभादिसुखदुःखं ।
जीवितमरणार्थोऽपि च यत्र कथ्यते स्वभावेन ॥

जिनेन्द्र भगवान् ने जिसमें तिरानबे लाख, सोलह हजार पद कहे हैं, उसको प्रश्न व्याकरण अङ्ग कहते हैं भव्यो सुनो ॥ ५६ ॥

प्रश्न का अर्थ है पृच्छा (पूछना) और व्याकरण का अर्थ है व्याख्यान—अर्थात् जिसमें प्रश्न का व्याख्यान किया जाता है उसको प्रश्न-व्याकरण कहते हैं।

दूत वचन, नष्ट, प्रमुष्टि, मनस्थ चिन्ता का स्वरूप, धातु, नर और मूलज प्रश्न को त्रिकाल गोचर धन-धान्य, जय-पराजय, लाभ-अलाभ, सुख-दुखादि तथा जीवित-मरण अर्थ का स्वभाव से जिसमें कथन किया जाता है वह प्रश्न व्याकरण है ॥ ५७-५८ ॥

विशेषार्थ

दूत वचन— कोई दूत आकर युद्ध के निमित्त भरे स्वर में प्रश्न करे तो पूछने वाले की जीत हो, रिक्त स्वर में प्रश्न करे तो दूसरे की जय हो और दोनों स्वर चलते हुए प्रश्न करे तो दोनों की जय होती है।

प्रश्नकर्त्ता यदि प्रथम ज्ञाता का नाम उच्चारण कर अनन्तर आतुर (रोगी) का नाम उच्चारण करता है तो रोगी "रोग से मुक्त हो जाता है" ऐसा फल कहना चाहिए। यदि पृच्छक रोगी का नाम प्रथम उच्चारण करता है अनन्तर ज्ञाता का तो उसका फल है रोगी की मृत्यु।

जैसे गुरुदेव मेरा भाई बीमार है, ठीक होगा कि नहीं ? इसमें प्रथम गुरु के नाम का उच्चारण है अतः रोगी अवश्य निरोग होगा।

यदि पृच्छक पूछता है "भाई बीमार है, गुरुदेव ठीक कब होगा ?" इसमें आतुर का नाम प्रथम लिया है अतः इस प्रश्न का फल है रोगी का मरण।

पृच्छक जिसके लिए पूछे उसके नामाक्षर सम (दो, चार, छह इत्यादि) हो। बायीं नाड़ी बहती हुई की तरफ खड़ा होकर पूछे तो अवश्य विजय एवं निरोगता प्राप्त हो। नाम के विषमाक्षर (एक, तीन, पाँच इत्यादि) वाले के लिए दाहिनी नाड़ी (श्वास) बहती हुई में खड़ा होकर पूछे तो शुभ है इससे विपरीत अशुभ है। अर्थात् पराजय, अलाभ, दुःख आदि का सूचक है। इसी प्रकार कोई भूतादि गृहीत हो, रोग से पीड़ित हो, सर्प ने काटा हो, उसके लिए पूर्ववत् विषमाक्षर वाले के लिए दाहिनी नाड़ी और समाक्षर वाले के लिए बायीं नाड़ी की तरफ खड़े होकर पूछना शुभ सूचक है, इससे विपरीत अशुभ है। जिन लोगों की जन्मपत्री नहीं हो या खो गई हो उनके प्रश्नानुसार जन्म-पत्री बनाना नष्ट प्रश्न कहलाता है।

मुष्टि प्रश्न—कोई आकर पूछता है मेरी मुष्टि में कौन सी रंग की वस्तु है ? यदि प्रश्न के समय मेष लग्न है तो मुट्ठी में लाल रंग की वस्तु, वृष लग्न हो तो पीले रंग की वस्तु, मिथुन लग्न हो तो नीले रंग की वस्तु, कर्क लग्न हो तो गुलाबी रंग की वस्तु, सिंह लग्न की हो तो धूम्र वर्ण की, कन्या लग्न हो तो नीले वर्ण की, तुला, धनु एवं मीन लग्न में पीत वर्ण की, वृश्चिक में लाल रंग की तथा मकर एवं कुंभ लग्न में कृष्ण वर्ण की वस्तु होती है। इस प्रकार लग्नेश के अनुसार वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करना मुष्टि प्रश्न है।

मूक प्रश्न वा मनस्थ—कोई मानव मौन से आकर बैठा है, उस समय यदि मेष लग्न हो तो मन में मनुष्य की चिन्ता, वृष लग्न हो तो चतुष्पद गाय, भैंस आदि की, मिथुन हो तो गर्भ की, •कर्क हो तो व्यवसाय की, सिंह हो तो अपनी, कन्या हो तो स्त्री की, तुला हो तो धन की, वृश्चिक हो तो रोगी की, धनु हो तो शत्रु की, कुंभ हो तो स्थान की और मीन हो तो देव सम्बन्धी चिन्ता जानना चाहिए।

आचार्यों ने सुविधा के लिए प्रश्न के धातु, नर (जीव) और मूल ये तीन नाम रखे हैं। अतः अ, आ, इ, ए, ओ, अः, क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ य श ह ये व्यंजन और स्वर जीव (नर) संज्ञक हैं। उ ऊ अं त थ द ध प फ ब भ व स ये स्वर व्यंजन धातु संज्ञक हैं और ई ऐ और ङ ञ न म र ष ये स्वर व्यंजन मूल संज्ञक हैं। प्रश्न करते समय इन स्वर व्यंजनों के उच्चारण से फल कहना धातु नर मूलजा प्रश्न कहलाता है। इस प्रकार प्रश्नव्याकरण में अनेक प्रकार के प्रश्नों का उत्तर दिया गया है।

आक्खेवणी कहाए कहिज्जइ पण्हदो सुभव्वस्स ।
परमदसंकारहिदं तित्थयरपुराणवत्तंतं ॥ ५९ ॥

अवक्षेपणी कथा कथ्यते प्रश्नतः सुभव्यस्य ।
परमतशंकारहितं तीर्थंकरपुराणवृत्तान्तं ॥

पढमाणुयोगकरणाणुयोगवरचरणदव्वअणुयोगं ।
संठाणं लोयस्स य यदिसावयधम्मवित्थारं ॥ ६० ॥

प्रथमानुयोगकरणानुयोगवरचरणद्रव्यानुयोगानि ।
संस्थानं लोकस्य च यतिश्रावकधर्मविस्तारं ॥

इस अंग में कथित, आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी और निर्वेदिनी कथाओं का कथन और लक्षण इस प्रकार है—

प्रथमानुयोग, करुणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग। परमागम पदार्थों का तथा तीर्थंकरादि का वृत्तान्त, लोक संस्थान, श्रावक, यति धर्म का विस्तार, पंचास्तिकाय आदि का, परमत की शंका रहित कथन करना अर्थात् स्वमत का स्थापन करना, आक्षेपिणी कथा है। अर्थात् जिसमें यह कथन है वह आक्षेपिणी कथा है॥ ५९-६० ॥

विशेषार्थ

जिस अनुयोग में महापुरुषों के जीवन का वर्णन है जो बोधि[1] और समाधि[2] का निधान (कारण) है वह प्रथमानुयोग है।

लोक अलोक का विभाग, युग का परिवर्तन, चतुर्गति के भ्रमण का स्थान आदि का कथन करनेवाला करणानुयोग है।

मुनि और श्रावकों के धर्म का वा उनकी क्रियाओं का वर्णन करने वाला चरणानुयोग है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जीव, अजीव, आस्रव, बंध संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप आदि तत्त्वों का वर्णन जिसमें है, वह द्रव्यानुयोग है।

जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य पंचास्तिकाय हैं।

पंचत्थिकायकहणं वक्खाणिज्जइ सहावदो जत्थ।
विक्खेवणी वि य कहा कहिज्जइ जत्थ भव्वाणं ॥ ६१ ॥

पंचास्तिकायकथनं व्याख्यायते स्वभावतो यत्र।
विक्षेपिणी अपि च कथा कथ्यते यत्र भव्यानां ॥

पच्चक्खं च परोक्खं माणं दुविहं णया परे दुविहा।
परसमयवादखेवो करिज्जई वित्थरा जत्थ ॥ ६२ ॥

प्रत्यक्षं च परोक्षं मानं द्विविधं नयाः परे द्विविधाः।
परसमयवादक्षेपः क्रियते विस्तारेण यत्र ॥

सुभव्य जीव के (आसन्न भव्य के) प्रश्नानुसार जिसमें चार अनुयोग, पंचास्तिकाय, यति श्रावक धर्म, लोक संस्थान का वर्णन है वह आक्षेपिणी कथा है। तत्त्वों का निरूपण करने वाली आक्षेपिणी कथा है। भव्यजीवों के लिए विक्षेपिणी कथा का वर्णन भी प्रश्न व्याकरण में किया जाता है ॥६१॥

[3]प्रत्यक्ष और [4]परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। [5]द्रव्या-

---

१. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति बोधि है।

२. रत्नत्रय को धारण कर उसका अन्त तक निर्वाह करना समाधि है।

३. इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना पदार्थों को जानने वाले अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

४. इन्द्रिय और मन की सहायता से पदार्थों को जानने वाले मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।

५. द्रव्य की मुख्यता से कथन करने वाला द्रव्यार्थिक नय है।

र्थिक, [1]पर्यायार्थिक के भेद से नय के दो भेद हैं। जिसमें प्रमाण नयात्मक युक्तियुक्त हेतु आदि के बल से सर्वथा एकान्तवादियों के मत का विस्तार-पूर्वक खण्डन किया जाता है वह विक्षेपिणी कथा है ॥ ६२ ॥

दंसणणाणचरित्तं धम्मो तित्थयरदेवदेवस्स ।
तम्हा पभावतेओवीरियवम(र)णाणसुहआदि ॥ ६३ ॥

दर्शनज्ञानचरित्राणि धर्मः तीर्थंकरदेवदेवस्य ।
तस्मात् प्रभावतेजोवीर्यवरज्ञानसुखादयः ॥

संवेजणीकहाए भणिज्जइ सयलभव्वबोहत्थं ।
णिव्वेजणीकहाए भणिज्जइ परम वेरग्गं ॥ ६४ ॥

संवेजनीकथया भण्यते सकलभव्यबोधनार्थं ।
निर्वेजनीकथया भण्यते परमवैराग्यं ॥

संसारदेहभोगा रागो जीवस्स जायदे तम्हा ।
असुहाणं कम्माणं बंधो तत्तो हवे दुक्खं ॥ ६५ ॥

संसारदेहभोगा रागो जीवस्य जायते तस्मात् ।
अशुभानां कर्मणां बन्धः ततो भवेद्दुःखं ॥

असुहकुले उत्पत्ति विरूवदालिद्दरोयबाहुल्लं ।
अवमाणं णरलोए परकम्मकरो महापावो ॥ ६६ ॥

अशुभकुले उत्पत्तिः विरूपदारिद्र्यरोगबाहुल्यं ।
अपमानं नरलोके परकर्मंकरो महापापः ॥

एवंविहं कहाणं वायरणं वेव्व पण्हवायरणे ।
दहमे अंगे णिच्चं करिज्जमाणं सया सुणह ॥ ६७ ॥

एवंविधं कथानां व्याकरणं वेद प्रश्नव्याकरणे ।
दशमेंऽगे नित्यं क्रियमाणं सदा शृणुत ॥

प्रश्नव्याकरणाङ्गस्य पदानि ९३१६००० । श्लोकाः ४७५९४०११३-३८९४००० । अक्षराणि १५२३००८३६२८४६०८००० ।

इदि पण्हवायरणं दशमं अगं गदं—इति प्रश्नव्याकरणं दशमं अंगं गतम् ।

सकल भव्य जीवों को संबोधन करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान,

---

१. पर्याय की मुख्यता से कथन करने वाला पर्यायार्थिक नय है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
और सम्यक्चारित्र रूप धर्म का तथा धर्म से उत्पन्न (धर्म का फलभूत) तीर्थंकर देव, देव के प्रभाव, तेज, वीर्य, श्रेष्ठ ज्ञान (केवलज्ञान) सुखादि का वर्णन संवेदिनी कथा के द्वारा किया जाता है। अर्थात् तीर्थंकर, गण-धर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के पुण्य फल का वर्णन जिसमें किया जाता है तथा जिसको सुनकर जीव पुण्य कार्य करने का प्रयत्न करता है, वह संवेदिनी कथा है।

निर्वेदिनी कथा के द्वारा परम वैराग्य का कथन किया जाता है अर्थात् संसार, शरीर और भोगों (पंचेन्द्रिय विषयों) का राग (अनुराग) है। उससे जीव के अशुभ कर्मों का बन्ध होता है और अशुभ कर्म से दुःख होता है। तथा संसार शरीर एवं भोग के राग से उत्पन्न दुष्कर्मों का फल है, मनुष्य लोक में अशुभ कुल (नीचकुल) में उत्पत्ति (नीचकुल में जन्म) विरूप अंग, दारिद्रय रोगों की बाहुलता (अत्यन्त रोगी शरीर की प्राप्ति) अपमान, दूसरों की सेवा करना महापाप पर्याय की प्राप्ति।

निर्वेदिनी कथा में पाप के फल का कथन है, कि पाप करने से इस जीव को नरक, तिर्यंच और कुमानुष योनियों में जन्म लेना पड़ता है। दारिद्रय, आधि-व्याधियों की प्राप्ति भी पाप कर्म से ही उत्पन्न होती है। यह संसारी प्राणी संसार, शरीर और भोगों में आसक्त होकर किस प्रकार संसार में भटकता रहता है आदि का कथन करने वाली संवेगिनी ओर पाप फल का कथन करने वाली निर्वेदिनी कथा है। संवेगिनी कथा से पुण्य कार्यों में प्रवृत्ति और निर्वेदिनी कथा से संसार शरीर और भोगों से विरक्ति होती है। इस प्रकार प्रश्नव्याकरण नामक दशवें अंग में आक्षे-पिणी आदि कथाओं का वर्णन किया गया है। हे भव्य जीवों उस अंग का नित्य श्रवण, मनन एवं चिन्तन करो॥ ६३-६४-६५-६६-६७॥

प्रश्न व्याकरण के पदों की संख्या तिरानवे लाख सोलह हजार है। श्लोक संख्या चार शंख, पचहत्तर नील, चौरानबे खरब, एक अरब, तेरह करोड़, अड़तीस लाख, चौरानबे हजार है। इस अंग के अक्षरों की संख्या एक पद्म, बावन शंख, तीस नील, आठ खरब, छत्तीस अरब, अठाइस करोड़, छियालीस लाख, आठ हजार प्रमाण है।

॥ इस प्रकार प्रश्नव्याकरण नामक दशवाँ अंग समाप्त हुआ॥

विपाकसूत्र अंग का कथन

चुलसीदिलक्ख कोडी पयाणि णिच्चं विवागसुत्ते य।
कम्माणं बहुसत्तो सुहासुहाणं हु मज्झिमया॥ ६८॥

चतुरशीतिलक्षाणि कोटिः पदानि नित्यं विपाकसूत्रे च।
कर्मणां बहुशक्तिः शुभाशुभानां हि मध्यमका॥

तिव्वमंदाणुभावा दव्वे खेत्तेसु काल भावे य।
उदयो विवायरूवो भणिज्जइ जत्थ वित्थारा॥ ६९॥

तीव्रमन्दानुभावा द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च।
उदयो विपाकरूपो भण्यते यत्र विस्तारेण॥

विपाकसूत्रांगस्य पदानि १८४०००००। श्लोकाः ९४००२७७०३५६०००००। वर्णाः ३००८०८८६५१३९२०००००।

इदि विवागसुत्तंगं एकादसं गदं—इति विपाकसूत्रांग एकादशं गतं।

विपाकसूत्र नामक ग्यारहवें अङ्ग में एक करोड़ चौरासी लाख नित्य (मध्यम) पद हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से परिणत शुभाशुभ कर्मों की बहु शक्ति, मध्यम शक्ति तथा तीव्र मन्द अनुभाग जिसमें विस्तार रूप से वर्णन किया जाता है। वा विपाक का अर्थ है उदय फल देना। उस फलदान शक्ति का वर्णन करने वाला विपाकसूत्र है॥ ६८॥

विशिष्ट या नाना प्रकार के पाक को विपाक कहते हैं। अनन्तानुबन्धि आदि (तीव्र मन्द आदि) कषायों के निमित्त से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के विशिष्ट पाक का होना विपाक है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव लक्षण निमित्त भेद से उत्पन्न हुआ नाना प्रकार का कर्मों का पाक (फल दान शक्ति) को विपाक कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनुभाग या अनुभव है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के तीव्र मन्द मन्दतर आदि फलदान शक्ति का जिसमें कथन है, वह विपाकसूत्र अंग कहलाता है॥ ६९॥

इस अंग के पदों की संख्या एक करोड़, चौरासी लाख है। श्लोक संख्या नौ शंख, चालीस नील, दो खरब, सतहत्तर अरब, तीन करोड़, छप्पन लाख है। इसके अक्षरों की संख्या तीन पद्म, अस्सी नील, अठासी खरब, पैंसठ अरब, तेरह करोड़, बानवे लाख प्रमाण है।

॥ इस प्रकार विपाकसूत्र का कथन समाप्त हुआ॥

ग्यारह अंग के पदों की संख्या

एयारंगपयाणि च कोडीचउपंचदहसुलक्खाइं।
वि सहस्सादो वोच्छे पुव्वपमाणं समासेण॥ ७०॥

एकादशाङ्गपदानि च कोटिचतुष्कपंचदशलक्षाणि।
अपि सहस्रे द्वे वक्ष्ये पूर्वप्रमाणं समासेण॥

एकादशानामङ्गानां पदानि ४१५०२००० । श्लोकाः २१२०२७३३५६-१४९३००० । अक्षराणि—६७८४८७४७३९६७७७६००० ।

इदि एकादसांगानि गदानि—इत्येकादशाङ्गानि गतानि ।

पूर्व प्रमाण के समास (मिलाकर) सर्व ग्यारह अंगों के पदों का प्रमाण चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार प्रमाण है ॥ ७० ॥

सर्व ग्यारह अङ्गों के पदों का प्रमाण चार करोड़, पन्द्रह लाख, दो हजार (४१५०२०००) प्रमाण है।

इन ग्यारह अंगों के श्लोक संख्या इक्कीस शंख, बीस नील, सत्ताइस खरब, तेतीस अरब, छप्पन करोड़, चौदह लाख, तिरानबे हजार (२१, २०,२७,३३,५६,१४,९३०००) प्रमाण है। इस ग्यारह अंग के सर्व अक्षरों का प्रमाण छह पद्म, अठहत्तर शंख, अड़तालीस नील, चौहत्तर खरब, तेरह अरब, छयानवे करोड़, सतहत्तर लाख, छियत्तर हजार (६,७८,४८, ७४,७३,९६,७७,७६०००) प्रमाण है।

॥ इस प्रकार ग्यारह अंगों का वर्णन समाप्त हुआ ॥

बारहवें दृष्टिवाद अंग का कथन

दिट्ठिप्पवादमंगं परियम्मं सुत्त पुव्वगं चेव ।
पढमाणुओग चूलिय पंचपयारं णमंसामि ॥ ७१ ॥

दृष्टिप्रवादमङ्गं परिकर्म सूत्रं पूर्वाङ्गं चैव ।
प्रथमानुयोगं चूलिका पंचप्रकारं नमामि ॥

परिकर्म, सूत्र, पूर्वांग, प्रथमानुयोग और चूलिका के भेद से पाँच प्रकार के दृष्टिप्रवाद अंग को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ७१ ॥

तत्थ पयाणि पंच यणभ णभ छ पंच अट्ठ छड सुण्णं ।
अंक कमेण य णेयाणि जिणागमे णिच्चं ॥ ७२ ॥

तत्र पदानि पंच नभो नभः षट् पंच अष्ट षट् अष्ट शून्यं ।
अंकं क्रमेण च ज्ञेयानि जिनागमे नित्यं ॥

दृष्टिवादाङ्ग पद संख्या १०८६८५६००५ । श्लोकाः ५५५२५८०१८-७३९४२७१०७ । वर्ण संख्या १७७६८२५६५९९६६१६६७४४० ।

दिट्ठीणं तिण्णि सया तेसट्ठीणं वि मिच्छवायाणं ।
जत्थ णिराकरणं खलु तण्णामं दिट्ठिवादंगं ॥ ७३ ॥

दृष्टीनां त्रिशतानि त्रिषष्टेः मिथ्यावादानां।
यत्र निराकारणं खलु तन्नाम दृष्टिवादाङ्गम् ॥

तं जहा—तद्यथा—

किरियावायदिट्ठीणं कोक्कल–कंठेविद्धि–कोसिय–हरिमंसु–मांधाविय–रोमस–मुंड–अस्सलायणादीणं असीदिसदं (१८०)

क्रियावादिनां कौत्कल–कंठेविद्धि–कौशिक–हरिश्मश्रु–मांधपिक–रोमश–मुंड–आश्वलायनादीनां आशीतिशतं (१८०)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उस दृष्टिवाद जिनागम में पाँच शून्य, शून्य, छह पाँच आठ छह आठ शून्य और एक इन अंकों को "अंकानां वामतो गति" इस नियम क्रम से व्यास करने से एक सौ आठ करोड़, अड़सठ लाख, छप्पन हजार, पाँच (१०८,६८,५६००५) मध्यम पदों की संख्या जानना चाहिए ॥ ७२ ॥

दृष्टिवाद अंग की पद संख्या एक सौ आठ करोड़, अड़सठ लाख, छप्पन हजार पाँच है (१०८,६८,५६००५)। इस अंग की श्लोक संख्या पाँच पद्म, पचपन शंख, पच्चीस नील, अस्सी खरब, अठारह अरब, तेहत्तर करोड़, चौरानवें लाख, सत्ताईस हजार एक सौ सात (५५५२५८०१८-७३९४२७१०७) है। इस अंग के अक्षरों की संख्या एक सौ सतहत्तर पद्म, अड़सठ शंख, पच्चीस नील, पैंसठ खरब, निन्यानवें अरब, छ्यासठ करोड़, सोलह लाख, सड़सठ हजार, चार सौ चालीस (१७७,६८,२५,६५, ९९,६६,१६,६७,४४०) है।

जिस अंग में तीन सौ त्रेसठ मिथ्यावादियों (मिथ्यादृष्टियों) का निराकरण किया जाता है, उसको दृष्टिवाद अंग कहते हैं ॥ ७३ ॥

मूल में क्रियादृष्टि, अक्रियादृष्टि, अज्ञानदृष्टि और विनयदृष्टि के भेद से दृष्टियाँ चार प्रकार की हैं।

इसमें क्रियादृष्टियों (क्रियावादियों) के एक सौ अस्सी भेद हैं। जैसे प्रथम 'अस्ति' ऐसा पद लिखना। उस 'अस्ति' के चार भेद हैं। स्वचतुष्टय अपेक्षा अस्ति, परचतुष्टय से 'अस्ति' है। 'नित्य अस्ति' अनित्य 'अस्ति'। इन चार पदों के ऊपर 'जीव' 'अजीव' 'आस्रव' 'बंध' 'संवर' 'निर्जरा' 'मोक्ष' 'पुण्य' और 'पाप' रूप नव पदार्थ को लिखना। इसके बाद 'काल' 'ईश्वर' 'आत्मा' 'नियति' 'स्वभाव' इस प्रकार पाँच पद लिखना। इस प्रकार १×४×९×५ का गुणा करने पर १८० भंग होते हैं।

क्रियावादी कहता है—जीव अपने चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति है। पर-

चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति है। यह नित्य है, यह अनित्य है। इस प्रकार अजीव आदि के भेद हैं। जीव, अजीव आदिका अर्थ सुगम है।

कालवाद—काल ही सबको उत्पन्न करता है अर्थात् उत्पन्न होना, मरना, शयन करना, खाना, पीना सर्व कालाधीन है ऐसा एकान्त मानना कालवाद नामक मिथ्यात्व है।

आत्मा अज्ञानी है—ईश्वर से प्रेरित होकर स्वर्ग नरक में जाता है। सुख-दुःख भी ईश्वरकृत है, आत्मा कुछ नहीं करते हैं यह ईश्वरवाद है।

संसार में एक ही महान् आत्मा है, वही पुरुष है, वही देव है, आत्मा ही सर्व व्यापक है, सर्वांग में छुपा हुआ है, अर्थात् शरीर सबको दीखता है, परन्तु आत्मा किसी को नहीं दीखता है। इत्यादि कथन करना आत्मवाद नामक मिथ्यात्व है।

जो जिस समय, जिस नियम से जैसा होता है वह उस समय वैसा उसी नियम से होता है। ऐसा मानना नियतवाद नामक मिथ्यात्व है।

कंटक, पत्थर आदि जितने पदार्थ हैं उनका तीक्ष्ण होना, कटु होना, मधुर होना आदि सर्व स्वभाव से ही होता है। निर्हेतुक सर्व वस्तु को मानना स्वभाववाद है।

इस प्रकार क्रियावादियों के एक सौ अस्सी भेद होते हैं। क्रियावाद को मानने वाले क्रियावादियों के यह नाम हैं। कौत्कल, कंठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांधपिक, रोमश, मुंड और आश्वलायण आदि।

यह क्रियावादी केवल क्रिया को ही प्रमुख मानते हैं।

अकिरियाबायदिट्ठीणं मरीचि–कविल–उलूय–गग्ग–वग्घभूइ–वदुलि-माठर–मोग्गलायणादोणं चउरासीदि (८४)

अक्रियावाददृष्टीनां मरीचि–कपिल–उलूक–गार्ग–व्याघ्रभूति–वादवलि–माठर–मौद्गलायनादीनां चतुरशीतिः (८४)

अक्रियावादियों के चौरासी भेद हैं। वह इस प्रकार हैं—क्रियावादी 'अस्तिरूप' से सर्व पदार्थ मानता है, परन्तु अक्रियावादी सर्व पदार्थों को 'नास्ति' रूप मानता है। अतः सर्व प्रथम 'नास्ति' पद लिखना। उसके 'स्व' और 'पर' पद लिखना। उसके ऊपर पुण्य-पाप को छोड़कर जीवादि सात पदार्थ लिखना, उनके ऊपर कालवाद, आत्मवाद, नियतिवाद, स्वभाववाद और ईश्वरवाद लिखना। इस प्रकार इन चार पंक्तियों को परस्पर गुणा करने से १×२×२×७×५=७० भंग होते हैं।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात पदार्थ नास्ति रूप हैं। काल की अपेक्षा और नियति की अपेक्षा गुणा करने से १४ भेद होते हैं, इन १४ भेदों को सत्तर भेद मिला देने से अक्रियावादियों के ८४ भेद होते हैं।

अक्रियावादी मिथ्यादृष्टियों के प्रमुख मनुष्यों के नाम निम्न प्रकार हैं। मरीचि, कविल, उलूक, गार्ग, व्याघ्रभूति, बादबलि, माठर, मौद्गलायन आदि। इन्होंने अक्रियावाद मिथ्यात्व की स्थापना की थी। अक्रियावादी पुरुषार्थ का क्रिया से कार्य की सिद्धि नहीं मानते हैं।

अज्ञानवादियों ६७ भेदों का वर्णन—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अण्णाणदिट्ठीणं सायल्ल–वक्कल–कुहुमि–सच्चमुगि–णारायण–कठ–मज्झंदिण–भोय–पेप्पलायन–वायरायण–सिद्धिक्क–देतिकायण–वसु–जेमणिपमुहाणं सगसट्ठी (६७)

अज्ञानदृष्टीनां शाकल्य–वल्कल–कुथुमि–सत्यमुग्रि–नारायण–कठ–माध्यंदिन–भोज–पैप्पलायन–वादरायण–स्विष्टिक–दैत्यकायन–वसु–जैमिनि-प्रमुखानां सप्तषष्टिः (६७)

अज्ञानवादी अज्ञान को ही मुख्य मानता है, अज्ञान से ही मोक्ष मानता है। पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नव तत्त्व हैं। जो किसी नय (स्वचतुष्टय) की अपेक्षा अस्ति रूप है पर-चतुष्टय की अपेक्षा नास्ति हैं। दोनों धर्म की अपेक्षा अस्ति नास्ति रूप हैं क्योंकि अस्ति नास्ति दोनों एक साथ रहते हैं। दोनों का उच्चारण एक साथ नहीं हो सकता अतः अस्ति अवक्तव्य है। नास्ति भी पूर्ण रूप से कह नहीं सकते, अतः नास्ति अवक्तव्य है। दोनों का एक साथ उच्चारण नहीं हो सकता अतः अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है। इस प्रकार जीवादि नौ पदार्थों का सातभंगों से गुणा करने पर त्रेसठ भंग होते हैं। यह सम्यक्पद है।

अज्ञानवादी, जीवादि पदार्थों का विश्वास नहीं करते हैं अतः अज्ञान-वादी कहते हैं 'जीवास्ति' जीव है, यह कौन जानता है। जीव नास्ति यह कौन जानता है। इसी प्रकार त्रेसठ भंगों पर विश्वास नहीं करने से अज्ञानवादियों के त्रेसठ भेद होते हैं।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा आत्मा शुद्ध पदार्थ है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा आत्मा नव पदार्थ मय है परन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नव पदार्थ से अतीत शुद्ध आत्मा है। परन्तु अज्ञानवादी कहता है कि शुद्धात्म

पदार्थ 'अस्ति' है ऐसा कौन जानता है ? शुद्धात्म पदार्थ नहीं है ऐसा कौन जानता है। अस्ति नास्ति है ऐसा कौन जानता है। और अवक्तव्य है, ऐसा कौन जानते हैं। इस प्रकार ये त्रेसठ भेद में मिलाने से अज्ञानवादियों के सड़सठ भेद होते हैं। अज्ञानवाद की स्थापना करने वाले के नाम निम्न प्रकार हैं—

शाकल्य, वल्कल, कुथुमि, सत्यमुग्रि, नारायण, कंठ, माध्यदिन, भोज, पैप्पलायन, बादरायण, स्विष्टिक (सिद्धिक्क) दैत्यकायन, वसु, जैमिनी प्रमुख हैं।

॥ अक्रियावादी का वर्णन समाप्त ॥

विनयवादियों का कथन

वेणइयदिट्ठीणं वसिट्ठे–पारासर–जउकण–वम्मीक–रोमहस्स–णिसच्च-दत्त-वास–एलापुत्त–उवमणव–इंददत्त–अयच्छिपमुहाणं बत्तीसा (३२)

वैनयिकदृष्टीनां वशिष्ठ–पारासर–जतुकर्ण–वाल्मीकि–रोमहर्षणि–सत्यदत्त–व्यास–एलापुत्र–ओपमन्यव–ऐन्द्रदत्त–आगस्त्यादीनां द्वात्रिंशत्(३२)

इदि मिलिदूण तिसट्ठिउत्तरतिसदीकुवायनिरायण प्ररूवयं।

इति मिलित्वा त्रिषष्ट्युत्तरत्रिशतकुवादनिराकरणं प्ररूपितं।

विनयवादियों के बत्तीस भेद इस प्रकार हैं जो विनय से ही मोक्ष मानते हैं। उनका कथन है कि राजा, ज्ञानी, यति, बाल, वृद्ध, माता और पिता इनका मन, वचन, काय और दान से विनय, सत्कार, सेवा करना चाहिए। इस प्रकार विनय करने योग्य आठ जनों का मन, वचन, काय और दान इन चार भेदों से गुणा करने पर विनयवादियों के बत्तीस भेद होते हैं।

वैनियिक मिथ्यात्व का स्थापन करने वालों का नाम इस प्रकार है—

वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, ऐन्द्रदत्त, आगस्त्यादि बत्तीस मानव हैं। इस प्रकार क्रियावादी-अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के तीन सौ त्रेसठ भेद हैं।

इस प्रकार वे स्वच्छन्द होकर वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं ये तीन सौ त्रेसठ पाखण्ड जीवों को व्याकुलता उत्पन्न करते हैं और अज्ञानी जीवों के चित्त को हरते हैं। तीन सौ त्रेसठ ही मिथ्यात्व नहीं है अपितु असंख्यातलोक प्रमाण हैं। जो वचन के अगम्य हैं। इन सर्व मिथ्यात्व पाखण्डों का निराकरण जिसमें किया जाता है उसको दृष्टिवाद अंग

कहते हैं। अथवा इस बारहवें अंग में अनेक दृष्टियों का वर्णन किया है इसलिए इसको दृष्टिवाद कहते हैं।

इस प्रकार तीन सौ त्रेसठ पाखण्ड (मिथ्या) वादियों का निराकरण करने वाला दृष्टिवाद नामक अंग का प्ररूपण किया।

इदि बारहअंगाणं समरणमिह भावदो मयाणिच्चं।
सुभचंदेण हु रइयं जो भावइ सो सुहं पावइ ॥ ७४ ॥

इति द्वादशाङ्गानां स्मरणमिह भावतो मया नित्यं।
शुभचन्द्रेण हि रचितं यो भावयति स सुखं प्राप्नोति ॥

एयारसुदसमुद्दे जो दिव्वदि दिव्वभावेण।
सो संसारदवाणलजालालीणो ण संपज्जइ ॥ ७५ ॥

एकादशश्रुतसमुद्रे यो दीव्यति[1] दिव्यभावेन।
स संसारदावानलज्वालालीनो न सम्पद्यते ॥

दंसणणाणचरित्तं तवे य पावंति सासणे भणियं।
जो भाविऊण मोक्खं तं जाणह सुदह माहप्पं ॥ ७६ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रेण तपसा च प्राप्नुवन्ति शासने भणितं।
यो भावयित्वा मोक्षं तज्जानीहि श्रुतस्य माहात्म्यं ॥

एयारसंगपयकयपरूवणं मए पमाददोसेण।
भणियं किं पि विरुद्धं सोहंतु सुयोगिणो णिच्चं ॥ ७७ ॥

एकादशाङ्गपदकृतप्ररूपणं मया प्रमाददोषेण।
भणितं किमपि विरुद्धं शोधयन्तु सुयोगिनो नित्यं ॥

इदि सिद्धंतसमुच्चये बारहअङ्गसमरणावराभिहाणे अंगपण्णतीए अङ्गणिरूवणाणाम पढमो अहियारो सम्मत्तो ॥ १ ॥

इस प्रकार मुझ शुभचन्द्र ने भावपूर्वक बारह अंगों का स्मरण करके इस ग्रन्थ की रचना की है। जो भव्य जीव इस ग्रन्थ की भावना करता है, चिन्तन करता है वह सुख को प्राप्त करता है। अर्थात् वह सांसारिक अभ्युदयों का उपयोग कर मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ ७४ ॥

जो भव्य प्राणी इस ग्यारह अंग रूप शास्त्र समुद्र में दिव्य भावों से

१. क्रीडति।

रमण करता है। इसमें मग्न होता है, वह संसार दावानल की ज्वालाओं को प्राप्त नहीं होता। शास्त्र समुद्र में रमण करने वालों को संसार दुखाग्नि स्पर्श नहीं कर सकती। वह सांसारिक दुःखों से छूट जाता है ॥ ७५ ॥

जिनशासन में कथित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की तप के द्वारा भावना करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं। वह सब श्रुत का माहात्म्य है, जानना चाहिए। अर्थात् श्रुत के प्रभाव से मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ ७६ ॥

मैंने इन ग्यारह अंग की तथा इनके पदों की प्ररूपणा की है उसमें प्रमाद दोष से जो कुछ भी विरुद्ध प्ररूपणा हुई हो, अन्यथा कहा गया हो सुयोगीजन इसकी शोधना करें। इसको शुद्ध करें ॥ ७७ ॥

शुभचन्द्राचार्य ने इस गाथा में अपनी लघुता दिखाई है कि मैं छद्मस्थ हूं, छद्मस्थ के द्वारा त्रुटि होना सम्भव है। अतः ज्ञानीजन इसका संशोधन करें। मेरी त्रुटियों पर मुझे क्षमा प्रदान करें।

॥ इस प्रकार अंग प्ररूपणा नामक प्रथम अधिकार सतहत्तर गाथाओं में समाप्त हुआ ॥

चतुर्दशपूर्वाङ्ग प्रज्ञप्तिः

चौदह पूर्वांग प्रज्ञप्ति का कथन

परियम्मं पंचविहं परिये कम्माणि गणिदसुत्ताणि ।
जत्थ तदो तं भणियं सुणह पयारे हु तस्सावि ।। १ ।।

परिकर्म पंचविधं परितः कर्माणि गणितसूत्राणि ।
यत्र ततस्तद्भणितं श्रृणुत प्रकारान् हि तस्यापि ॥

दृष्टिवाद अंग के पाँच अधिकार हैं, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, चूलिका और पूर्वगत । इनमें प्रथम परिकर्म के लक्षण को कहते हैं ।

चारों तरफ से कर्मों का गणित करण सूत्रों का जिसमें कथन है उसको परिकर्म कहते हैं । अर्थात् जिसमें कर्मों का तथा क्षेत्र (द्वीप, समुद्र आदि) का वर्णन है । इसके चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीप-सागर प्रज्ञप्ति और व्याख्या प्रज्ञप्ति ये पाँच भेद कहे हैं । उसके प्रकारों का कथन करता हूँ । हे भव्य, तुम सावधानीपूर्वक सुनो ॥ १ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चन्द्रप्रज्ञप्ति का कथन

चन्दस्साउ विमाणे परिया रिद्धी च अयण गमणं च ।
सयलद्धपायगहणं वण्णेदि वि चंदपण्णत्ती ।। २ ।।

चन्द्रस्यायुः विमानानि परिवारमृद्धि च अयनं गमनं च ।
सकलार्द्धपादग्रहणं वर्णयत्यपि चन्द्रप्रज्ञप्तिः ॥

छत्तीसलक्खपंचसहस्सपययाण चंदपण्णत्ति ।
षट्त्रिंशल्लक्षपंचसहस्रपदानां चन्द्रप्रज्ञप्तिः ।

पद ३६०५००० । श्लोकाः १८४१७३९०६०५०७५०० । वर्ण ५८९३-५६४९९३६२२४०००० ।

जो चन्द्रमा की आयु, विमान, परिवार, ऋद्धि, अयन, गमन, हानि-वृद्धि, ऊँचाई, सकलांश, अर्धांश, चतुर्थांश का ग्रहण आदि का वर्णन करता है वह चन्द्रप्रज्ञप्ति नामक परिकर्म है । जैसे चन्द्रमा की आयु एक पल्य एवं एक लाख वर्ष की है । एक चन्द्रमा का परिवार विमानों का परिमाण देवांगना आदि का कथन है ।। २ ।।

चन्द्रप्रज्ञप्ति के पदों का प्रमाण छत्तीस लाख, पाँच हजार है । इसके श्लोकों की संख्या एक शंख, चौरासी नील, सत्रह खरब, उनचालीस अरब,

छह करोड़, पाँच लाख, सात हजार, पाँच सौ प्रमाण है। इसके अक्षरों की संख्या पाँच पद्म, नवासी शंख, पैंतीस नील, चौसठ खरब, निन्यानवे अरब, छत्तीस करोड़, बाईस लाख, चालीस हजार है।

सूर्य प्रज्ञप्ति का कथन

सहस्सतियं पणलक्खा पयाणि पण्णत्तियाकस्स ॥ ३ ॥

सहस्रत्रिकं पंचलक्षाणि पदानि प्रज्ञप्तावर्कस्य ।

सूरस्सायु विमाणे परिया रिद्धी य अयणपरिमाणं ।
तत्तावतमेगहणं वण्णेदि वि सूरपण्णत्ती ॥ ४ ॥

सूर्यस्यायुः विमानानि परिवारमृद्धि चायनपरिमाणं ।
तत्तावन्मात्रग्रहणं वर्णयति सूर्यप्रज्ञप्तिः ॥

पयाणि—५०३००० । श्लोकाः २५६९७४९६४६१६५०० ।
अक्षर—८२२३१९८८६७६६४००० ।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सूर्य प्रज्ञप्ति के पदों की संख्या पाँच लाख तीन हजार है। सूर्य प्रज्ञप्ति, सूर्य की आयु, विमान, परिवार, ऋद्धि, अयन (दक्षिणायन, उत्तरायण आदि) गमन (एक मूहूर्त में कितने योजन गमन करता है, किस-किस ऋतुओं में, किस गलियों में गमन करता है) उनके परिमाण का कथन तथा बिम्ब की ऊँचाई दिन की हानि वृद्धि, किरणों का प्रमाण, प्रकाश सकलांश, अर्द्धांश, चतुर्थांश आदि का वर्णन करता है ॥ ३–४ ॥

सूर्य प्रज्ञप्ति के पदों की संख्या पाँच लाख, तीन हजार है। इसके श्लोक की संख्या पच्चीस नील, उनहत्तर खरब, चौहत्तर अरब, छियानबे करोड़, सोलह हजार, पाँच सौ है। इसके अक्षरों की संख्या आठ शंख, बाईस नील, इकतीस खरब, अठानबे अरब, छियासी करोड़, छिहत्तर लाख, चौसठ हजार प्रमाण है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति का कथन

जंबूदीवे मेरू एक्को कुलसेलछक्क वणसंडा ।
छव्वीसं वीसं च दहा वि य वीसं वक्खारणग वस्सा ॥ ५ ॥

जम्बूद्वीपे मेरुरेकः कुलशैलषट्कं वनखंडाः ।
षड्विंशतिः विंशतिश्च द्रहा अपि च विंशतिः वक्षारनगा वर्षाः ॥

जम्बूद्वीप में एक मेरु है छह कुलाचल (हिमवन, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि, शिखरिणी) हैं। छब्बीस वन खंड (प्रत्येक कुलाचल दोनों अन्त भागों में समस्त ऋतुओं के फूल और फलों के भार से नम्रीभूत

वृक्षों से युक्त छह् वनखण्ड, दो भूतारण्य, दो देवारण्य और १६ वक्षार-गिरि के वन खण्ड सब मिलाकर छब्बीस वन खण्ड) हैं। कोई आचार्य यमकगिरि और मेघगिरि के बीच पाँच द्रह्, देव कुरु में और पाँच उत्तर कुरु में मानते हैं परन्तु कोई आचार्य सुदर्शन मेरु के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में पाँच-पाँच द्रह् मानते हैं अतः बीस-द्रह् होते हैं। यद्यपि वक्षारगिरि १६ हैं परन्तु तिलोयपण्णत्ति में वक्षारगिरि और चार गज दंत को मिलाने से बीस वक्षारगिरि माने हैं अतः १६ वक्षारगिरि हो सकते हैं ॥ ५ ॥

चोत्तीसं भोगधरा छक्कं वेंतरसुराणमावासा ।
जम्बूसालमलिरुक्खा विदेउ चारि णाहिगिरी ॥ ६ ॥

चतुस्त्रिंशत् भोगधराः षट्कं वेंतरसुराणमावासाः ।
जम्बूशाल्मलिवृक्षा विदेहाः चत्वारो नाभिगिरयः ॥

चौतीस भोगभूमि, छह् व्यन्तर देवों का आवास, जम्बूशाल्मलि वृक्ष, चार विदेह और चार नाभिगिरि है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ

इसमें चौंतीस भोगभूमि कही हैं—परन्तु भोगभूमि तो छह् ही कही हैं। एक भरत, एक ऐरावत और बत्तीस विदेह की अपेक्षा कर्म-भूमि चौंतीस होती है। हो सकता है यहाँ पर 'भोगधरा' का अर्थ कर्मभूमि है।

छह् कुलाचल पर्वतों पर व्यन्तर देवों के नगर हैं। उसकी अपेक्षा छह् व्यन्तरों के निवास हो सकते हैं। पूर्व में समवायांग में व्यन्तरों के छह् आवास का उल्लेख है। परन्तु खुलासा नहीं है। जम्बू और शाल्मलि ये दो वृक्ष हैं। ये दोनों वृक्ष रमणीय और अनादिनिधन हैं, तथा एक लाख चालीस हजार एक सौ बीस परिवार वृक्षों से युक्त हैं।

दो पूर्व विदेह और दो पश्चिम विदेह की अपेक्षा चार विदेह हैं। अर्थात् सीता और सीतोदा नदी के कारण पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह दो रूप में विभाजित हो जाते हैं। हिमवन, हरि, रम्यक और हैरण्य में एक-एक नाभिगिरि है। अतः चार नाभिगिरि हैं। इन नाभिगिरि पर्वतों पर व्यन्तर देव निवास करते हैं।

सुण्णणवसुण्णदुगणवसत्तरअंककमेण णईसंखा । १७९२०९०
वण्णेदि जंवुदीवापण्णत्ती पयाणि जत्थत्थि ॥ ७ ॥

मार्गदर्शक :-

शून्यनवशून्यद्विकनवसप्तदशाङ्कक्रमेण नदीसंख्याः।
वर्ण्यन्ते जम्बूदीपप्रज्ञप्तौ पदानि यत्र सन्ति ॥

शून्य, नौ, शून्य, दो, नौ, सत्रह अंक क्रम से (अंकों की वामतोगति होती है।) अतः (१७९२०९०) सत्रह लाख, बानबे हजार, नब्बे नदियों का प्रमाण है। इन सबका वर्णन जिसमें है वह जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति है ॥ ७ ॥

विशेषार्थ

भरतक्षेत्र की २८ हजार दो नदियाँ हैं, हेमवत क्षेत्र में छप्पन हजार दो नदियाँ हैं। हरिवर्ष क्षेत्र में एक लाख बारह हजार दो हैं। हैरण्य में छप्पन हजार दो हैं और ऐरावत में २८ हजार दो हैं। अतः इन छह क्षेत्रों की नदियों का प्रमाण तीन लाख बानबे हजार बारह है। विदेह क्षेत्र में १४०००७८ हैं। उसमें एक लाख अड़सठ हजार नदियाँ देवकुरु में और उत्तरकुरु में बहती हैं।

विदेह क्षेत्र में नदी संख्या इस प्रकार है—सीता, सीतोदा, क्षेत्र नदी चौंसठ, विभंगा नदी १२, सीता-सीतोदा की परिवार नदी एक लाख अड़सठ हजार हैं। क्षेत्र नदी की परिवार नदी आठ लाख छियानबे हजार हैं। विभंगा नदी की परिवार नदी तीन लाख छत्तीस हजार हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण विदेह क्षेत्र की नदियाँ चौदह लाख अठहत्तर हैं, अतः सर्व जम्बूद्वीप की नदियों का प्रमाण सत्रह लाख, बानबे हजार, नब्बे नदियाँ हैं।

इस प्रकार जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में जम्बूद्वीप स्थित सुदर्शन मेरु, छह कुलाचल, छब्बीस वन खण्ड, बीस द्रह, बीस वक्षार-पर्वत, चौंतीस भोगधरा (कर्मभूमि) छह व्यन्तरों का आवास, जम्बूवृक्ष, शाल्मलीवृक्ष, चार विदेह, चार नाभिगिरि, सत्रह लाख बानबे हजार नब्बे नदियाँ, विजयार्द्ध चौंतीस, दो सौ कांचनगिरि, आठ दिग्गजेन्द्र, पाँच सौ अड़सठ कूट, सात भरत आदि क्षेत्र, दो सौ यमकगिरि आदि का तीन लाख पच्चीस हजार पदों के द्वारा वर्णन करता है।

इस जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के तीन लाख, पच्चीस हजार पद हैं। श्लोक संख्या सोलह नील, साठ खरब, सैंतीस अरब, पचास करोड़, उन्नीस लाख, सत्यासी हजार, पाँच सौ हैं। वर्ण संख्या का प्रमाण पाँच शंख, इकतीस नील, बत्तीस खरब, छह करोड़, छत्तीस लाख है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति का कथन

तियसुणपणवग्गतियलक्खा, दीवजलहिपण्णत्ती।
अढाइ (जा) उधारसायरमिद दीवजलहिस्स ॥ ८ ॥

त्रिकशून्यपंचत्र्यग्रत्रिकलक्षाणि द्वीपजलधिप्रज्ञप्तौ ।
सार्धद्वयोद्धारसागरमितं द्विपजलधीनां ॥

पदानि ३२५००० । श्लोक १६६०३७५०१९८७५०० । वर्ण ५३१३-२०००६३६००००० ।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में अढाई उद्धार सागर प्रमाण द्वीप समुद्रों का वर्णन है। अर्थात् जम्बूद्वीप आदि स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त पच्चीस कोटा-कोटि उद्धार पल्य प्रमाण द्वीपसमुद्र का विस्तार, उसमें देव आदि का विस्तार रूप से कथन किया गया है ॥ ८ ॥

वित्थारं सट्ठाणं तत्थठियजोइसाण ठाणाणं ।
भोमाणं............तत्थाऽकिट्टिमजिणाणं च ॥ ९ ॥

विस्तारं संस्थानं तत्रस्थितज्योतिषां स्थानानां ।
भोमानां...............तत्राकृत्रिमजिनानां च ॥

पासादवासतोरणमंडवमुहमंडवादिमालाणं ।
दिवसायरपरियम्मे करेदि वित्थार वण्णणयं ॥ १० ॥

प्रासादव्यासतोरणमंडपमुखमंडवादिमालानां ।
द्वीपसागरपरिकर्मणि क्रियते विस्तारेण वर्णनं ॥

बावण्णं छत्तीसं लक्खसहस्सं पयस्स परिमाणं । ५२३६००० ।

द्विपंचाशत् षट्त्रिंशल्लक्षसहस्रं पदानां परिमाणं ।

सारे द्वीप समुद्रों में स्थित ज्योतिषदेवों के स्थान, व्यन्तर देवों के भवन उनमें स्थित अकृत्रिम जिनमन्दिर, उनमें स्थित प्रसाद, उनका व्यास, तोरण मंडप, मुख मंडप का माला, द्वीपसागर आदि का विस्तार से कथन किया जाता है ॥ ९ ॥

एक राजू लम्बा चौड़ा और एक लाख योजन ऊँचा तिर्यग्लोक है। उसमें पच्चीस कोटा-कोटि उद्धार पल्यों के रोमों के प्रमाण द्वीप एवं समुद्रों की संख्या है, इनमें आधे द्वीप हैं और आधे समुद्र हैं। यह द्वीप और समुद्र समवृत्त है। इसमें प्रथम जम्बूद्वीप है, अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र है। जम्बूद्वीप एक लाख योजन विस्तार वाला है। उसके आगे-आगे द्वीप समुद्रों का विस्तार द्विगुणा द्विगुणा है। इनमें पर्वत, नदी आदि स्थित हैं। इनमें ४५८ (चार सौ अट्ठावन) अकृत्रिम जिनमन्दिर हैं।

इनमें जम्बूद्वीप की जगति शाल्मली वृक्ष आदि पर व्यन्तर देवों के भवन तथा भवनों में जिन मन्दिर हैं। उनकी ऊँचाई, उनमें स्थित वेदिका,

जिन बिम्ब, जिन के अष्टमंगल, सनत्कुमार और सर्वाह्न यक्ष, श्रीदेवी, श्रुतदेवी, धूपघट, माला आदि का वर्णन तथा उनके तोरण प्रासाद आदि का कथन द्वीपसागर प्रज्ञप्ति के द्वारा होता है। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति के पदों का प्रमाण बावन लाख छत्तीस हजार है॥ १०–११ ॥

व्याख्या प्रज्ञप्ति का कथन

वक्खापण्णत्तीए तियसुण्णछत्तिचउडंका ॥ ११ ॥ ८४३६०००।

व्याख्याप्रज्ञप्तौ त्रिकशून्यषट्त्रिकचतुरष्टाङ्काः ॥

व्याख्याप्रज्ञप्ति परिकर्म के पदों का प्रमाण चौरासी लाख छत्तीस हजार है, अथवा तीन शून्य छह तीन चार आठ क्रम से है। ८४३६००० प्रमाण है ॥ ११ ॥

जोऽरूविरूविजीवाजीवाईणं च दव्वणिवहाणं।
भव्वाभव्वाणं पि य भेयं परिमाण लक्खणयं ॥ १२ ॥

या अरूपिरूपिजीवाजीवानां च द्रव्यनिवहानां।
भव्याभव्यानामपि च भेदं परिमाणं लक्षणं ॥

सिद्धाणं खलु अणंतरपरंपरासिद्धिठाणपत्ताणं।
अण्णेसिं वच्छण्णं वित्थारं करेदि पण्णत्ती ॥ १३ ॥

सिद्धानां खलु अनन्तरपरंपरासिद्धिस्थानप्राप्तानां।
अन्येषां विस्तीर्णं विस्तारं करोति प्रज्ञप्तिः ॥

पणपण्णत्तिपयाणि य णहाणि तिय पंचसुण्णइगिअट्ठ।
इगिकोडिजुदाणि पुणो एवं परियम्म सम्मत्तं ॥ १४ ॥

पंचप्रज्ञप्तिपदानि च नभांसि त्रीणि पंचशून्यैकाष्टैक-।
कोटियुतानि पुनरेवं परिकर्म समाप्तं ॥

पयाइं १८१०५०००।

यह व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक परिक्रम चौरासी लाख, छत्तीस हजार पदों के द्वारा रूपी-अरूपी, जीव, अजीव द्रव्यों के समूह का तथा भव्य-अभव्य जीवों के भेद परिमाण, लक्षण आदि का और अनन्त सिद्ध, परम्परा सिद्ध, स्थान प्राप्त सिद्ध तथा अन्य का भी विस्तार पूर्वक वर्णन करता है॥ १२॥

विशेषार्थ

जैसे रूपी और अरूपी के भेद से अजीव द्रव्य दो प्रकार का है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार अजीव द्रव्य अरूपी (स्पर्श, रस, गन्ध,

और वर्ण से रहित) हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी (स्पर्श, गन्ध, रस, वर्ण से युक्त) है।

जीव द्रव्य अरूपी है, यद्यपि कर्मबद्ध आत्मा पुद्गलमय शरीर सहित होने से रूपी दीख रहा है, परन्तु वास्तव में अमूर्तिक है। जीव के दो भेद हैं भव्य और अभव्य। जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के प्रकट होने की शक्ति है वह भव्य कहलाते हैं। उनसे विपरीत अभव्य हैं। आसन्न भव्य और दूर भव्य की अपेक्षा भव्य के भी दो भेद हैं। अनन्तर सिद्ध (एक सिद्ध के मोक्ष जाने के बाद) अन्तराल पड़ने के बाद मोक्ष में गये हैं। तथा बिना अनन्त के बिना गये वे परम्परा सिद्ध हैं आदि अनेक भेद प्रभेदों का वर्णन जिसमें किया जाता है वह व्याख्याप्रज्ञप्ति परिकर्म है। पाँचों प्रज्ञप्तियों के पदों का परिमाण तीन शून्य, पाँच, शून्य, एक, आठ और एक सहित (१८१०५०००) एक करोड़, इक्यासी लाख, पाँच हजार है॥ १३-१४॥

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

॥ इस प्रकार परिक्रम का कथन समाप्त हुआ॥

दृष्टिवाद अंग का कथन

अडसीदीलक्खपयं सुत्तं सूचेदि मिच्छदिट्ठीणं।
वाए इदि खलु जीवो अबंधओ बंधओ वावि॥ १५॥

अष्टाशीतिलक्षपदं सूत्रं सूचयति मिथ्यादृष्टीनां।
वादे इति खलु जीवोऽबन्धको बन्धको वापि॥
पयाणि ८८००००० ।

णिक्कत्ता णिग्गुणओ अभोजओ सप्पयासओ णिच्चो।
परप्पयासकरणो जीवो अत्थेव वा णत्थि॥ १६॥

निष्कर्ता निर्गुणोऽभोजकः स्वप्रकाशको नित्यः।
परप्रकाशकरणो जीवोऽस्त्येव वा नास्ति॥

एवं किरियाणाणादिविणयकुदिट्ठिवायाणं।
वित्थारं जं वोच्छदि तस्स पयारं णिसामेह॥ १७॥

एवं क्रियाज्ञानादिविनयकुदृष्टिवादानां।
विस्तारं यद्ब्रवति तस्य प्रकारं निशाम्यत॥

दृष्टिवाद अंग का सूत्र नाम का अर्थाधिकार अट्ठासी लाख पदों द्वारा मिथ्यादृष्टियों के वाद में जीव अबन्धक ही है, निर्गुण ही है। वा निश्चय से बन्धक (बाँधा हुआ) ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, स्वप्रकाश

(अपने को जानने वाला) ही है, नित्य ही है, परको प्रकाश करने वाला (दूसरे ज्ञेय पदार्थों को जानने वाला) ही है, जीव अस्तिरूप है, वा नास्तिरूप ही है इत्यादि रूप से क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के (तीन सौ त्रेसठ) पाखण्डों का विस्तार पूर्वक वर्णन करता है। आगे उन तीन सौ त्रेसठ मतों का कथन सुनो ॥ १५-१६-१७ ॥

अत्थि सदो परदो वि य णिच्चाणिच्चत्तणेण णवअट्ठा ।
कालीसरप्पणियदि सहावदो होंति तब्भेया ॥ १८ ॥

अस्ति स्वतः परतोऽपि च नित्यानित्यत्वेन नवार्थाः ।
कालेश्वरात्मनियतिस्वभावतः भवन्ति तद्भेदाः ॥

स्वतः अस्ति, परतः अस्ति, नित्य, अनित्य इन चार से जीवादि नौ पदार्थों के साथ गुणा करने से ३६ भेद होते हैं। इन छत्तीस भेदों को काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव इन पांच से गुणा करने पर एक सौ अस्सी भेद होते हैं ॥ १८ ॥

कालवाद का कथन

सव्वं कालो जणयदि भूदं सव्वं विणासदे कालो ।
जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वंचिदुं कालो ॥ १९ ॥

सर्वं कालो जनयति भूतं सर्वं विनाशयति कालः ।
जागर्ति हि सुप्तेष्वपि न शक्यते वंचितुं कालः ॥

इदिकालवादो—इतिकालवादः

काल ही सबको उत्पन्न करता है, और काल ही सब का नाश करता है, सोते हुए प्राणियों में काल ही जागता है, ऐसे काल के ठगने को कौन समर्थ हो सकता है। इस प्रकार काल से ही सबको मानना यह कालवाद का अर्थ है ॥ १९ ॥ इति कालवाद।

ईश्वरवाद का कथन

जीवो अण्णाणी खलु असमत्थो तस्स जं सुहं दुक्खं ।
[1]सग्गं णिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि ॥ २० ॥

जीवोऽज्ञानी खलु असमर्थस्तस्य यत्सुखं दुःखं ।
स्वर्गं नरके गमनं सर्वं ईश्वरकृतं भवति ॥

ईसरवादो—ईश्वरवादः

---

१. 'णायं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि' पाठः पुस्तके। आगमानुसारेण परिवर्तितः।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आत्मा ज्ञान रहित है, अनाथ है अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता, उस आत्मा का सुख-दुःख, स्वर्ग तथा नरक में गमन वगैरह सब ईश्वर का किया हुआ होता है। ऐसे ईश्वर का किया सब कार्य मानना ईश्वरवाद का अर्थ है ॥ २० ॥

आत्मवाद का कथन

देवो पुरिसो एक्को सव्वव्वावी परो महप्पा य ।
सव्वंगविगूढो वि य सचेयणो णिग्गुणोऽकत्ता ॥ २१ ॥

देवः पुरुष एकः सर्वव्यापी परो महात्मा च ।
सर्वांगविगूढोऽपि च सचेतनो निर्गुणोऽकर्ता ॥

अप्पवादो—आत्मवादः

संसार में एक ही महान् आत्मा है, वही पुरुष है, वही देव है और वह सबमें व्यापक है, सर्वांगपने से अगम्य (छुपा हुआ) है, चेतना सहित है, निर्गुण है और उत्कृष्ट है। इस तरह आत्म स्वरूप से सबको मानना आत्मवाद का अर्थ है ॥ २१ ॥

नियतिवाद का कथन

जेण जदा जं तु जहा णियमेण य जस्स होइ तं तु तदा ।
तस्स तहा तेण हवे इदि वादो णियडिवादो दु ॥ २२ ॥

येन यदा यत्तु यथा नियमेन च यस्य भवति तत्तु तदा ।
तस्य तथा तेन भवेदिति वादो नियतिवादस्तु ॥

णिगडिवादो—नियतिवादः ।

जो जिस समय जिससे जैसे जिसके नियम से होता है वह उस समय उससे तैसे उसके ही होता है ऐसा नियम से ही सब वस्तु को मानना उसे नियतिवाद कहते हैं ॥ २२ ॥

स्वभाववाद का कथन

सव्वं सहावदो खलु तिक्खत्तं कंटयाण को करई ।
विविहत्तं णरमियपसुविहंगमाणं सहावो य ॥ २३ ॥

सर्वं स्वभावतः खलु तीक्ष्णत्वं कंटकानां कः करोति ।
विविधत्वं नरमृगपशुविहंगानां स्वभावश्च ॥

सहाववादो—स्वभाववादः

काँटे को आदि लेकर जो तीक्ष्ण (चुभने वाली) वस्तु है उनके तीक्ष्णपना कौन करता है? और नर, मृग तथा पक्षी आदिकों के अनेक तरहपना जो पाया जाता है उसे कौन करता है? ऐसा प्रश्न होने पर यही उत्तर मिलता है कि सबमें स्वभाव ही है।

ऐसे सबको कारण के बिना स्वभाव से ही मानना स्वभाववाद का अर्थ है॥ २३॥

इस प्रकार कालादि की अपेक्षा एकान्त पक्ष के ग्रहण कर लेने से क्रियावाद होता है।

एवं चदुणवपणयाणं रयणं काऊणं असीदिसदकिरियावादाणं भंगा। तं जहा। कालादो जीवो सदा अत्थि १, कालादो जीवो परदो अत्थि २, कालादो जीवो णिच्चो अत्थि ३, कालादो जीवो अणिच्चो अत्थि ४, इदि अजीवादिसु अट्ठसु भंगा णादव्वा मासिदूण भंगा असीदिसदं १८० हवंति।

एवं चतुर्नवपंचानां रचनां कृत्वा अशीतिशतक्रियावादानां भंगाः। तद्यथा—कालतो जीवः स्वतोऽस्ति १, कालतो जीवः परतोऽस्ति २, कालतो जीवो नित्योऽस्ति ३, कालतो जीवोऽनित्योऽस्ति ४, इति अजीवादिषु अष्टसु भंगा ज्ञातव्याः...........आश्रित्य भंगा अशीतिशतं १८० भवन्ति।

काल[1]	ईश्वर	आत्मा	नियति	स्वभाव				
जीव	अजीव	पुण्य	पाप	आस्रव	संवर	निर्जरा	बंध	मोक्ष
स्वतः	परतः	नित्य	अनित्य					
अस्ति								

इस प्रकार चार नौ पाँच की रचना करने से एक सौ अस्सी क्रियावादियों के भंग होते हैं। जैसे काल से जीव सदा स्वतः अस्ति है। काल से जीव परतः अस्ति है। काल से जीव नित्य है। काल से जीव अनित्य है। इस प्रकार जीव के चार भेद हुए हैं। इसी प्रकार अजीव आदि आठ

१. काल भेद ३६, ईश्वर भेद ३६, आत्म भेद ३६, नियति भेद ३६ स्वभाव भेद ३६ एवं १८०।

पदार्थों के चार-चार भेद होने से सर्व छत्तीस भेद होते हैं। यह काल की अपेक्षा छत्तीस भेद हैं। इसी प्रकार ईश्वर, आत्मा, नियति और पौरुषवाद के भी छत्तीस-छत्तीस भेद होने से क्रियावादियों के एक सौ अस्सी भेद होते हैं।

क्रियावादियों के एक सौ अस्सी भेद का चार्ट—

काल	ईश्वर	आत्मा	नियति	स्वभाव				
जीव	अजीव	आस्रव	बंध	संवर	निर्जरा	मोक्ष	पुण्य	पाप
स्वतः	परतः	नित्य	अनित्य					
अस्ति								

॥ इस प्रकार क्रियावादियों का कथन समाप्त हुआ ॥

अह अकिरियावाईणो वियप्पा—अथ अक्रियावादिनां विकल्पाः।

अब अक्रियावादियों का कथन करते हैं—

सत्तपयत्था वि सदो परदो णत्थित्ति पंतिचदुजादा।
कालादिया वि भंगा सत्तरि अक्किरियवाईणं ॥ २४ ॥

सप्तपदार्था अपि स्वतः परतो नास्तीति पंक्तिचतुष्कजाताः।
कालादिका अपि भंगाः सप्ततिः अक्रियावादिनां ॥

णियडीदो कालादो सत्तपदत्थाण पंतितियजादा।
चउदसभंगा होंति हु एवं चुलसीदि विण्णेया ॥ २५ ॥

नियतितः कालतः सप्तपदार्थानां पंक्तित्रिजाताः।
चतुर्दशभंगा भवन्ति हि एवं चतुरशीतिर्विज्ञेयाः ॥

कालादो जीवो सदो णत्थि १, कालादो जीवो परदो णत्थि २, एवं सत्तरिः भंगा। णियडीदो जीवो णत्थि १, कालादो जीवो णत्थि २, एवं चोद्दसभंगा, सव्वे मिलिदा चुलीसीदी ८४।

कालतो जीवः स्वतो नास्ति १, कालतो जीवः परतो नास्ति २, एवं सप्ततिः भंगाः। नियतितो जीवो नास्ति १, कालतो जीवो नास्ति २, एवं चतुर्दश भंगाः। सर्वे मिलित्वा चतुरशीतिः ८४।

काल	ईश्वर	आत्मा	नियति	स्वभाव		
जीव	अजीव	आस्रव	बंध	संवर	निर्जरा	मोक्ष
स्वतः	परतः					
नास्ति						

नियति	काल					
जीव	अजीव	आस्रव	बंध	संवर	निर्जरा	मोक्ष
नास्ति						

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात पदार्थों का स्वतः नास्ति, परतः नास्ति इसकी चार पंक्ति करना, पुनः काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव इन पाँच से गुणा करने से अक्रियावाद के सत्तर भेद होते हैं। १×२×७×५=७० ॥ २४ ॥

विशेषार्थ

प्रथम "नास्तिपद" लिखना, उसके ऊपर जीवादि सात पदार्थ लिखना, उसके ऊपर 'नियति' 'काल' ऐसे दो पद लिखना। इस प्रकार तीन पंक्तियों से गुणा करने पर १×७×२=१४ भेद नास्ति के साथ होते हैं। इन चौदह् भेदों को उपरि कथित सत्तर भेदों में मिला देने से अक्रियावादी के चौरासी भेद होते हैं।

काल से जीव स्वतः नास्ति, काल से जीव परतः नास्ति इस प्रकार अजीव आदि सात पदार्थों के साथ भेद करने से काल की अपेक्षा १४ (चौदह) भेद होते हैं। उसी प्रकार ईश्वर, आत्मा, स्वभाव, नियति के भी चौदह्-चौदह् भेद होते हैं। सारे मिलकर सत्तर भेद होते हैं। इन जीवादि सात पदार्थों का नास्ति के साथ 'नियति' और काल की अपेक्षा चौदह् भेद होते हैं उनको मिलाने से अक्रियावादी के चौरासी भेद होते हैं ॥ २५ ॥

काल	ईश्वर	आत्मा	नियति	स्वभाव		
जीव	अजीव	आस्रव	बंध	संवर	निर्जरा	मोक्ष
स्वतः	परतः					
नास्ति						

नियति	काल					
जीव	अजीव	आस्रव	बंध	संवर	निर्जरा	मोक्ष
नास्ति						

मार्गदर्शक :– आचार्य श्री सुविधिसागर जी

॥ इस प्रकार अक्रियावादी का कथन समाप्त हुआ ॥

अब अज्ञानवाद का कथन करते हैं

को णाणइ णव अत्थे सत्तमसत्तुभयमवच्चमेव इदि ।
अवयणजुद सत्तत्तयं इदि भंगा होंति तेसट्ठी ॥२६॥

को जानाति नवार्थान् सत्वमसत्वमुभयमवक्तव्यमेवेति ।
अवचनयुतं सप्ततयं इति भंगा भवन्ति त्रिषष्टिः ॥

अस्ति	नास्ति	उभय	अवक्तव्य	अ. अ.	ना. अ.	अ.ना.अ.

जीव	अजीव	पुण्य	पाप	आस्रव	बन्ध	संवर	निर्जरा	मोक्ष

जीवादिक नवपदार्थों में से एक-एक के सात भंग होते हैं—जैसे 'जीव अस्ति रूप है ऐसा कौन जानता है' यह एक भंग हुआ। इसी प्रकार जीव 'नास्ति रूप है ऐसा कौन जानता है।' (२) 'जीव' अस्ति नास्ति रूप है ऐसा कौन जानता है। (३) 'जीव' अवक्तव्य है ऐसा कौन जानता है। (४) 'जीव' अस्ति अवक्तव्य है ऐसा कौन जानता है। (५) 'जीव' नास्ति अवक्तव्य है ऐसा कौन जानता है। (६) 'जीव' अस्ति नास्ति अवक्तव्य है ऐसा कौन जानता है। (७) इस प्रकार जीव पदार्थ के सात भंग हैं, उसी प्रकार अजीव आदि के भी सात भंग होते हैं। सबका जोड़ करने से अज्ञानवादी के त्रेसठ भंग होते हैं। अर्थात् नौ पदार्थों का अस्ति आदि सात भेदों से गुणा करने पर ६३ भेद होते हैं ॥ २६ ॥

अस्ति	नास्ति	अस्ति नास्ति	अवक्तव्य	अस्ति अवक्तव्य	नास्ति अवक्तव्य	अस्ति नास्ति अवक्तव्य

जीव	अजीव	आस्रव	बंध	संवर	निर्जरा	मोक्ष	पुण्य	पाप

अण्णाणवाइभेया जीवादण्णाणभावसंजुत्ता ।
तेसट्ठी जिणभणिया मिच्छाभावेण संतत्ता ।। २७ ।।
अज्ञानवादिभेदाः जीवादज्ञानभावसंयुक्ताः ।
त्रिषष्टिः जिनभणिता मिथ्यात्वभावेन संतप्ताः ।।

कोई आचार्य अज्ञानवादी के सड़सठ[1] भेद मानते हैं—इन त्रेसठ भेदों में चार भेद और मिलाने से सड़सठ भेद होते हैं। वे चार भेद निम्न प्रकार हैं। 'प्रथम शुद्ध पदार्थ ऐसा लिखना, उसके ऊपर अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य यह चार लिखना, इन दोनों पंक्तियों से चार भंग उत्पन्न होते हैं। जैसे शुद्ध पदार्थ अस्ति रूप है या नास्ति रूप है, अस्ति-नास्ति रूप है या अवक्तव्य है, ऐसे कौन जानता है। इन चार भंगों को पूर्वोक्त त्रेसठ भंगों में मिला देने से अज्ञानवादियों के ६७ (सड़सठ) भेद होते हैं।

इस प्रकार मिथ्यात्व से संतप्त जीवादि अज्ञान भाव से संयुक्त अज्ञानवाद के त्रेसठ भेद जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। इस अज्ञानवाद से मोहित होकर जीव संसार में भ्रमण करता है ।। २७ ।।

।। इस प्रकार अज्ञानवाद का कथन समाप्त हुआ ।।

वैनेयिक वादी का वर्णन

मणवयणदेहदाणगविणओ णिवदेवणाणिजदिउढ्ढे ।
बाले मादरपियरे कायव्वो चेदि अट्ठ चदु ।।२८।।
मनोवचनदेहदानगविनयो नृपदेवज्ञानियति वृद्धेषु ।
बाले मातापित्रोः कर्तव्यश्चेति अष्ट चतुः ।।

एवं विणयवादो बत्तीसा ३२—एवं वैनयिकवादः द्वात्रिंशत् ३२

---

१. को जाणइ सत्तचऊ भावं सुद्धं खु दोणिपंत्तिभवा ।
चत्तारि होंति एवं अण्णाणीणं तु सत्तट्ठी ।। १ ।।
को जानाति सत्वचतुष्कं भावं शुद्धं खलु द्विपंक्तिभवाः ।
चत्वारो भवन्त्येवं अज्ञानिनां तु सप्तषष्टिः ।।

जो गुण अवगुण की परीक्षा न करके केवल विनय से ही मोक्ष मानता है वैनेयिकवादी मिथ्यादृष्टि है उसके बत्तीस भेद निम्न प्रकार हैं—

राजा, देव, ज्ञानी, यति, वृद्ध, बालक, माता और पिता इन आठों का मन[1] से, वचन[2] से, काय[3] से और दान[4] से सत्कार करना चाहिये। इस प्रकार वैनेयिकवादी के आठ गुणीत चार अर्थात् बत्तीस भेद होते हैं ॥२८॥

॥ इस प्रकार वैनेयिकवादी के बत्तीस भेदों का कथन समाप्त हुआ ॥

एवं सच्छंददिट्ठीणं[5] .... विआउलकारणं ।
तिसट्ठितिसया णेया सव्वसंसारकारणं ॥ २९ ॥

एवं स्वच्छंददृष्टीनां[6] .... व्याकुलकारणं ।
त्रिषष्टिः त्रिशतानि ज्ञेयानि सर्वसंसारकारणानि ॥

इस प्रकार स्वच्छन्द अर्थात् अपने मन माना है श्रद्धान जिनका ऐसे पुरुषों ने मिथ्या मतों की कल्पना की है। जो पाखंडियों के व्याकुलता का कारण है। अर्थात् जो जीवों को व्याकुलता की उत्पादक है तथा संसार की कारणभूत है। संसार भ्रमण की कारण है। उनके तीन सौ त्रेसठ भेद जानना चाहिये। अर्थात् स्वच्छन्द दृष्टिवाले मिथ्यादृष्टियों के द्वारा रचित तीन सौ त्रेसठ मिथ्यात्व भेद जीव को आकुलता उत्पन्न करते हैं। तथा उनके वशीभूत हुआ प्राणी संसार में भटकता रहता है ॥ २९ ॥

आगे अन्य भी एकान्तवादों को कहते हैं—

पउरसेण विणा णत्थि थणक्खीराइसेवणं ।
आलसड्ढो णिरुस्साहो फलं किंचि ण भुंजई ॥ ३० ॥

पौरुषेण विना नास्ति स्तनक्षीरादिसेवनं ।
आलस्याढ्यो निरुत्साहः फलं किंचिन्न भुंक्ते ॥

पुरिसवादो—पौरुषवादः ।

पौरुषवाद—पुरुषार्थवादी पुरुषार्थ से ही सब कुछ मानता है वह कहता है कि आलसी निरुत्साही कुछ भी फल को प्राप्त नहीं कर सकता।

---

१. मन से उनके गुणों का चिन्तन करना।
२. वचन से उनकी स्तुति करना।
३. काय से पैर दबाना आदि सेवा करना।
४. उनको इच्छित वस्तु प्रदान करना।
५. पाखंडिणं। ६. पाखंडिनां।

जैसे स्तनों का दूध पीना विना पुरुषार्थ के कभी नहीं बन सकता। सर्व कार्य की सिद्धि पुरुषार्थ से ही होती है ॥ ३० ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेषार्थ

पुरुषार्थवादी कहता है कि एक महात्मा पुरुष देव जो सर्व व्यापी है, सर्व अंग में निगूढ़ है, निर्गुण है, वह पुरुष ही एक सारे लोक की उत्पत्ति और विनाश का कारण है इत्यादि कथन करना पौरुषवाद मिथ्यात्व है।

दइवा सिज्झदि अत्थो पोरिसं णिप्फलं हवे।
एसो सालसमुत्तुंगो कण्णो हम्मइ संगरे ॥ ३१ ॥

दैवात् सिद्धयति अर्थः पौरुषं निष्फलं भवेत्।
एष सालसमुत्तुंगः कर्णः हन्यते संगरे ॥

दइववादो—दैववादः।

दैववाद—केवल दैव (भाग्य) से ही अर्थ की सिद्धि होती है। पुरुषार्थ निष्फल है, पुरुषार्थ से अर्थ की सिद्धि नहीं होती। देखो पुरुषार्थ करने वाला, किले के समान ऊँचा (उत्तंग महापुरुषार्थी) कर्ण राजा युद्ध में मारा गया। अतः पुरुषार्थ से कार्य सिद्ध नहीं होता—भाग्य से होता है ऐसा एकान्त मानना दैववाद मिथ्यात्व है ॥ ३१ ॥

एवके.ण चक्के.ण रहो ण यादि संजोगमेवेति वंदति तण्णा।
अंधो य पंगू य वणं पविट्ठा ते संपजुत्ता णयरं पविट्ठा ॥३२॥

एकेन चक्रेण रथो न याति संयोगमेवेति वदन्ति तज्ज्ञाः।
अन्धश्च पंगुश्च वनं प्रविष्टौ तौ सम्प्रयुक्तौ नगरे प्रविष्टौ ॥

संजोयवादो—संयोगवादः।

संयोगवाद—कोई संयोग से ही कार्य सिद्धि मानते हैं। वह कहते हैं कि एक पहिये से रथ नहीं चल सकता। जैसे अन्धा और लँगड़ा ये दोनों वन में प्रविष्ट हुए थे सो किसी समय अग्नि लग जाने पर अन्धे के कन्धे पर लँगड़े के चढ़ जाने पर अर्थात् दोनों के मिल जाने पर नगर में प्रवेश कर जाते हैं ॥ ३२ ॥

लोयपसिद्धी सत्था पंचाली पंचपंडवत्थी ही।
सइउट्ठिया ण रुज्झइ मिलिदेहिं सुरेहिं दुव्वारा ॥ ३३ ॥

लोकेप्रासद्धिः साथा पचालो पचपाडवस्त्रो हि।
सकृदुत्थिता न रुद्धचते मिलितैः सुरैः दुर्वारा॥

लोयवादो—लोकवादः।

एक ही बार उठी हुई लोक प्रसिद्धि देवों से भी मिलकर दूर नहीं हो सकती। अन्य की बात क्या है—जैसे कि द्रौपदी पंच भर्त्तारी (पाँच पांडवों की पत्नी है) है असत्य किंवदन्ती लोक में प्रसिद्ध है, इसको दूर करने के लिए कौन समर्थ है॥ ३३॥

विशेषार्थ

जिस समय द्रौपदी ने अर्जुन के गले में वरमाला डाली थी उस समय द्रौपदी के पापोदय के कारण माला टूटकर उसके पुष्प पाँचों पांडवों पर बिखर गए। लोक में प्रसिद्धि हुई कि द्रौपदी ने पाँच पुरुषों का वरण किया। परन्तु द्रौपदी पतिव्रता शील शिरोमणि नारी थी। पूर्वभवोपार्जित पाप के कारण द्रौपदी को असत्य लांछन लगा। उस लोक प्रसिद्धि को मिटाने के लिए पार्श्वनाथ और महावीर भी समर्थ नहीं हुए। यह लोकवाद नामक मिथ्यात्व है, यह लोक प्रवृत्ति को ही सर्वस्व मानता है।

इस प्रकार और भी मिथ्यात्व हैं—जैसे गोशाला प्रवर्तित, आजीविक आदि पाखंडियों को त्रैराशिक कहते हैं। क्योंकि वह सारी वस्तुओं को त्रयात्मक मानता है जैसे जीव, अजीव, जीवाजीव। लोक-अलोक लोकाकाश। अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति, नय भी तीन प्रकार का मानता है—जैसे द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक-प्रयायार्थिक इत्यादि त्रैराशिक मिथ्यात्व है।

ज्ञानस्वरूप के अन्तः प्रविष्टत्व प्रसिद्ध प्रतिभासमान सारी वस्तु का संवेदन ही पारमार्थिक तत्त्व है। जितनी वस्तु ज्ञान में अवभासित होती है वह ज्ञानरूप है। जैसे संवेदन में आने वाले सुख-दुःख आदि। अतः ज्ञान को छोड़कर अन्य पुद्गलादिक नहीं है। ज्ञानाद्वैत ही सब कुछ है, ऐसा मानना विज्ञानाद्वैत मिथ्यात्व है। —न्याय० कु० च०, पृ० १५९।

जितना संसार दृष्टिगोचर होता है, वह सर्व शब्दमय है। बाह्य और अभ्यन्तर अर्थ में उत्पद्यमान पदार्थ शब्द से ही अनुविद्ध है ऐसा कहना शब्द ब्रह्मवाद मिथ्यात्व है।

सत्व, रज और तम की साम्य अवस्था को प्रधान कहते हैं। प्रधानवाद सांख्यवाद है, क्योंकि सांख्य पुरुष (आत्मा) के अर्थापेक्ष प्रकृति परिणाम को ही लोक मानता है अर्थात् आत्म निरपेक्ष प्रकृति ही सब कुछ

करती है। आत्मा निर्लेपक है, अकर्त्ता है इत्यादि कथन करना प्रधानवाद नामक मिथ्यात्व है। मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द्रव्यैकान्तवादी (नित्यवादी) कपिल दर्शन है, सांख्यमत है, जो द्रव्यार्थिक नय को ही स्वीकार कर पदार्थों को नित्य ही कहता है इत्यादि अनेक प्रकार के मिथ्यात्व हैं।

वयणवहा जावदिया णयवादा होंति चेव तावदिया।
णयवादा जावदिया तावदिया होंति परसमया ॥३४॥

वचनपथा यावन्तो नयवादा भवन्ति चैव तावन्तः।
नयवादा यावन्तो तावन्तो भवन्ति परसमयाः ॥

इदि सुतं गदं—इति सूत्रं गतं।

बहुत कहने से क्या! सारांश इतना है कि जितने वचन बोलने के मार्ग हैं, उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही पर समय हैं। अर्थात् परस्पर निरपेक्ष वचन मिथ्यात्व हैं ॥ ३४ ॥

विशेषार्थ

इन सर्व मिथ्यावादों का वर्णन करके खण्डन जिसमें पाया जाता है वह सूत्र अथवा इस सूत्र में चार अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में अबंध भावों का कथन है। दूसरे भेद में श्रुति, स्मृति और पुराणों के अर्थ का निरूपण है वा त्रैराशिक वादियों का वर्णन है और चतुर्थ अधिकार में स्व समय और पर समय का निरूपण है।

इस प्रकार जो मिथ्यादृष्टियों का अनेक प्रकार के कुवादियों का वर्णन करके खण्डन करता है वह सूत्र है।

॥ इति दृष्टिवाद सूत्र का कथन समाप्त हुआ ॥

पढमं मिच्छादिट्ठि अव्वदिकं आसिदूण पडिज्जं।
अणुयोगो अहियारो वुत्तो पढमाणुयोगो सो ॥ ३५ ॥

प्रथमं मिथ्यादृष्टिं अव्युत्पन्नं आश्रित्य प्रतिपाद्यं।
अनुयोगोऽधिकार उक्तः प्रथमानुयोगः सः ॥

चउवीसं तित्थयरा वइंणो ? बारह छखंडभरहस्स।
णवबलदेवा किण्हा णव पडिसत्तू पुराणाइं ॥ ३६ ॥

चतुर्विशतिस्तीर्थंकरान् जयिनो द्वादश षट्खण्डभरतस्य ।
नव बलदेवान् कृष्णान् नव प्रतिशत्रून् पुराणानि ॥

तेसिं वण्णति पिया माई णयराणि चिण्ह पुव्वभवे ।
पंच सहस्सपयाणि य जत्थ हु सो होदि अहियारो ॥ ३७ ॥

तेषां वर्णयन्ति पितॄन् मातृः नगराणि चिह्नानि पूर्वभवान् ।
पंचसहस्रपदानि च यत्र हि स भवति अधिकारः ॥

पयाणि–५००० ।

दृष्टिवाद का तीसरा भेद प्रथमानुयोग है। मिथ्यादृष्टि, अव्रतिक और अव्युत्पन्न (अज्ञानी) को प्रथम कहते हैं और अधिकार को अनुयोग कहते हैं। मिथ्यादृष्टि, अव्रतिक और अव्युत्पन्न रूप प्रतिपाद्य का आश्रय लेकर जो अनुयोग प्रवृत्त होता है, उसको प्रथमानुयोग कहते हैं ॥ ३५ ॥

इस परिक्रम में वृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकरों के, भरत क्षेत्र के षट्-खण्ड को जीतने वाले भरत चक्रवर्ती आदि बारह चक्रवर्तियों के, रामचन्द्र आदि नौ बलदेवों के, कृष्ण आदि नव नारायणों के, नारायणों के प्रति-शत्रु जरासन्ध आदि प्रतिनारायणों के जीवन का कथन है। तथा चतु-र्विंशति तीर्थंकर, उनके माता का, पिता का, नगर का, चिह्न का और भव का जो अधिकार पाँच हजार पदों के द्वारा वर्णन करता है वह प्रथमा-नुयोग कहलाता है ॥ ३६ ॥

अर्थात् इस प्रथमानुयोग में चतुर्विंशति तीर्थंकरों के चरित्र का वर्णन है उनका नाम क्या है, उनका चिह्न क्या है, उनके माता-पिता का नाम, उनके जन्म स्थान का नाम, निर्वाण स्थान, उनके पूर्व भव आदि का कथन किया जाता है। उसी प्रकार चक्रवर्ती आदि त्रेसठशलाका पुरुषों का कथन प्रथमानुयोग में किया गया है। इसके पद पाँच हजार हैं ॥ ३७ ॥

॥ इस प्रकार प्रथमानुयोग का कथन समाप्त हुआ ॥

उत्पादपूर्व का वर्णन

कोडिपयं उप्पादं पुव्वं जीवादिदव्वणियरस्स ।
उप्पादव्वयधुव्वादणेयधम्माण पूरणयं ॥ ३८ ॥

कोटिपदं उत्पादं पूर्वं जीवादिद्रव्यनिकरस्य ।
उत्पादव्ययध्रौव्याद्यनेकधर्माणां पूरणकं ॥

पयाणि १००००००० । तं जहा—

दव्वाणं णाणाणयुवण्णवगोयरकमजोगवज्जसंभाविदुप्पादव्वयधुव्वाणि

तियालगोयरा णव धम्मा हवंति। तप्परिणदं गव्वमविणवहा। उप्पण्ण-मुप्पज्जमाणमुप्पस्समाणं, णट्ठं णस्समाणं, णखमाणं, ठिदं तिट्ठमाणं विस्संतमिदि णवाणं तं धम्माणमुव्वण्णादीणं पत्तेयं णवविहत्तणसंभवावो एयासीदिवियप्पधम्मपरिणददव्ववण्णणं यं करेदि तमुप्पादपुव्वं।

द्रव्याणां नानानयोपनयगोचरक्रमयौगपद्यसंभवितोत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिकालगोचरा नवधर्मा भवन्ति। तत्परिणतं द्रव्यमपि नवधा। उत्पन्नं उत्पद्यमानं उत्पत्स्यमानं, नष्टं नश्यत् नंक्ष्यत्, स्थितं तिष्ठत् स्थास्यत् इति नवानां तेषां धर्माणां उत्पन्नादीनां प्रत्येकं नवविधत्वसंभवात् एकाशीति-विकल्पधर्मपरिणतद्रव्यवर्णनं यत्करोति तदुत्पादपूर्वम्।

अब दृष्टिवाद अङ्ग का चतुर्थ भेद चौदह पूर्व रूप है। उसमें प्रथम उत्पादपूर्व का कथन करते हैं—

इस लोक में तीर्थङ्करों ने तीर्थ प्रवर्तन काल में सकल श्रुत के अर्थ की अवगाहना करने में समर्थ गणधरों का उद्देश्य लेकर पूर्वगत सूत्रार्थ का कथन किया है, वह पूर्व कहलाता है। उसके उत्पादादि चौदह भेद हैं। जो एक करोड़ पदों से युक्त जीवादि द्रव्यों के समूह का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यादि अनेक धर्मों का पूरक उत्पाद पूर्व है॥ ३८॥

जैसे द्रव्यों के नाना नय, उपनय, गोचर क्रम से और युगपत् संभव त्रिकाल गोचर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप नौ धर्म हैं। और उन नौ धर्मों से युक्त (परिणत) होने से द्रव्य भी नौ प्रकार का है। जैसे उत्पन्न (जो उत्पन्न हो चुका है) उत्पद्यमान (जो उत्पन्न हो रहा है)। उत्प-त्स्यमान (जो भविष्य काल में उत्पन्न होगा)। इस प्रकार उत्पाद के तीन भेद हैं।

नष्ट (नष्ट हो चुका है) नश्यत् (नष्ट हो रहा है) और नंक्ष्यत् (भविष्य काल में नष्ट होगा) इस प्रकार व्यय के भी तीन भेद हैं।

स्थित (स्थित हो चुका है) तिष्ठत (स्थित है) और स्थास्यत् (स्थित रहेगा) इस प्रकार उत्पाद आदि नौ धर्मों का प्रत्येक के नौ-नौ भेदों की संभावना होने से द्रव्य के इक्यासी धर्म होते हैं। इन इक्यासी धर्मों से परिणित द्रव्य का जो वर्णन करता है, वह उत्पादपूर्व है।

विशेषार्थ

गुण सत्, द्रव्य सत् और पर्याय सत् के भेद से सत् तीन प्रकार का है। और उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य को सत् कहते हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य

भी नौ-नौ प्रकार का है। जैसे उत्पाद हो चुका है, हो रहा है, होयेगा इत्यादि के भेद से नौ प्रकार का है। इसी प्रकार व्यय भी नो प्रकार का है और ध्रौव्य भी नौ प्रकार का है। इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के ८१ भेद होते हैं। इन ८१ भेदों से युक्त द्रव्य का जो वर्णन करता है, वह उत्पाद पूर्व है। यह उत्पाद पूर्व दश वस्तुगत दो सौ प्राभृतों के एक करोड़ पदों द्वारा जीव, काल और पुद्गल द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का वर्णन करता है।

अग्गस्स वत्थुणो पि हि पहाणभूदस्स णाणमगणंतं।
सुअग्गायणीयपुव्वं अग्गायणसंभवं विदियं ॥ ३९ ॥

अग्रस्य वस्तुनोऽपि हि प्रधानभूतस्य ज्ञानं अयनं।
स्वग्रायणीयपूर्वं अग्रायणसंभवं द्वितीयं ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी म

सत्तभ (स) यसुणयदुणयपंचत्थिसुकायछक्कदव्वाणं।
तच्चाणं सत्तण्हं वण्णदि तं अत्थणियराणं ॥ ४० ॥

सप्तशतसुनयदुर्णयपंचास्तिकायषड्द्रव्याणां।
तत्त्वानां सप्तानां वर्णयति तदर्थनिकरणां ॥

आग्रायणी पूर्व का कथन

अग्र अर्थात् द्वादशांगों में प्रधान भूत वस्तु के अयन (ज्ञान) को आग्रायण कहते हैं और द्वादशांगों में प्रधान वस्तु का कथन करना जिसका प्रयोजन है वह दूसरा आग्राणीय पूर्व है यह सात सौ सुनय, दुर्नय, पंचास्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व रूप पदार्थों के समूह का वर्णन करता है ॥ ३९-४० ॥

भेए लक्खणणियरे छण्णवदीलक्खपयपमाणमिणं।
वेंति जिणा तच्चत्थं णंणमह णरा सुभावेण ॥ ४१ ॥

भेदान् लक्षणनिकरान् षण्णवतिलक्षपदप्रमाणमिदं।
जानन्ति जिनाः तत्त्वार्थं नन्तम्यत नराः ! सुभावेन ॥

पुव्वंतं अवरंतं धुवाधुवच्चवणलद्धिणामाणि।
अद्धुव संपण हि च अत्थं भोमावयज्जं च ॥ ४२ ॥

पूर्वान्तं अवरांतं ध्रुवाध्रुवच्यवनलब्धिनामानि।
अध्रुव संप्रणिधि च अर्थं भौभावयाद्यं च ॥

सव्वत्थकप्पणीयं णाणमदीदं अणागदं कालं।
सिद्धिमुवज्जं वंदे चउदहवत्थूणि विदियस्स ॥ ४३ ॥

सर्वार्थकल्पनीयं ज्ञानामतीतं मनागतं कालः।
सिद्धि प्राप्तं वन्दे चतुर्दश वस्तूनि द्वितियस्य ॥

यह अंग सम्पूर्ण पदार्थों के भेद और उनके लक्षणों का छ्यानवे लाख पदों के द्वारा वर्णन करता है। हे भव्य मनुष्यो उस तत्त्वार्थ को तुम शुभ भावों से नमस्कार करो ॥ ४१ ॥

विशेष यह पूर्व चौदह वस्तु गत दो सौ अस्सी प्राभृतों के छ्यानवे लाख पदों के द्वारा अंगों के अर्थात् प्रधानभूत पदार्थों का वर्णन (कथन) करता है।

आग्रायणीयपूर्व के अर्थाधिकार चौदह प्रकार के हैं वे इस प्रकार हैं—

पूर्वान्त, अपरान्त, ध्रुव, अध्रुव, चयनलब्धि, अध्रुवं संप्रणधि (प्रणधि-कल्प) अर्थ, भोमा, व्रतादिक, सर्वार्थ, कल्पनीय, ज्ञान, अतीत, अनागत काल में सिद्धि को प्राप्त इस प्रकार आग्राणीय नामक द्वितीय पूर्व की चौदह वस्तु के नाम हैं ॥ ४२-४३ ॥

जिसमें गुण और पर्यायें रहती हैं उसको वस्तु कहते हैं। उसी प्रकार जिसमें अक्षर पद संघात आदि का समूह पाया जाता है। अर्थात् जिसमें बीस प्राभृत, चौबीस अनुयोग आदि पाये जाते हैं उसको वस्तु कहते हैं।

विशेषार्थ

आग्रायणीय पूर्व में चौदह वस्तु हैं।

पूर्वान्त—यद्यपि पूर्वान्त आदि का खुलासा देखने में नहीं आया तथापि शब्दार्थ से वर्णन किया जाता है।

जैसे पूर्व का अर्थ काल का प्रमाण है। अथवा तीर्थ प्रवर्तन काल में तीर्थंकर भगवान् सकल श्रुत के अर्थ की अवगाहन करने में समर्थ गणधर का निमित्त पाकर पूर्व, पूर्वगत और सूत्रार्थ को कहते हैं वह पूर्व कहलाते हैं। उसी पूर्व, पूर्वगत और सूत्रार्थ की गणधर आचारांग आदि के क्रम से रचना करते हैं।

अन्त का अर्थ धर्म, अवयव, नाश आदि अनेक हैं उसमें पूर्व के धर्म का अवयव का वर्णन जिसमें है वह पूर्वान्त कहलाता है। पर शब्द के अर्थ अनेक होते हैं, कहीं दूसरे अर्थ में होता है जैसे यहाँ 'पर' दूसरा है।

अवयव प्रधान एकान्त आदि अनेक अर्थ में है। यहाँ पर 'पर' शब्द का अर्थ एकान्त लिया जाय और 'अ' नय 'समास में' न परा 'अपरा' अर्थात् जिसमें अनेक धर्मों का वा स्याद्वाद[1] का कथन किया जाता है वह अपरान्त है।

ध्रुव वर्गणाओं का वर्णन जिसमें है वह ध्रुव वस्तु है।

अध्रुव वर्गणा आदि का वर्णन जिसमें है वह अध्रुव है।

पुद्गल या जीव में विवक्षित पर्याय का नाश होना चयन है। उसकी लब्धि का जो कथन है वह चयनलब्धि है। अथवा जिस वस्तु में कर्मों का बन्ध, नाश, बन्ध विधि, नाश विधि आदि का वर्णन है। इस च्यवन (चयन) लब्धि के अनुसार षट् खण्डागम की रचना हुई है।

अथवा इसमें चयनविधि और लब्धिविधि का विधान है। चयन का अर्थ विनाश और लब्धि का अर्थ उत्पाद है। अतः इसका यह चयनलब्धि यह सार्थक नाम है। यह च्यवनलब्धि अक्षर, पद संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोग रूप द्वारों की अपेक्षा संख्यात है तथा अर्थ की अपेक्षा अनन्त प्रमाण है। इसमें स्वसमय का कथन है, इसलिए स्वसमय वक्तव्यता है। इसके कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोग द्वार हैं, जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

अध्रुव संप्रणधि का अर्थ माया है, सं का अर्थ समीचीन है जिसमें सम्यक् प्रकार से माया के भेदों का वर्णन है। अर्थात् प्रणिधान का अर्थ परिणाम भी है। सम्यक् परिणामों का वर्णन है वह संप्रणिधि है। अध्रुव-परिवर्तनशील प्रणिधि।

अर्थ का अर्थ गणधर देव का नाम है, क्योंकि वे आगमसूत्र के बिना सकल श्रुतज्ञान रूप पर्याय से परिणत रहते हैं इसके समान जो श्रुतज्ञान होता वह अर्थ सम श्रुतज्ञान है।[2]

अथवा अर्थ बीज पद को कहते हैं इससे जो समस्त श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह अर्थ सम श्रुतज्ञान है।

अर्थ प्रकरण, संभव और अभिप्राय आदि शब्द न्याय से कल्पित किये हुए अर्थाधिगम्य कहलाते हैं। जैसे रोटी खाते हुए "सैंधव लाओ" ऐसा कहने पर नमक ही लाना, घोड़ा नहीं ऐसा स्पष्ट अभिप्राय न्याय से सिद्ध है। इत्यादि अर्थ कथन जिस वस्तु में है वह अर्थ वस्तु है।

---

१. परत्वं चान्यत्वं तच्चैकान्त भेदाविनाभावि। —स्याद्वादमञ्जरी।

२. ध. १४/५, ६ १२/८/

भौमा—भौम का अर्थ व्यन्तरदेव वा भूमि में होने वाली वस्तु का नाम है। जिस वस्तु में व्यन्तरों के आवास तथा भूमिगत वस्तु आदि का वर्णन वह भौमा है।

व्रतादिक—पंच महाव्रत आदि मुनि धर्म का तथा पंचाणुव्रत आदि श्रावक धर्म का विस्तार पूर्वक वर्णन जिसमें है उस वस्तु का नाम व्रतादिक है।

सर्वार्थ—जिस वस्तु में सर्व अर्थ वा सर्व प्रयोजन का वर्णन है वह सर्वार्थ है।

जिसमें श्रावक और साधुओं के कल्प का निर्णय किया जाता है, वह कल्प निर्णय है। करने योग्य क्रियाओं का निर्णय किया जाता है।

अतीत काल में जितने सिद्ध हुए हैं तथा अतीत काल में जीव किस प्रकार कर्मों से बँधे हुए हैं आदि का कथन करने वाला अतीत काल सिद्ध बद्ध है।

भविष्य काल में जोव किस प्रकार सिद्ध होगा और किन-किन कारणों में भविष्य में कर्म बाँधेंगे इत्यादि का कथन है, वह अनागत काल सिद्ध बद्ध है[1]।

पूर्वान्त, अपरान्त, ध्रुव, अध्रुव, च्यवनलब्धि, अध्रुवसंप्रणिधि, अर्थ, भोमावय, सर्वार्थकल्पनीय, ज्ञान, अतीतकाल, अनागत काल, सिद्धि और उपाधि ये नाम भी श्रुतभक्ति में कहे गये हैं।

पंचमवत्थुचउत्थपाहुडयस्माणुयोगणामाणि ।
कियवेयणे तहेव फंसण कम्मपयडिकं तह ॥ ४४ ॥

पंचमवस्तुचतुर्थप्राभृतस्यानुयोगनामानि ।
............तथैव स्पर्शनं कर्म प्रकृतिकं तथा ॥

बंधणणिबंधणपावकमाणुक्कममहब्भुदयमोक्खा ।
संकम लेस्सा च तहा लेस्साए कम्म परिणामा ॥ ४५ ॥

बंधननिबंधनोपक्रमानुपक्रमाभ्युदय मोक्षाः ।
संक्रमः लेश्या च तथा लेश्यायाः कर्म परिणामाः ॥

---

१. इन चौदह वस्तुओं का खुलासा कहीं पर भी नहीं मिला है। यह अर्थ इनके शब्दों के संकेत से किया है। युक्त हो तो रखना, नहीं तो मिटा देना।

सादमसादं दि (वि) ग्घं हस्सं भवं धारणीयसण्णं च।
पुरुपोग्गलप्पणामं णिहत्तअहिहत्तणामाणि ॥ ४६ ॥

सातमसातं विघ्नं हास्यं भयं धारणीयसंज्ञं च।
पुरुपुद्गलप्रमाणं निधत्त्यनिधत्त्वनामानि ॥

सणकाचिदमणकाचिदमहकम्मट्ठिदिपच्छिमखंधा।
अप्पबहुत्तं च तहा तद्दाराणं च चउवीसं ॥ ४७ ॥

सकाचितानकाचितमथकर्मस्थितिपश्चिमस्कन्धाः।
अल्पबहुत्वं च तथा तद्द्वाराणां च चतुर्विंशतिः ॥

आग्रायणीय नामक द्वितीय पूर्व की च्यवनलब्धि नामक पंचम वस्तु के चतुर्थ प्राभृत के चौबीस अनुयोग द्वार के नाम इस प्रकार हैं—कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति, सुबन्धन, निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याक्रम, लेश्या परिणाम, सात-असात, दीर्घह्रस्व, भरधारणीय, पुद्गलत्व, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित-अनिकाचित, कर्म-स्थिति और पश्चिमस्कन्ध ॥ ४४–४५–४६–४७ ॥

विशेषार्थ

कृति अनुयोग—कृति-षटखण्डागम के चतुर्थ खण्ड का नाम वेदना है, इसी खण्ड के अन्तर्गत कृति और वेदना अनुयोग द्वार हैं।

कृति[1] अनुयोग द्वार में औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण इन पाँच शरीरों के संघातन[2] और परिशातन रूप कृति का तथा भव के प्रथम और अप्रथम समय में स्थित जीवों के कृति[3] नोकृति[4] और अवक्तव्य[5] रूप संख्याओं का वर्णन है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, गणना, ग्रन्थ, करण और भाव, ये कृति के

१. जो किया जाता है वह कृति शब्द की व्युत्पत्ति है अथवा मूल कारण ही कृति है—/ध ९/४०/१-६८/३२६/ /

२. पाँचों शरीरों में विवक्षित शरीर के परमाणुओं का निर्जरा के बिना जो संयम होता है उसे संघातन कृति कहते हैं। और पाँचों शरीरों में विवक्षित शरीर के पुद्गल स्कन्धों का आगमन और निर्जरा का एक साथ होना संघातनपरिशातन कृति कही जाती है।—ध. ९/४.१.६९।

३. किसी राशि के वर्ग को कृति कहते हैं ३-४ आदि संख्या कृति है।

४. जिस संख्या का वर्ग नहीं होता उसको नोकृति कहते हैं जैसे एक संख्या।

५. बंध का अभाव होकर पुनः जो कर्म बंधते हैं उसको अवक्तव्य बंध कहते हैं।

सात भेद हैं। कृति अधिकार में गणनाकृति की मुख्यता है। यह कृति अनुयोग है।

वेदना अनुयोग—अनुभव करने का नाम वेदना है। जिसका वर्तमान में अनुभव किया जाता है, तथा भविष्य काल में जिसका वेदन किया जायगा वह वेदना है। इस कथन के अनुसार ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के पुद्गल स्कन्ध को वेदना कहा गया है।

जिस अनुयोग द्वार में आठ प्रकार के कर्मों का निक्षेप, नय, नाम, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रत्यय (कारण) स्वामित्व, वेदना, गति, अनन्तर, सन्निकर्ष, परिमाण, भागानुभाग और अल्पबहुत्व इन सोलह अधिकारों के द्वारा वेदन का वर्णन किया गया है वेदना अनुयोग द्वार है। इनका विशेष वर्णन वेदना खंड से जानना चाहिए।

वेदना निक्षेप जो किसी एक निश्चय या निर्णय में क्षेपण करे अर्थात् अनिर्णीत वस्तु का उसके नामादिक के द्वारा निर्णय करावे उसे निक्षेप कहते हैं। उसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की अपेक्षा वेदना चार प्रकार की है।

कौनसी वेदना किस नय का विषय है उसका कथन करना नय वेदना है, इसके भी नैगम आदि अनेक भेद हैं।

नाम वेदना भी एक जीव वेदना एक अजीव वेदना आदि आठ प्रकार की है।

वेदना द्रव्य कर्म वेदना आदि के भेद से वेदना अनेक प्रकार की है।

ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों का वेदन कर्म वेदना है। तथा नो कर्म, नो आगम द्रव्य वेदना सचित्त-अचित्त और मिश्र के भेद से तीन प्रकार की है। उसमें सचित्त द्रव्य वेदना सिद्ध जीव द्रव्य है। अचित्त द्रव्य वेदना धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल आदि द्रव्य हैं। मिश्र संसारी जीव है।

एक आकाश प्रदेश में स्थित अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्यों का वेदन वा क्षेत्र का वेदन क्षेत्र वेदना है। इसी प्रकार किस काल में, किस भाव से, किन कारणों से कर्म का वेदन होता है। कर्मों के वेदन करने का स्वामी कौन है अर्थात् किस कर्म का कौन वेदन करता है, कर्म का वेदन कैसे होता है, किस गति में कौन से कर्म का वेदन होता है। एक कर्म का

वेदन होने के अनन्तर किसका वेदन होता है आदि कथन करने वाला वेदना अनुयोग द्वार है।

स्पर्श अनुयोग—छूने को स्पर्श कहते हैं। स्पर्श अनुयोग द्वार में नाम स्पर्श, स्थापना स्पर्श, द्रव्य स्पर्श, एक क्षेत्र स्पर्श, अनन्तर क्षेत्र स्पर्श, देश स्पर्श, त्वक्स्पर्श, सर्व स्पर्श, स्पर्श स्पर्श, कर्म स्पर्श, बन्ध स्पर्श, भव्य स्पर्श और भाव स्पर्श रूप (१३) तेरह प्रकार के स्पर्श का निक्षेप, नय, नाम, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रत्यय, स्वामित्व, वेदना, गति, अनन्तर, सन्निकर्ष, परिमाण, भागानुभाग और अल्पबहुत्व इन सोलह अधिकारों के द्वारा निरूपण करता है। इनका विशेष वर्णन षट् खण्डागम की १३वीं पुस्तक और वर्गणा खण्ड में किया गया।

कर्म अनुयोग द्वार—

कर्म का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है क्रिया। निक्षेप व्यवस्था के अनुसार नाम कर्म, स्थापना कर्म, द्रव्य कर्म, प्रत्येक कर्म, समवदान कर्म, अधःकर्म, ईर्यापथ कर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म के भेद से कर्म दश प्रकार के हैं। उन दश प्रकार के कर्मों का निक्षेप, नय, नाम, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रत्यय, स्वामित्व, वेदना, गति, अनन्तर, सन्निकर्ष, परिमाण, भागानुभाग और अल्पबहुत्व इन सोलह अधिकारों के द्वारा वर्णन करता है, वह कर्म अनुयोग द्वार है।

ज्ञानावरणादि नाम यह नाम कर्म है।

यह कर्म है। इस प्रकार चित्र पासा आदि में कर्म की स्थापना करना स्थापना कर्म है।

जिस द्रव्य की जो सद्भाव क्रिया है अर्थात् जो-जो द्रव्य अपने स्वभाव में परिणमन करता है, वह द्रव्य कर्म है जैसे—ज्ञान दर्शन रूप से परिणमन करता है, वह द्रव्य कर्म है जैसे ज्ञानदर्शन रूप से परिणमन करना जीव द्रव्य की सद्भाव क्रिया है। वर्ण, गन्ध आदि रूप में परिणमन करना पुद्गल द्रव्य की सद्भाव क्रिया है। जीवों और पुद्गलों के गमनागमन में हेतुरूप से परिणमन करना धर्म और अधर्म द्रव्य की सद्भाव क्रिया है। सब द्रव्यों के परिणमन में हेतु होना काल द्रव्य की सद्भाव क्रिया है। अन्य द्रव्यों के अवकाश दान रूप से परिणमन करना आकाश द्रव्य की सद्भाव क्रिया है।

प्रयोग कर्म—योग के निमित्त से आत्मप्रदेश के जो परिस्पन्दन होता है

उसको प्रयोगकर्म कहते हैं। वह प्रयोगकर्म मन, मन, काय के भेद से तीन प्रकार का है।

समवदान कर्म—जीव आठ प्रकार के, सात प्रकार के या छह प्रकार के कर्मों का ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है, इसलिए यह सब समवदान कर्म है। समवदान का अर्थ विभाग करना है। जीव, मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग से निमित्त से कर्मों को ज्ञानावरणादि रूप से आठ, सात या छह भेद करके ग्रहण करता है। इसलिए इसे समवदान कर्म कहते हैं।

अधःकर्म—औदारिक शरीर के निमित्त से जीव अंग छेदन, परिताप और आरम्भ आदि नाना कार्य करता है उसे अधःकर्म कहते हैं।

ईर्यापथ कर्म—ईर्या अर्थात् केवल योग के निमित्त से जो कर्म होता है वह ईर्यापथ कर्म कहलाता है। यह ग्यारहवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक होता है क्योंकि केवल योग इन्हीं गुणस्थानों में उपलब्ध होता है।

तपः कर्म—रत्नत्रय को प्रगट करने के लिए जो इच्छाओं का निरोध किया जाता है वह तप कहलाता है। इसके बारह भेद हैं। छह अभ्यन्तर तप और छह बाह्य तप हैं।

तपकर्म में बारह प्रकार तपों का वर्णन करके ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यान के फल का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

क्रियाकर्म में साधु श्रावकों के द्वारा की जाने वाली त्रिकाल वन्दना का स्वरूप कहा है।

क्रियाकर्म के छह अधिकार हैं।

१. त्रिःकृत्वा—तीनों संध्याकाल में करना।

२. आत्माधीनता—परवश या किसी ख्याति, पूजा, लाभ की इच्छा न करके आत्मकल्याण के लिए पंच परमेष्ठी, जिनबिम्ब, जिनधर्म, जिनालय, जिनशास्त्र रूप नव देवता की त्रिकाल वन्दना करना।

३. प्रदक्षिणा—वन्दना करते समय गुरु, जिन और जिनग्रह की तीन प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना।

४. त्रि अवनति—अवनति का अर्थ है तीन बार भूमि पर बैठकर नमस्कार करना।

५. चार शिरोनति—चार बार नमस्कार करना।

६. आवर्तन—बारह आवर्तन। क्रियाकर्म के ये छह अधिकार हैं। विशेष विधि—प्रातःकाल, संध्याकाल और मध्याह्नकाल में शुद्ध मन

(स्वाधीनता) से हाथ-पैर धोकर जिनेन्द्र के दर्शन करने से जिसका मन हर्षित हो रहा है वह भव्यात्मा सर्व प्रथम जिनदेव के आगे बैठकर नमस्कार करता है वह प्रथम अवनति है। तत्पश्चात् "भगवान् प्रभु पादावन्दिस्ये" इत्यादि उच्चारण करके नमस्कार करता है। भूमि स्पर्श करके वह दूसरी अवनति है। तत्पश्चात् "णमो अरिहंताणं" आदि सामायिक दण्डक के द्वारा आत्मशुद्धि करके कषाय सहित देह का उत्सर्ग करके (कषाय का और शरीर से ममत्त्व त्याग करके) जिनदेव के अनन्त गुणों का ध्यान करके तथा जिनदेव और जिनालय की स्तुति करके भूमि पर बैठना यह तीसरी अवनति है।

क्रियाकर्म में सर्व प्रथम चैत्यभक्ति के प्रारम्भ में सामायिक दण्डक के बाद में एक शिरोनति 'त्थोस्सामि' आदि पढ़कर एक शिरोनति इसी प्रकार पंच परमेष्ठी के प्रारम्भ के सामायिक दण्डक में एक शिरोनति और 'त्थोस्सामि' के अन्त में एक शिरोनति इस प्रकार दो भक्ति के चार शिरोनति होती हैं। एक-एक शिरोनति में तीन-तीन आवर्तन होते हैं अर्थात् प्रत्येक नमस्कार के प्रारम्भ में मन, वचन, काय की शुद्धि के ज्ञापन करने के लिए तीन आवर्तन किये जाते हैं यह क्रियाकर्म या देव वन्दना विधि है।

कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म, विनयकर्म ये वन्दना या क्रियाकर्म के नामान्तर है।

इस क्रियाकर्म के परिणामों से ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का कर्तन छेदन होता है। इसलिए इसको कृतिकर्म कहते हैं।

इस देव वन्दना से पुण्य कर्म का संचय होता है अतः इसका नाम चितिकर्म भी है।

देव वन्दना में जिनदेव (अर्हन्त) आदि नव देवता की पूजा की जाती है अतः इसे पूजा कर्म कहते हैं।

देव वन्दना (क्रियाकर्म) के द्वारा कर्मों का संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि के द्वारा निराकरण होता है, विनाश होता है अतः इसको विनयकर्म कहते हैं।

जिसे कर्मप्राभृत का ज्ञान है, और उसका उपयोग है उसको भाव कर्म कहते हैं।

इस प्रकार दश प्रकार के कर्म का नाम आदि सोलह अधिकारों के द्वारा विस्तारपूर्वक विवेचन जिस अनुयोग में है वह कर्म अनुयोग द्वार है। इसका विशेष वर्णन वर्गणा खण्ड में किया गया है।

प्रकृति अनुयोग द्वार— प्रकृति, शील और स्वभाव ये एकार्थवाची हैं। ज्ञानावरणादि प्रकृति उनका स्वभाव आदि का वर्णन जिस अनुयोग द्वार में है वह प्रकृति अनुयोग द्वार है।

प्रत्येक अनुयोग में निक्षेप आदि १६ अधिकारों के द्वारा वस्तु की सिद्धि की जाती है, इसमें भी १६ अधिकार हैं। इनके नाम और स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार हैं—

प्रकृति निक्षेप—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप विकल्प से हटाकर जो निश्चय में स्थापित करता है वह निक्षेप है।

प्रकृति निक्षेप चार प्रकार का है—नाम प्रकृति, स्थापना प्रकृति, द्रव्य, प्रकृति और भाव प्रकृति।

प्रकृति नय—कौन से नय की अपेक्षा कौनसा निक्षेप होता है। जैसे—नैगम व्यवहार और संग्रह नय चारों निक्षेपों को स्वीकार करता है। ऋजु-सूत्रनय स्थापना निक्षेप को छोड़कर शेष तीन निक्षेप का कथन करता है।

शब्दनय नाम प्रकृति निक्षेप और भाव प्रकृति निक्षेप को स्वीकार करता है। इत्यादि कथन नय की अपेक्षा है।

जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया की अपेक्षा के बिना किसी का प्रकृति नाम रखना नामप्रकृति है उसके भी जीव, अजीव जीवाजीव आदि आठ भेद है।

किसी वस्तु में यह वह प्रकृति है ऐसा संकल्प करना स्थापना प्रकृति है।

द्रव्य प्रकृति आगम और नो आगम के भेद से दो प्रकार की है। मुख्यतया प्रकृति अनुयोग द्वार आगम द्रव्य प्रकृति और नोआगम द्रव्य प्रकृति का कथन है।

जिस ग्रन्थ में प्रकृति का कथन है—वह आगम द्रव्य प्रकृति है क्योंकि आगम ग्रन्थ श्रुतज्ञान और द्वादशांग एकार्थवाची हैं आगम को जानने वाला परन्तु उसके उपयोग से रहित जीव आगम द्रव्य प्रकृति है।

नो आगम द्रव्य प्रकृति दो प्रकार की है—कर्म प्रकृति और नो-कर्म प्रकृति।

नो आगम नो कर्म द्रव्य प्रकृति अनेक प्रकार की है। उसकी यहाँ मुख्यता नहीं है।

नो आगम द्रव्य प्रकृति आठ प्रकार की है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

बाह्य अर्थ परिच्छेद (स्व पर पदार्थ परिच्छेदक) करने वाली जीव की शक्ति ज्ञान है—उसको आवरण करने वाली ज्ञानावरणीय है। अन्तरंग को विषय करने वाले उपयोग को आवृत करने वाली दर्शनावरणीय है।

जीव के सुख दुःख का उत्पादक वेदनीय कर्म प्रकृति है।

मोहरहित स्वभाव वाले जीव को बाह्य पदार्थों में मोहित करने वाला आत्म स्वरूप को भुलाने वाला मोहनीय कर्म है।

संसार में रोककर रखने वाला आयुकर्म है।

जाति आदि नाना प्रकार के जीव के आकार बनाने वाला नाम कर्म है। उच्च-नीच कुल में उत्पन्न करने वाला गोत्र कर्म है। और दान, लाभ आदि में विघ्न कारक अन्तराय कर्म है।

ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृति पाँच है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण।

तीन सौ छत्तीस प्रकार के मतिज्ञान पर आवरण करने वाली मतिज्ञानावरण तीन सौ छत्तीस प्रकार का है। ज्ञानप्रवाद में मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद लिखे हैं।

पर्याय, पर्याय समास आदि बीस प्रकार के श्रुतज्ञान पर आवरण करने वाली बीस प्रकार का श्रुतज्ञानावरण है।

देशावधि, परमावधि, सर्वावधि और उसके भेद-प्रभेदों का आवरण करने वाली अवधिज्ञानावरण है।

ऋजुमति, विपुलमति, मनःपर्ययज्ञान पर आवरण करने वाली मनःपर्ययज्ञानावरणीय है। और केवलज्ञान पर आवरण करने वाली केवलज्ञानावरणीय है। इस प्रकार कर्म प्रवाद में उल्लेखित कर्म प्रकृतियों का उनकी शक्ति लक्षण आदि का कथन प्रकृति, निक्षेप, प्रकृतिनय, प्रकृति नाम विधान, प्रकृति द्रव्य विधान, प्रकृति क्षेत्र विधान, प्रकृति काल विधान, प्रकृति भाव विधान, प्रकृति प्रत्यय विधान, प्रकृति स्वामित्व विधान, प्रकृति प्रकृति विधान, प्रकृति गति विधान, प्रकृति अन्तर विधान, प्रकृति सन्निकर्ष विधान, प्रकृति परिमाण विधान, प्रकृति भागा-भाग विधान और प्रकृति अल्पबहुत्व इन सोलह अधिकारों के द्वारा अनुयोग में वर्णन किया जाता है। अर्थात् इन १६ अनुयोग के द्वारा प्रकृति का क्षेत्र काल, अल्पबहुत्व आदि का वर्णन किया जाता है।

भाव प्रकृति दो प्रकार की है—आगमभाव और नो आगमभाव प्रकृति।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्थित जिन पराजित आदि जो कर्म ग्रन्थ हैं उनमें उपयुक्त भाव है वह आगमभाव प्रकृति है।

अपने-अपने नाम वाली प्रकृतियों में युक्त आत्मा नो आगमभाव प्रकृति है इन सबका विस्तार वर्गणा खण्ड में किया है वहाँ से जानना चाहिये। इन प्रकृति के भेदों का कथन करने वाला प्रकृति अनुयोग द्वार है।

बन्धन अनुयोग द्वार में बंध, बन्धनीय, बन्धक और बन्ध विधान इन चार प्रकार के बन्धन का कथन है।

किसी को अपने इष्ट स्थान में जाने से रोकने को बन्ध कहते हैं। जैसे गाय आदि को बाँधने वाली रस्सी आदि। पौद्गलिक कर्मों का सम्बन्ध भी आत्मा को अपने इष्ट स्थान मोक्ष में नहीं जाने देता है, संसार में रोक कर रखता है। अतः बन्ध कहलाता है। वा कर्मप्रदेशों का आत्मप्रदेशों में एकक्षेत्रावगाही हो जाना बन्ध है। यहाँ कर्म का प्रकरण है अतः जिससे कर्म बँधे वह कर्मों का बँधना बन्ध है। कषाय सहित जीव कर्म के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करता है वह बन्ध है।

द्रव्य बन्ध और भाव बन्ध की अपेक्षा बन्ध दो प्रकार का है। जिन मिथ्यात्व आदि भावों से कर्म बँधते हैं वे भाव, भाव बन्ध हैं और जो पुद्गल वर्गणाएँ आत्मप्रदेशों पर एक क्षेत्रावगाही होती हैं वे द्रव्यबन्ध हैं।

बन्ध विधान चार प्रकार का है प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध।

प्रकृति का अर्थ स्वभाव है जैसे नीम का स्वभाव कटु। वैसे ही कर्मों का स्वभाव प्रकृति बन्ध है, जैसे ज्ञानावरणी का स्वभाव ज्ञान का आवरण करना आदि।

प्रकृति बन्ध दो प्रकार का है मूल प्रकृतिबन्ध, उत्तर प्रकृतिबन्ध। मूलप्रकृति बन्ध आठ प्रकार का है और उत्तरप्रकृति बन्ध एक सौ अड़तालीस प्रकार है। जिसका विशेष वर्णन कर्मप्रवाद में किया है।

उत्तरप्रकृति बन्ध के दो भेद हैं—एकैकोत्तर प्रकृति बन्ध और अव्वोगाढ प्रकृति बन्ध।

एकैकोत्तर प्रकृति बन्धके, समुत्कीर्त्तन, सर्वबन्ध, नो सर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध, जघन्यबन्ध, अजघन्यबन्ध, सादिबन्ध, अनादिबन्ध, ध्रुवबन्ध, अध्रुवबन्ध, बन्ध स्वामित्वविचय, बन्धकाल, बन्धान्तर, बन्धसन्निकर्ष, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, भागाभागानुगम, परिमाणा-

नुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम यह चौबीस अधिकार हैं।

अव्वोगाढ प्रकृति के भुजगारबन्ध और प्रकृति स्थानबन्ध भेदों का कथन है। इस प्रकार अनेक प्रकार के कर्मों के भेद-प्रभेदों का कथन प्रकृति-बन्ध है।

कर्म बन्ध के बाद जब तक कर्म आत्मप्रदेशों से पृथक् नहीं होते उसको स्थितिबन्ध कहते हैं।

कर्मों में फलदान शक्ति को अनुभाग बन्ध कहते हैं। और कर्मवर्गणाओं के पुंज को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

क्रोध, मान, माया, लोभादि विकार भावों को प्राप्त आत्मा बन्धक है। और उन भावों से आगत पुद्गल वर्गणायें बन्धनीय हैं।

आग्राणीय पूर्व की पंचम च्यनलब्धि के बीस प्राभृत में से चतुर्थ महा-कर्म प्रकृति पाहुड के चौबीस अनुयोग द्वार में से कृति और वेदना का वेदना खण्ड में, स्पर्श, कर्म प्रकृति और बन्धन के बन्ध और बन्धनीय का वर्गणा खण्ड में और बन्ध विधान नामक अनुयोग द्वार का खुद्दा बन्ध में विस्तार से वर्णन किया है। निबन्ध, प्रक्रम, उपक्रम आदि शेष अठारह अनुयोग की प्ररूपणा सत्कर्म में की गई है। इन सबका विशेष वर्णन षट-खण्डागम में अवलोकनीय है। अर्थात् धवला में वर्गणाखण्ड की समाप्ति तथा उपर्युक्त भूतबलि कृत महाबन्ध की सूचना के पश्चात् निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, सातासात, दीर्घ, ह्रस्व, भवधारणीय, पुद्गलात्म, निधत्त, अनिधत्त, सनि-काचित, अनिकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिमस्कन्ध और अल्पबहुत्व इन अट्ठारह अनुयोग द्वारों का कथन किया गया है वहाँ से देखना चाहिये।

अण्णेसिं वत्थूणं पाहुडयस्सावणुयोगयाणं च।
णामाणं उवएसो कालविसेसेण णट्ठो हु॥ ४८॥

अन्येषां वस्तुनां प्राभृतस्यानुयोगानां च।
नाम्नामुपदेशः कालविशेषेण नष्टो हि॥

पयाणि ९६००००० ।

अग्गायणीय पुव्वं गदं—अग्रायणीयपूर्वं गतं।

अन्य वस्तुओं के प्राभृत और अनुयोगों के नाम का उपदेश काल विशेष

से नष्ट हो गया है। अर्थात् शेष वस्तुओं के प्राभृत और अनुयोगों के प्राभ इस समय उपलब्ध नहीं हैं ॥ ४८ ॥

आग्राणीय पूर्व के छयानवें लाख पद हैं और चौदह वस्तु गत दो सौ अस्सी प्राभृत हैं।

॥ इस प्रकार आग्राणीय पूर्व का कथन समाप्त हुआ ॥

वीर्यानुवाद का कथन

विज्जाणुवादपुव्वं वज्जं जीवादिवत्थुसामत्थं।
अणुवादो अणुवण्णणमिह तस्स हवेत्ति णंणमह ॥ ४९ ॥

वीर्यानुवादपूर्वं वीर्यं जीवादिवस्तुसामर्थ्यं।
अनुवादोऽनुवर्णनमिह तस्य भवेदिति नन्नम्यत ॥

तं वण्णदि अप्पबलं परविज्जं उहयविज्जमवि णिच्चं।
खेत्तबलं कालबलं भावबलं तवबलं पुण्णं ॥ ५० ॥

तद्वर्णयति आत्मबलं परवीर्यं उभयवीर्यमपि नित्यं।
क्षेत्रबलं कालबलं भावबलं तपोबलं पूर्णं ॥

दव्वबलं गुणपज्जयविज्ज विज्जाबलं च सव्वबलं।
सत्तरिलक्खपयेहिं पुण्णं पुव्वं तदीयं खु ॥ ५१ ॥

द्रव्यबलं गुणपर्ययवीर्यं विद्याबलं च सर्वबलं।
सप्ततिलक्षपदैः पूर्णं पूर्वं तृतीयं खलु ॥

पयाणि ७०००००० ।

इदि विज्जाणुवाद पुव्वं गदं—इति वीर्यानुवाद पूर्वं गतं।

जीवादि पदार्थों के वीर्य (शक्ति सामर्थ्य) का अनुवाद, अनुवर्णन (कथन) जिसमें होता है उसको वीर्यानुवाद कहते हैं। हे भव्य जीवो ! उस वीर्यानुवाद को तुम नमस्कार करो ॥ ४९ ॥

यह वीर्यानुवाद नामक तृतीय पूर्व आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य, भाववीर्य, तपवीर्य, द्रव्यवीर्य, गुणवीर्य, पर्यायवीर्य, विद्यावीर्य आदि सर्व वीर्यों का सत्तरलाख पदों के द्वारा वर्णन करता है ॥ ५०-५१ ॥

विशेषार्थ

इसमें एक सौ साठ प्राभृत होते हैं और आठ वस्तु होती हैं। द्रव्य की

अपनी शक्ति विशेष को वीर्य कहते हैं। आत्मीय शक्ति दो प्रकार की क्षायोपशमिकी और क्षायिकी। अन्तराय कर्म के अत्यन्त विनाश से उत्पन्न आत्मा की अनन्त शक्ति क्षायिकी है, जिसका दूसरा नाम अनन्तवीर्य है। वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली जो शक्ति है वह क्षायोपशमिक शक्ति है। छद्मस्थ जीवों के क्षायोपशमिक शक्ति होती है और केवली भगवान् के क्षायिकी शक्ति होती है। अथवा वीर्य का दूसरा नाम शक्ति है। वह जीव और अजीव दोनों में है। प्रत्येक द्रव्य में ऐसी सामर्थ्य है कि वह कभी पर रूप नहीं होता है। द्रव्य के प्रत्येक गुण अपने में ही रहते हैं उनका पर गुण रूप परिणमन नहीं होता है। आत्मशक्ति आत्मवीर्य पुद्गल की शक्ति परवीर्य है।

दर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर

दोनों की मिश्रण शक्ति उभयवीर्य है। जैसे आत्मा में अनन्तशक्ति है परन्तु छद्मस्थ आत्मा को यदि अन्नादि खाने को नहीं मिलता है तो शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है और शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाने से आत्मा का उत्साह बुद्धि आदि भी नष्ट हो जाती है अतः क्षायोपशमिक शक्ति उभय शक्ति है।

कुछ कार्य क्षेत्र की अपेक्षा होते हैं जैसे मोक्ष प्राप्ति कर्मभूमि से ही होती है। अन्य क्षेत्र से नहीं। कौन से क्षेत्र में कौन से फल-फूल धान्य उत्पन्न होने की शक्ति है वह सब क्षेत्र शक्ति है।

कोई कार्य काल की अपेक्षा से होते हैं मोक्ष प्राप्त करने का काल जैसे चतुर्थ काल है, आठ वर्ष की अवस्था है उसके पहले मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। अथवा सर्व फल-फूल धान्य शीत, उष्ण आदि काल की अपेक्षा से ही होते हैं। वह काल वीर्य है।

जीव के परिणामों की शक्ति भी विचित्र है, वीतराग मुनिराज के शान्त भावों का निमित्त पाकर जन्म-जात वैरी प्राणी भी अपने वैर को छोड़ देते हैं। निर्मल परिणामों से अशुभ कर्मों का अनुभाग क्षीण हो जाता है। दूसरे प्राणियों के अशुभ भावों के निमित्तवश सामने वाले के भाव भी वैसे हो जाते हैं। वह भाव वीर्य है।

तप शक्ति के प्रभाव से अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, दुःसाध्य कार्य भी सुसाध्य हो जाते हैं वह तप शक्ति है।

प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। वह द्रव्यशक्ति है और प्रत्येक गुण पर रूप परिणमन नहीं करते हैं, वह गुण शक्ति है। पर्यायों की शक्ति पर्याय का निमित्त पाकर कार्य होता है—जैसे नरक, देव पर्याय का

निमित्त से अवधिज्ञान होता है। विद्याओं को सिद्ध करके विद्याधर अनेक रूप विमान घर आदि बनाते हैं वह विद्या शक्ति है। इत्यादि सर्व शक्तियों का कथन जिसमें है वह वीर्यानुवाद है। उसके सत्तरलाख पद हैं।

॥ इस प्रकार वीर्यानुवाद का कथन समाप्त हुआ ॥

अस्ति-नास्ति प्रवाद पूर्व का कथन

सियअत्थिणत्थिपसुहा तेसिं इह रूवणं पवादोत्ति।
अत्थि यदो तो धम्मा अत्थिणत्थिपवादपुव्वं च ॥ ५२ ॥

स्यादस्तिनास्तिप्रमुखास्तेषां इह रूपणं प्रवाद इति।
अस्ति..........................अस्तिनास्तिप्रवादपूर्वं च ॥

णियदव्वखेत्तकालभावे सिय अत्थि वत्थुणिवहं च।
परदव्वखेत्तकाले भावे सिय णत्थि आसित्ता ॥ ५३ ॥

निजद्रव्यक्षेत्रकालभावान् स्यादस्ति वस्तुनिवहं च।
परद्रव्यक्षेत्रकालभावान् स्यान्नास्ति आश्रित्य ॥

सियअत्थिणत्थि कमसो सपरदव्वादिचउजुदं जुगवं।
सियऽवत्तव्वं सेयरदव्वं खेत्तं च भावे च ॥ ५४ ॥

स्यादस्तिनास्ति क्रमशः स्वपरद्रव्यादिचतुर्युतं युगपत्।
स्यादवक्तव्यं स्वपरद्रव्यं क्षेत्रं च भावं च ॥

कथंचित् अस्ति नास्ति की प्रमुखता से जिसमें प्रवाद (कथन) है वह अस्ति-नास्ति प्रवादपूर्व कहलाता है। जैसे—निज (स्व) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा कथंचित् वस्तु का समूह अस्ति रूप है और पर द्रव्य, पर क्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा वस्तु का स्वरूप कथंचित् नास्ति रूप है ॥ ५२ ॥

जब (जिस समय) स्व द्रव्यादि रूप प्रथम धर्म और परद्रव्यादि रूप द्वितीय धर्म यह दोनों धर्म क्रम से विवक्षित होते हैं उस समय कथंचित् अस्ति-नास्ति रूप कहलाता है। क्योंकि दोनों धर्म एक ही वस्तु में एक साथ हैं। अतः वस्तु स्यात् अस्ति-नास्ति रूप है ॥ ५३ ॥

जिस समय स्वद्रव्यादि चतुष्टय और परद्रव्यादि चतुष्टय द्वारा युगपत् वस्तु विवक्षित होती है, उस समय स्याद् अवक्तव्य है। क्योंकि दोनों धर्मों का एक साथ कथन करने की शक्ति वचनों में नहीं है अर्थात् अनुभवगम्य

होते हुए भी वचनों के द्वारा एक साथ दो धर्मों का कथन नहीं हो सकता। अतः वस्तु कथंचित् अवक्तव्य है ॥ ५४ ॥

सिय आसिदूण अत्थि चावत्तव्वं सदव्वदो जुगवं ।
सपरदव्वादीदो सिय णत्थि अव्वत्त्चमिदि जाणे ॥ ५५ ॥

स्यादाश्रित्य अस्ति चावक्तव्यं स्वद्रव्यतो युगपत्।
स्वपरद्रव्यादितः स्यान्नास्ति [1]अवक्तव्यमिति जानीहि ॥

परदव्वखेत्तकालं भावं पडिवज्ज जुगव दव्वादो ।
सिय अत्थि णत्थि अवरं क्रमेण णेयं च सपरं च ॥ ५६ ॥

परद्रव्यक्षेत्रकालान् भावं प्रतिपद्य युगपत् द्रव्यतः ।
स्यादस्ति नास्ति अपरं क्रमेण ज्ञेयं च स्वपरं च ॥

दव्वं खेत्तं कालं भावं जुगवं समासिदूणा व ।
एवं णिच्चादीणं धम्माणं सत्तभंगविही ॥ ५७ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं युगपत् समाश्रित्य च ।
एवं नित्यादीनां धर्माणां सप्तभंगविधिः ॥

विहिणिसेहावत्तव्वभंगाणं पत्तेयदुसंजोयतिसंजोयजादाणं तिण्णितिण्णि एगसंभोयाणं मेलणं सत्तभंगी पण्हवसादु एकम्मि वत्थुम्मि अविरोहेण सहंवति णाणाणयमुक्खगोणभावेण जं परूवेदि ।

विधिनिषेधावक्तव्यभंगानां प्रत्येकद्विसंयोगत्रिसंयोगजातानां त्रित्र्येक-संख्यानां मेलनं सप्तभंगी प्रश्नवशात् एकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन संभवंती नानानयमुख्यगौणभावेन यत्प्ररूपयति ।

तत्थपयाणि बुहेण य णच्चंते सट्ठिलक्खमाणाणि ।
णाणाणयणिरूवणपराणि सत्तस्स भंगस्स ॥ ५८ ॥

तत्र पदानि बुधैश्च ज्ञायन्ते षष्टिलक्षमानानि ।
नानानयनिरूपणपराणि सप्तानां भंगानां ॥

पयाणि ६०००००० ।

इदि अत्थिणत्थिपवादपुव्वं गदं—इत्यस्तिनास्तिप्रवादपूर्वं गतं ।

जिस समय स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आश्रय लेकर अवक्तव्य के

---

१. अग्रेण सह सम्बन्धः ।

साथ वर्णन करते हैं तब वस्तु अस्ति अवक्तव्य होती है क्योंकि नास्ति के बिना अस्ति का कथन नहीं हो सकता, अतः स्यात् अस्ति अवक्तव्य है ॥ ५५ ॥

जिस समय पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा लेकर वर्णन किया जाता है तब नास्ति अवक्तव्य है क्योंकि अस्ति के बिना नास्ति का कथन नहीं हो सकता। अतः वस्तु को कथंचित् नास्ति अवक्तव्य जानना चाहिए ॥ ५६ ॥

जिस समय स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अस्ति-नास्ति का क्रम से कथन करते हैं तो स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य होता है। क्योंकि वस्तु के दोनों धर्मों का युगपत् कथन करना वचनों के द्वारा शक्य नहीं है। एक समय में एक ही धर्म का कथन होता है परन्तु अनेक धर्म वस्तु में एक साथ रहते हैं अतः वस्तु कथंचित् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है ॥ ५७ ॥

विशेषार्थ

अर्थात् अस्ति-नास्ति दोनों धर्मों से युक्त है उसको एक धर्म से नहीं कह सकते। अतः अस्ति-नास्ति अवक्तव्य यह तीसरा धर्म है। इन तीनों का संयोग करने पर सप्तभंग होते हैं। जैसे वस्तु अस्ति (है) परन्तु अस्ति रूप ही नहीं है अपितु नास्ति रूप भी है। अतः स्यादस्ति ऐसा कहा जाता है। सर्व वस्तु अपने रूप से है परन्तु पर वस्तु का उसमें अभाव है अतः नास्ति रूप भी है। जैसे किसी ने कहा "यह घट है" इस वाक्य के सुनने पर विधात्मक और निषेधात्मक दोनों ज्ञान होते हैं। "घट है" यह विधि (अस्ति) का ज्ञान है और यह "पट नहीं है" ऐसा ज्ञान होता है वह निषेध (नास्ति) का ज्ञान है। अतः अस्ति-नास्ति दोनों एक साथ होने से अस्ति-नास्ति रूप है। इसी प्रकार अस्ति या नास्ति रूप नहीं कह सकते अतः अवक्तव्य है। न तो अस्ति रूप में वस्तु का पूर्ण कथन हो सकता है न नास्ति रूप से पूर्ण कथन हो सकता है। न दोनों को क्रम से स्वतन्त्र कथन कर सकते हैं। अतः कथंचित् अस्ति-नास्ति रूप है।

इस प्रकार नित्य-अनित्य एक-अनेक आदि अनन्त धर्मों में सप्तभंगी लगाना चाहिए क्योंकि वस्तु के प्रत्येक द्रव्य, गुण, पर्याय सप्तभंग रूप हैं।

इस प्रकार प्रत्येक द्विसंयोग, त्रिसंयोग से उत्पन्न होने वाले विधि, निषेध और अवक्तव्य भंगों का त्रि त्रि और एक संयोग की संख्या का मिलान (जोड़) करने पर प्रश्नवशात् एक ही वस्तु में अविरोध रूप से सात भंग होते हैं। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में नाना नयों के मुख्य और गौणता

से वस्तु की प्ररूपणा होती है। जैसे द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु नित्य है, पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु अनित्य है, वस्तु का स्वरूप एक साथ शब्दों में कहने में नहीं आता। अतः सप्तभंगों का नाना नयों के द्वारा निरूपण करने वाले अस्ति, नास्ति, प्रवाद पूर्व के ज्ञानी जनों ने साठ लाख पद कहे हैं।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थात् जिसमें कथंचित् अस्ति नास्ति आदि सात भंगों का साठ लाख पदों के द्वारा निरूपण करने वाला अस्ति नास्ति प्रवादपूर्व है। इसमें अठारह वस्तु तीन सौ साठ प्राभृत हैं ॥ ५८ ॥

॥ इस प्रकार अस्ति-नास्ति प्रवादपूर्व का कथन समाप्त हुआ ॥

ज्ञानप्रवादपूर्व का कथन

णाणप्पवादपुव्वं मदिसुदओही सुणाणणाणाणं ।
मणपज्जयस्स भेयं केवलणाणस्स रूवं च ॥ ५९ ॥

ज्ञानप्रवादपूर्वं मतिश्रुतावधिसुज्ञानाज्ञानानां ।
मनःपर्ययस्य भेदान् केवलज्ञानस्य रूपं च ॥

कहदि हु पयप्पमाणं कोडी रूऊणगा हि मदिणाणं ।
अवगहईहावायाधारणगा होंति तब्भेया ॥ ६० ॥

कथयति पदप्रमाणं कोटिं रूपोनां हि मतिज्ञानं ।
अवग्रहेहावायधारणा भवन्ति तद्भेदाः ॥

जो पूर्व एक कम एक कोटि प्रमाण पदों के द्वारा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान इन आठों का तथा इनके भेद-अभेदों का जो कथन करता है उसको ज्ञानप्रवाद पूर्व कहते हैं ॥ ५९ ॥

मतिज्ञान का दूसरा नाम अभिनिबोधिक है। इन्द्रिय और मन के द्वारा ग्रहण करने योग्य अर्थ का नाम अभिमुख है। अर्थात् इन्द्रिय और मन के द्वारा नियमित पदार्थों का ज्ञान होता है वह मतिज्ञान कहलाता है। पाँचों इन्द्रियों का विषय नियमित है। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है स्पर्श करना, रसना का स्वाद लेना इत्यादि।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा मतिज्ञान एक होते हुए भी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा इसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद होते हैं ॥ ६० ॥

विसयाणं विसईणं संजोगे दंसणं वियप्पवदं ।
अवगहणाणं तत्तो विसेसकंखा हवे ईहा ॥६१॥

विषयाणां विषयिणां संयोगे दर्शनं विकल्पवत् ।
अवग्रहज्ञानं ततो विशेषाकांक्षा भवेदीहा ॥

तत्तो सुणिण्णओ खलु होदि अवाओ दु वत्थुजादस्स ।
कालंतरे वि णिण्णिदसमरणहेऊ तुरीयं तु ॥६२॥

ततः सुनिर्णयः खलु भवति अवायस्तु वस्तुजातस्य ।
कालान्तरेऽपि निर्णीतस्मरणहेतुस्तुर्यं तु ॥

विषय (स्पर्श, रस, गन्ध आदि पदार्थ) विषयी (आत्मा वा इन्द्रियों) का सान्निपात (संयोग) दर्शन कहलाता है वह निर्विकल्प होता है। उस विषय-विषयी के सान्निपात के अनन्तर जो प्रथम विकल्प ग्रहण होता है वह अवग्रह ज्ञान है। दर्शन में सामान्य सत्ता का ग्रहण होता है। उसके अनन्तर मनुष्यत्व आदि विशेष का ग्रहण होता है तथा सविकल्प होता है।

अवग्रह ज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थों के विशेष जानने की इच्छा को ईहा कहते हैं। जैसे अवग्रह ज्ञान ने जाना यह मानव है। उसके बाद "यह मानव उत्तरप्रदेश का है कि दक्षिणदेश का" इस प्रकार विशेष जानने की इच्छा को ईहा कहते हैं। अर्थात् ईहा विशेष की विचारणा है। इस विचारणा के पश्चात् जब ज्ञान विशेष का निश्चय करने में समर्थ हो जाता है, सु निश्चय कर लेता है वह अवाय ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान निर्णयात्मक होता है। अवाय के द्वारा ज्ञात वस्तु का कालान्तर में निर्णीत के स्मरण में जो कारण होता है वह चतुर्थ धारणा नाम का मतिज्ञान है ॥ ६१-६२ ॥

विशेषार्थ

सामान्य अवबोध के बाद वस्तु का ग्रहण होना अवग्रह, उसके विशेष पर्यायों के जानने की तर्कणा ईहा, निर्णयात्मक ज्ञान अवाय और कालान्तर में नहीं भूलना धारणा है।

इस धारणा ज्ञान के भी तीन रूप हैं—अविच्युति, वासना और स्मृति। उत्पन्न होने के बाद धारणा ज्ञान जितने काल तक स्थिर रहता हैं अर्थात् उपयोग पलटता नहीं है, वह अविच्युति कहलाती है। उपयोग

पलट जाने पर पूर्ववर्ती ज्ञान संस्कार का रूप ग्रहण करता है वह वासना कहलाती है। कालान्तर में कोई निमित्त पाकर वासना का पुनः जागृत हो जाना स्मृति है। इस प्रकार एक ही ज्ञान की धारा क्रम से विकसित होती हुई अनेक नामों से अभिहित होती है। विकास क्रम के आधार पर ही उसके पूर्वोक्त चार भेद किये गये हैं।

इंदियअणिंदियेहिंत्थं वेंजणअत्थादवग्गहो दुविहो ।
चक्खुस्स माणसस्स य पढमो ण वऽवग्गहो कमसो ॥६३॥

इन्द्रियानिन्द्रियोत्थं व्यञ्जनार्थाभ्यामवग्रहो द्विविधः ।
चक्षुषः मनसश्च प्रथमो न चावग्रहः क्रमशः ॥

अवग्रह के दो भेद हैं—अर्थावग्रह और व्यंजनाग्रह। अप्राप्त अर्थ के ग्रहण करने को अर्थावग्रह कहते हैं। प्राप्त अर्थ के ग्रहण करने को व्यंजना-वग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह पाँच इन्द्रिय और मन से होता है तथा व्यंजनावग्रह चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से होता है। अर्थात् चक्षु और मन से प्रथमावग्रह (व्यंजनावग्रह) नहीं होता है। अथवा अव्यक्त शब्दादिक को व्यंजन कहते हैं और व्यक्त शब्दादिक को अर्थ कहते हैं। अव्यक्त का ग्रहण व्यंजनावग्रह कहलाता है। व्यंजन का केवल अवग्रह ही होता है ईहा आदि नहीं। व्यक्त पदार्थ का अवग्रह, अर्थावग्रह कहलाता है। इसके ईहा आदि चारों होते हैं। अथवा प्रथम अवस्था में व्यंजनाव-ग्रह और द्वितीयादि समय में वही अर्थावग्रह हो जाता है ॥ ६३ ॥

बहु बहुविहं च खिप्पाणिस्सिदणुत्तं धुवं च इदरं च ।
पडि एक्केक्के जादे तिसयं छत्तीसभेयं च ॥६४॥

बहु बहुविधं च क्षिप्रं अनिसृतं अनुक्तं ध्रुवं इतरच्च ।
प्रति एकैकस्मिन् जाते त्रिशतं षट्त्रिंशद्भेदं च ॥

मदिणाणं—मतिज्ञानम्

बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव, एक, एकविध, अक्षिप्र, निसृत, उक्त और अध्रुव इन बारह पदार्थों के ग्रहण के भेद से ज्ञान बारह प्रकार का है। इन बारह का अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के साथ गुणा करने पर अड़तालीस भेद होते हैं। तथा अड़तालीस भेदों को पाँच इन्द्रिय और मन के साथ गुणा करने से दो सौ अठासी भेद होते हैं। व्यंजन पदार्थ

का केवल अवग्रह ही होता है और वह चक्षु और मन से नहीं होता। अतः बहु आदि बारह भेदों को स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन चार इन्द्रियों से गुणा करने पर अड़तालीस भेद होते हैं। इन भेदों को दो सौ अठासी में मिला देने से मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं।

विशेषार्थ

बहु शब्द संख्यावाची और विपुलवाची है। संख्यावाची एक दो बहुत और विपुलवाची बहुत से गेहूँ, बहुत से चावल इत्यादि विध प्रकार वाची हैं। जैसे श्रुतज्ञानावरण कर्म के प्रकृष्ट क्षयोपशम होने से युगपत् तत, वितत, घन, सुषिर आदि बहुत शब्दों को सुनता है वह बहु ज्ञान है। तथा तत, वितत आदि के बहुत से प्रकारों (भेदों) को ग्रहण करता है वह बहुविध है। श्रोत्रेन्द्रियावरण का अल्प क्षयोपशम से परिणत आत्मा 'तत' आदि शब्दों में से किसी एक शब्द को ग्रहण करता है वह एकावग्रह है। तथा उनमें से एक प्रकार के शब्द को ग्रहण करता है वह एक विधावग्रह है। प्रकृष्ट ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से शीघ्रता से शब्द को सुनता है वह क्षिप्रावग्रह है और क्षयोपशम की न्यूनता होने से देरी से शब्द सुनता है वह अक्षिप्रावग्रह है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की विशुद्धि होने से पूरे वाक्य का उच्चारण नहीं होने पर भी उसका ज्ञान कर लेना अनिसृतावग्रह है और क्षयोपशम की न्यूनता होने पर पूर्ण रूप से उच्चारित शब्दों का ज्ञान करना निसृतावग्रह है।

श्रोत्रेन्द्रिय का प्रकृष्ट क्षयोपशम होने पर बिना कहे (शब्दों का उच्चारण किये बिना अभिप्राय मात्र से) जान लेना अनुक्तावग्रह है। और कहने (शब्दों का उच्चारण करने) पर जानना उक्तावग्रह है।

संक्लेश परिणाम के अभाव में तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्म के प्रकृष्ट क्षयोपशम से जैसा प्रथम समय में ज्ञान हुआ था वैसा ही दूसरे आदि समय में होना ध्रुवज्ञान है। अथवा स्तंभ, पर्वत आदि ध्रुव पदार्थों का ज्ञान ध्रुवज्ञान है। तथा पुनः-पुनः संक्लेश और विशुद्धि में झूलने वाले आत्मा को यथानुरूप श्रोत्रेन्द्रिय का सान्निध्य रहने पर भी कभी शीघ्र ग्रहण करता है, कभी विलम्ब से शब्द को ग्रहण करता है, कभी उक्त को, कभी अनुक्त को, कभी निसृत को, कभी अनिसृत को ग्रहण करता है वह अध्रुवावग्रह है। अथवा बिजली आदि अध्रुव पदार्थों का ज्ञान होना अध्रुव है। इसी प्रकार ईहा, अवाय और धारणा को समझना चाहिये। जिस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के साथ बहु आदि का अवग्रह, ईहा, अवाय और

धारणा ज्ञान, बारह-बारह प्रकार का है। उसी प्रकार स्पर्शन आदि इन्द्रियों के भेद भी जानना चाहिये।

॥ मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेदों का प्रकरण समाप्त हुआ ॥

श्रुतज्ञान का कथन

सुदणाणं अत्थादो अत्थंतरगहणमेव मदिपुव्वं।
दव्वसुदं भावसुदं णियमेणिह सद्दजं पमुहं ॥६५॥

श्रुतज्ञानमर्थात् अर्थान्तरग्रहणमेव मतिपूर्वं।
द्रव्यश्रुतं भावश्रुतं नियमेनेह शब्दजं प्रमुखं ॥

मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थों के अवलम्बन से तत्सम्बन्धि दूसरे पदार्थ का ग्रहण होता है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है। वह द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के भेद से दो प्रकार का है। वा वह श्रुतज्ञान, शब्द लिंगज और अर्थलिंगज के भेद से दो प्रकार का है। इस ग्रन्थ में नियम से शब्दज (शब्द लिंगज) श्रुत की मुख्यता है ॥ ६५ ॥

विशेषार्थ

जिस ज्ञान में मतिज्ञान कारण पड़ता है, जो मतिज्ञान से ग्रहण किये गये पदार्थों को छोड़कर तत्सम्बन्धित दूसरे पदार्थ में व्यापार करता है और श्रुत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। वह श्रुतज्ञान शब्द लिंगज और अर्थ-लिंगज के भेद से दो प्रकार का है।

शब्द (अक्षर) को सुनकर उत्पन्न होने वाला ज्ञान शब्दलिंगज ज्ञान कहलाता है। धूमादि लिंग (हेतु) को देखकर अग्नि आदि (लिंगि) का ज्ञान होता है वह अर्थलिंगज श्रुतज्ञान कहलाता है। इसका दूसरा नाम अनुमान ज्ञान भी है।

शब्दलिंगज श्रुतज्ञान लौकिक और लोकोत्तर के भेद से दो प्रकार का है। सामान्य पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह लौकिक शब्दलिंगज श्रुतज्ञान है। वीतराग प्रभु के मुख से निर्गत तथा गणधर देव के द्वारा रचित वचन समुदाय से जो श्रुतज्ञान होता है वह लोकोत्तर शब्दलिंगज श्रुतज्ञान है। यहाँ लोकोत्तर श्रुतज्ञान से प्रयोजन है। इस लोकोत्तर श्रुतज्ञान के द्रव्य और भावश्रुत रूप से दो भेद हैं।

आचारांग आदि बारह अंग, उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्व और सामायिकादि चौदह प्रकीर्णक स्वरूप द्रव्यश्रुत है और इनके सुनने से जो उत्पन्न हुआ ज्ञान है वह भावश्रुत है। अथवा पुद्गल द्रव्य स्वरूप अक्षर पदादिक रूप से द्रव्यश्रुत है। और उन द्रव्यश्रुत के सुनने से उत्पन्न अर्थ-ज्ञान है वह भावश्रुत है। इस ग्रन्थ में लोकोत्तर द्रव्य और भावश्रुत से प्रयोजन है।

पज्जायक्खरपदसंघायं पडिवत्तियाणियोगं च।
पाहुड पाहुडपाहुड वत्थू पुव्वं समासेहिं ॥६६॥
पर्यायाक्षरपदसंघातं प्रतिपत्ति अनुयोगं च।
प्राभृतं प्राभृतप्राभृतं वस्तु पूर्वं समासैः ॥

शब्दलिंगज श्रुतज्ञान के बीस भेद निम्न प्रकार हैं। पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पद समास, संघात, संघात समास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्ति समास, अनुयोग, अनुयोग समास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृत समास, प्राभृत, प्राभृत समास, वस्तु, वस्तु समास, पूर्व और पूर्व समास ॥ ६६ ॥

विशेषार्थ

इन श्रुतज्ञान के बीस भेदों का संक्षेप में कथन—

श्रुतज्ञान के अनेक विकल्पों में एक विकल्प ह्रस्व अक्षर रूप भी है। इस विकल्प में द्रव्य की अपेक्षा अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओं से निष्पन्न स्कन्ध का संचय होता है। इस एक ह्रस्वाक्षर विकल्प के अनेक बार अनन्तानन्त भाग किये जावें तो उनमें एक भाग पर्याय नाम का श्रुतज्ञान होता है। वह पर्याय ज्ञान सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के होता है और श्रुतज्ञानावरण के आवरण से रहित है। सभी जीवों के उतने ज्ञान ऊपर कभी आवरण नहीं पड़ता। यदि उस पर आवरण पड़ जाये तो ज्ञानोपयोग का सर्वथा अभाव हो जायेगा और ज्ञानोपयोग के अभाव होने से जीव का अभाव हो जायेगा। वह निश्चय सिद्ध है कि जीव की उपयोग शक्ति का कभी विनाश नहीं होता। जब पर्यायज्ञान के अनन्तवें भाग के साथ मिल जाता है तब पर्याय समास ज्ञान का प्रारम्भ होता है। पर्याय समास के ज्ञान में अनन्तभाग वृद्धि आदि षट हानि वृद्धि होने पर अक्षर ज्ञान होता है अक्षर ज्ञान के पूर्व और पर्याय ज्ञान के ऊपर जितने भेद हैं वे सब पर्याय समास ज्ञान कहलाते हैं। यह पर्याय समास ज्ञान

अनक्षरात्मक है और इसके असंख्यातलोक प्रमाण षट स्थान होते हैं। अक्षर ज्ञान के बाद अक्षरसमास ज्ञान प्रारम्भ होता है, इसके ऊपर पद ज्ञान तक, एक एक अक्षर की वृद्धि[1] होती है, इस अक्षर वृद्धि प्राप्त ज्ञान को अक्षर समास ज्ञान कहते हैं।

लब्ध्यक्षर, निर्वृत्यक्षर और संस्थानाक्षर के भेद से अक्षर तीन प्रकार के होते हैं। मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक से लेकर श्रुतकेवलि तक जीवों के जितने क्षयोपशम होते हैं उन सब को लब्ध्यक्षर कहते हैं। जीवों के मुख से निकले हुए शब्द की निर्वृत्यक्षर संज्ञा है। निर्वृत्यक्षर व्यक्त और अव्यक्त के भेद से दो प्रकार का है। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्ति के ही शब्द व्यक्त निर्वृत्यक्षर होता है। दो इन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्ति के अव्यक्त निर्वृत्यक्षर होते हैं। गाय, भैंस आदि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्ति की भाषा अव्यक्त निर्वृत्यक्षर रूप है "यह अक्षर है" इस प्रकार अभेदरूप से बुद्धि में जो स्थापना होती है या जो लिखा जाता है वह स्थापना अक्षर है।

जघन्य लब्ध्यक्षर सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्तक के होता है और उत्कृष्ट चौदह पूर्वधारी के होता है।

जघन्य निर्वृत्यक्षर दो इन्द्रिय आदि के होता है और उत्कृष्ट चौदह पूर्वधारी के होता है।

अक्षर ज्ञान के ऊपर संख्यात अक्षरों की वृद्धि पर्यन्त अक्षरसमास ज्ञान-रहता है उस अक्षर समास में संख्यात अक्षर मिलाने पर पद नामक श्रुत-ज्ञान होता है।

अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यपद के भेद से पद तीन प्रकार का है। जितने अक्षरों के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है वह अर्थ पद है। यह अनव-स्थित है क्योंकि इसमें अनियत अक्षरों के द्वारा ज्ञान होता है। जैसे— 'अ' का अर्थ विष्णु है 'इ' का अर्थ काम है 'क' का अर्थ ब्रह्मा है 'ख' का अर्थ इन्द्रियाँ, आकाश आदि होता है अतः एक अक्षर से भी अर्थ ज्ञान

---

१. कोई आचार्य अक्षर ज्ञान के ऊपर भी षट स्थान वृद्धि मानते है— अक्षर ज्ञान से यहाँ लब्ध्यक्षर लेना चाहिए क्योंकि शेष अक्षर जड़ स्वरूप है। जिसका क्षय नहीं होता वह केवलज्ञान अक्षरज्ञान है। लब्ध्यक्षर ज्ञान भी नाश रहित है अतः इसको भी अक्षर कहते हैं।

होता है। कहीं पर दो अक्षर से भी होता है जैसे 'राम' का दशरथ का पुत्र है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आठ अक्षर से निष्पन्न प्रमाण पद है। यह अवस्थित है क्योंकि इसकी आठ आदि संख्या नियत है जैसे "नमः श्री वर्द्धमानाय" इत्यादि।

सौलह सौ चौतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी अक्षरों का मध्यम पद होता है। इस मध्यम पद के द्वारा पूर्व और अंगों का पद विभाग होता है।

श्रुतज्ञान के एक सौ बारह करोड़, तिरासी लाख, अट्ठावन हजार पाँच ही पद होते हैं।

इस पद ज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर पद समास ज्ञान प्रारम्भ होता है।

संख्यात पदों के समूह का एक संघात ज्ञान होता है, एक पद से एक अक्षर अधिक और संघात ज्ञान से एक अक्षर न्यून मध्यम भेद पद समास कहलाते हैं। यह संघात ज्ञान गति मार्गणा में किसी एक गति का निरूपण करता है।

संख्यात संघात का समूह प्रतिपत्ति ज्ञान कहलाता है। संघात के ऊपर और प्रतिपत्ति के पूर्व दो संघात, तीन संघात आदि संघात समास हैं अर्थात् प्रतिपत्ति के जितने अधिकार होते हैं, उनमें एक अधिकार का नाम संघात संज्ञा है।

संख्यात प्रत्तिपत्ति के समूह को अनुयोग ज्ञान कहते हैं। अनुयोग के पूर्व और प्रत्तिपत्ति के बाद संख्यात प्रत्तिपत्ति समास के भेद हैं।

संख्यात अनुयोग द्वार का समूह एक प्राभृत-प्राभृत ज्ञान होता है। दो अनुयोग से लेकर जब तक संख्यात अनुयोग का समूह न हो तब तक संख्यात प्रकार के अनुयोग समास ज्ञान है।

संख्यात प्राभृत-प्राभृत का एक प्राभृत ज्ञान होता है और प्राभृत-प्राभृत से लेकर प्राभृत ज्ञान के पूर्व संख्यात प्रकार का प्राभृत-प्राभृत समास ज्ञान है।

बीस प्राभृत की एक वस्तु होती है। वस्तु ज्ञान के पूर्व और प्राभृत के ऊपर जितने भेद हैं वह सब प्राभृत समास हैं अथवा पूर्व श्रुतज्ञान के जितने अधिकार हैं उनकी वस्तु संज्ञा है। जैसे उत्पाद पूर्व के दश अधिकार हैं इसमें दश वस्तु हैं। आग्राणीय में चौदह अधिकार हैं उसमें चौदह वस्तु हैं अर्थात् वस्तु के समूह को पूर्व कहते हैं। पूर्व ज्ञान के पूर्व और वस्तु के ऊपर जितने ही भेद हैं वह वस्तु समास है।

इस प्रकार उत्पाद पूर्व श्रुतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि होते हुए अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप सकल श्रुतज्ञान के सब अक्षरों की वृद्धि होने तक पूर्व समास ज्ञान होता है।

इस प्रकार पूर्वानुपूर्वी के अनुसार श्रुतज्ञान की बीस प्रकार की प्ररूपणा की है।

इसमें प्रतिसारी बुद्धिके द्वारा कथन किया जाता है तो लोक बिन्दुसार पूर्व से खण्ड करते-करते पर्याय ज्ञान तक कथन करना चाहिए।

इसमें पर्याय, अक्षर आदि ज्ञान एक प्रकार के होते हैं और पर्याय समास आदि असंख्यात प्रकार के होते हैं।

इस प्रकार आवरणीय (श्रुतज्ञान के ऊपर आवरण करने वाले कर्म (शक्ति के) भेद से बीस प्रकार के श्रुतज्ञान का वर्णन किया है।

वीसवीहं तं तेसिं आवरणविभेयतो हि णियमेण।
सुहुमणिगोदस्स हवे अपुणस्स पढमसमयम्हि ॥ ६७॥

विंशतिविधं तत्तेसां आवरणविभेदतो हि नियमेन।
सूक्ष्मनिगोदस्य भवेत् अपूर्णस्य प्रथमसमये ॥

लद्धक्खरपज्जायं णिच्चुग्घाडं लहुं णिरावरणं।
उवरूवरिवड्ढिजुत्तं वीसवियप्पं हु सुदणाणं ॥ ६८ ॥

लब्ध्यक्षरपर्यायं नित्योद्घाटं लघु निरावरणं।
उपर्युपरिवृद्धियुक्तं विंशतिविकल्पं हि श्रुतज्ञानं ॥

इदि सुदणाणं—इति श्रुतज्ञानं।

अर्थात् श्रुतज्ञान पर आवरण करने वाले कर्म बीस प्रकार के हैं अतः श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपक्षम के भेद से श्रुतज्ञान बीस प्रकार का कहा है। इस बीस प्रकार के श्रुतज्ञान में लब्ध्यक्षर पर्याय श्रुतज्ञान सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त के उत्पन्न होने के प्रथम समय में होता है। यह सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक का जो लब्ध्यक्षर पर्याय ज्ञान है वह निरावरण है इतना ज्ञान नित्य उद्घाटित रहता है। पर्याय ज्ञान पर आवरण करने वाला पर्याय ज्ञानावरणीय है। इसी प्रकार पर्याय समास ज्ञानावरणीय आदि श्रुतज्ञान आवरण के बीस भेद हैं। पर्याय ज्ञान के ऊपर वृद्धि करने से पर्याय समास आदि ऊपर-ऊपर वृद्धि युक्त श्रुतज्ञान के पूर्व कथित बीस विकल्प होते हैं ॥ ६७–६८ ॥

॥ इस प्रकार श्रुतज्ञान का कथन समाप्त हुआ ॥

अवधिज्ञान का कथन

भवगुणपच्चयविहियं ओहीणाणं तु अवहिगं समये ।
सीमाणाणं रूवीपदत्थसंघादपच्चक्खं ॥ ६९ ॥

भवगुणप्रत्ययविहितं अवधिज्ञानं तु अवधिगं समये ।
सीमाज्ञानं रूपिपदार्थसंघातप्रत्यक्षं ॥

जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अवधि अर्थात् सीमा से युक्त अपने विषयभूत रूपी पदार्थों के समूह को प्रत्यक्ष जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। सीमा (मर्यादा) से युक्त जानने के कारण परमागम में इसे सीमा ज्ञान भी कहा है। अधिकतर नीचे के विषय को जानने वाला होने से या परिमित विषय वाला होने से यह अवधिज्ञान कहलाता है। भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय के भेद से अवधिज्ञान दो प्रकार का है ॥ ६९ ॥

विशेषार्थ

जिस अवधिज्ञान के होने में भव निमित्त है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है।

आयु नामकर्म के उदय से प्राप्त पर्याय को भव कहते हैं आत्मा की जो पर्याय आयु नामकर्म के उदय विशेष तथा शेष कारणों (अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम) की अपेक्षा से उत्पन्न होती है। तथापि इसमें साधारण कारण भव है अर्थात् इस ज्ञान में अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होते हुए भी भव की मुख्यता होने से यह भवप्रत्ययअवधिज्ञान कहलाता है। यदि इस ज्ञान में अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम नहीं होता, भव ही कारण होता तो सभी देव नारकियों के अविशेष रूप से समान अवधिज्ञान होता, परन्तु देव नारकियों में अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार अवधिज्ञान में आगम में तारतम्य स्वीकार किया है, अतः भवप्रत्यय-अवधिज्ञान में भी अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है। जैसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में अहिंसादिक व्रत कारण है वैसे भवप्रत्ययअवधि-ज्ञान में अहिंसादि व्रत कारण नहीं है।

देसोही परमोही सव्वोही होदि तत्थ तिविहं तु ।
गुणपच्चयगो णियमा देसोही णरतिरक्खाणं ॥ ७० ॥

देशावधिः परमावधिः सर्वावधिर्भवति तत्र त्रिविधस्तु ।
गुणप्रत्ययको नियमात् देशावधिः नरतिरश्चां ॥

सम्यग्दर्शन से अधिष्ठित अणुव्रत और महाव्रत आदि गुणों के निमित्त से अवधिज्ञानावरण कर्मों का क्षयोपशम होता है। उस क्षयोपशम से जो अवधिज्ञान होता है, उसको गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान तो देशावधि ही होता है। गुणप्रत्यय अवधि के तीन भेद हैं देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। गुणप्रत्यय देशावधि नियम से तिर्यञ्च और मनुष्यों के ही होता है ॥ ७० ॥

विशेषार्थ

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संयम का अवयव होने से सम्यग्दर्शन को देश कहते हैं।[1] सम्यग्दर्शन ही जिसमें कारण है, अहिंसादि व्रत कारण नहीं है उसको देशावधि कहते हैं। अथवा 'देश' का अर्थ कुछ अंश होता है जो अवधिज्ञान सर्वावधि और परमावधि से कुछ कम विषय को जानता है अतः इसको देशावधि कहते हैं।

'सर्व' का अर्थ सम्पूर्ण या उत्कृष्टवाची है। जो सम्पूर्ण रूपी पुद्गल को जानता है, उत्कृष्ट है उसको सर्वावधि कहते हैं। अथवा सर्व का अर्थ केवलज्ञान है, उसका विषय जो अर्थ होता है वह भी उपचार से सर्व कहलाता है। सर्व (केवलज्ञान) जिसकी मर्यादा है, अर्थात् जो केवलज्ञान होने पर ही छूटता है उसको सर्वावधि कहते हैं। अथवा सर्व रूपी द्रव्य इसका विषय होने से यह सर्वावधि कहलाता है।

परम अर्थात् असंख्यात लोकमात्र संयम के भेद ही जिस ज्ञान की अवधि (मर्यादा) है, वह परमावधिज्ञान कहा जाता है।

अवरं देसोहिस्स य णरतिरिए हवदि संजदह्मि वरं ।
भवपच्चयगो ओही सुरणिरयाणं च तित्थाणं ॥ ७१ ॥

अवरं देशावधेश्च नरतिर्यक्षु भवति संयते वरं।
भवप्रत्ययकोऽवधिः सुरनारकाणां च तीर्थंकराणां ॥

णाणाभेयं पढमं एयवियप्पं तु विदियमोही खु ।
परमोही सव्वोही चरमसरीरिस्स विरदस्स ॥ ७२ ॥

नानाभेदं प्रथमं एकविकल्पस्तु द्वितीयोऽवधिः खलु ?।
परमावधिः सर्वावधिः चरमशरीरिणः विरतस्य ॥

---

१. ध. १३/५.५.५३/२९१/१

अणुगामी देसादिसु तमणणुगामी य हीयमाणो वि ।
वड्ढंतो वि अवत्थिद अणवत्थिद होंति छब्भेया ॥ ७३ ॥

अनुगामी देशादिषु तेष्वननुगामी च हीयमानोऽपि ।
वर्द्धमानोऽपि अवस्थितोऽनवस्थितो भवन्ति षड्भेदाः ॥

इदि ओहिणाणं—इत्यवधिज्ञानं ।

देशावधि के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ये तीन भेद हैं। इनमें जघन्य गुणप्रत्यय देशावधि मनुष्य और तिर्यंचों के होता है, उत्कृष्ट गुणप्रत्यय देशावधि संयमधारी मुनीन्द्रों के ही होता है। भवप्रत्यय देशावधिज्ञान, देव, नारकी और तीर्थंकरों के ही होता है ॥ ७१ ॥

प्रथम (देशावधि) ज्ञान अनेक विकल्प (जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से अनेक विकल्प) वाला है। दूसरी परमावधि, सर्वावधि) विकल्प रहित है। अर्थात् इनके भेद नहीं है।[1] परमावधिज्ञान सकल संयमी चरमशरीरी के ही होते हैं, अन्य के नहीं ॥ ७२ ॥

गुणप्रत्यय देशावधि के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित ये छह भेद हैं। (तथा प्रतिपाति और अप्रतिपाति ये दो भेद मिला देने से इसके आठ भेद भी) ॥ ७३ ॥

विशेषार्थ

क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और उभयानुगामी के भेद से अनुगामी के तीन भेद हैं।

जो अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश के समान भवान्तर में साथ जाता है वह भवानुगामी है।

जो अवधिज्ञान एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में साथ जाता है वह क्षेत्रानुगामी और क्षेत्र तथा भव दोनों में साथ जाता है वह उभयानुगामी है।

जो अवधिज्ञान मूर्ख के प्रश्न के समान वहीं गिर जाता है भवान्तर और क्षेत्रान्तर में साथ नहीं जाता है वह अननुगामी है।

सम्यग्दर्शनादि गुणों की विशुद्धि के कारण अरणी के निर्मंथन से उत्पन्न शुष्क पत्रों से उपचीयमान ईन्धन के समूह से वृद्धिगत अग्नि के समान

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक में परमावधि के भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन भेद कहे हैं।

बढ़ता रहता है, वह वर्धमान अवधिज्ञान है। वह असंख्यात लोक परिमाण बढ़ता रहता है।

जो अवधिज्ञान जिस परिमाण से उत्पन्न हुआ था उस परिमाण से प्रतिदिन सम्यग्दर्शनादि गुणों की हानि और संक्लेश परिमाण की वृद्धि के योग से अंगुल के असंख्यात भाग तक घटता रहे वह हीयमान अवधिज्ञान है।

सम्यग्दर्शनादि गुणों के अवस्थान मुक्तिप्राप्ति या केवलज्ञान पर्यन्त जैसे का तैसा बना रहे, न बढ़े और न घटे वह अवस्थित अवधिज्ञान है।

जिस परिमाण से उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणों की वृद्धि एवं हानि के कारण वायु से प्रेरित जल की तरंगों के समान जहाँ तक घट सकता है वहाँ तक घटता रहे और जहाँ तक बढ़ सकता है वहाँ तक बढ़ता रहे, वह अनवस्थित अवधिज्ञान है।

बिजली की चमक समान विनाशशील है अर्थात् छूटने वाला है वह प्रतिपाति अवधिज्ञान है।

केवलज्ञान पर्यन्त नहीं छूटने वाला है वह अप्रतिपाति अवधिज्ञान है।

हीयमान और प्रतिपाति को छोड़कर शेष छह भेद परमावधिज्ञान के होते हैं। क्योंकि परमावधि उत्कृष्ट संयमी के होता है और वह उसी भव में मोक्ष को प्राप्त करता है। अतः हीयमान और प्रतिपाति नहीं है।

अवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाति ये चार भेद सर्वावधि के हैं।

सर्वावधि अवधिज्ञान वृद्धिगत संयमवाले तद्भव मोक्षगामी महामुनि के होता है। वह जैसा का तैसा रहता है अतः अवस्थित है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में साथ जाता है अतः अनुगामी है। भवान्तर में साथ नहीं जाता है क्योंकि इस भव में मोक्ष हो जाता है अतः अननुगामी है। यह केवलज्ञान पर्यन्त छूटता नहीं है अतः अप्रतिपाति है।

॥ अवधिज्ञान का वर्णन समाप्त हुआ ॥

मनःपर्ययज्ञान का कथन

मणपज्जयं तु दुविहं रिजुमदि पढमं तु तत्थ विउलमदी।
संजमजुत्तस्स हवे जं जाणइ तं खु णरलोए ॥ ७४ ॥

मनःपर्ययस्तु द्विविध ऋजुमतिः प्रथमस्तु तत्र विपुलमतिः।
संयमंयुक्तस्य भवेत् यज्जानाति तत् खलु नरलोके॥

इदि मणपज्जयं—इति मनःपर्ययः।

मन की प्रतीति लेकर वा मनका प्रतिसंधान करके जो ज्ञान होता है वह मनःपर्ययज्ञान है।

परकीय मनोविचार का विषय भाव घटादि मनोगत अर्थ को मन कहते हैं, क्योंकि वह मन में स्थित है अतः उपचार से मनोगत अर्थ को ही मन कह दिया जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी म

मनःपर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम आदि अंतरंग बहिरंग कारणों के सन्निधान होने पर जो दूसरों के मनोगत अर्थ को जानता है वह मनःपर्यय-ज्ञान है। वह मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का है। उसमें प्रथम ऋजुमति है और द्वितीय विपुलमति है॥ ७४॥

विशेषार्थ

ऋजु का अर्थ सरल है और विपुल का अर्थ है कुटिल।

वीर्यान्तिराय और मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर तथा तदनुकूल अंग उपांग का निर्माण होने पर नरलोक में स्थित दूसरे के मनोगत ऋजु (सरल) मन, वचन और काय गत विषय को जानता है वह ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है।

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान वीर्यान्तिराय और मनःपर्ययज्ञानावरण का क्षयोपशम रूप अन्तरंग का कारण और तदनुकूल अंगोपांग का निर्माण आदि निमित्त कारणों के मिलने पर नरलोक में स्थित स्व और पर के व्यक्त मन और अव्यक्त मन के द्वारा चिन्तित, अचिन्तित या अर्धचिंतित सभी प्रकार से चिन्ता, जीवन, मरण, सुख, दुःख, लाभ, अलाभ आदि को जानता है। दोनों ही मनःपर्ययज्ञान मानुषोत्तर पर्वत के अभ्यन्तर स्थित होकर प्रश्न करता है, उसकी बात को जानता है, उतने ही क्षेत्र की बात को जानता है ऐसा नियम नहीं है। ये दोनों ही मनःपर्ययज्ञान संयमी मुनि के ही होते हैं। परन्तु ऋजुमति छूट भी सकता है और विपुलमति नहीं छूटता है, अप्रतिपाति है।

॥ मनःपर्ययज्ञान का वर्णन समाप्त हुआ ॥

केवलज्ञान का कथन

सव्वावरणविमुक्कं लोयालोयप्पयासगं णिच्चं।
इंदियकमपरिमुक्कं केवलणाणं णिरावाहं॥ ७५॥

सर्वावरणविमुक्तं लोकालोकप्रकाशकं नित्यं ।
इन्द्रियक्रमपरिमुक्तं केवलज्ञानं निराबाधं ॥
इदि केवलणाणं—इति केवलज्ञानं ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सर्व आवरणों से रहित, लोक और अलोक का प्रकाशक, नित्य इन्द्रिय-क्रम से परिमुक्त और निराबाध केवलज्ञान होता है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान आवरण सहित होने से सावरण हैं। परन्तु केवलज्ञान आवरण रहित होने से निरावण है॥ ७५॥

विशेषार्थ

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सारे छहों द्रव्यों और उनकी कुछ पर्यायों को जानते हैं। अवधिज्ञान रूपी (पुद्गल और पुद्गल के साथ सम्बन्धित संसारी जीव) पदार्थ को जानता है। और मनःपर्ययज्ञान सर्वा अवधिज्ञान के द्वारा जाने गये द्रव्य के अनन्तवें भाग को जानता है। परन्तु केवलज्ञान सम्पूर्ण द्रव्यों की त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य और पर्यायों को जानता है अर्थात् सर्व लोक, अलोक को जानता है। अतः लोक और अलोक का प्रकाशक है।

चार ज्ञान अनित्य नाशवन्त हैं परन्तु केवलज्ञान नित्य है, अविनाशी है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से पदार्थों को जानते हैं परन्तु केवलज्ञान इन्द्रिय क्रम से रहित अतीन्द्रिय है तथा निराबाध है।

॥ इस प्रकार केवलज्ञान का कथन समाप्त हुआ ॥

कुमदि कुसुदं विभंगं अण्णाणतियं वि मिच्छअणपुव्वं ।
सच्चादिभावमुक्कं भवहेदुं सम्मभावचुदं ॥ ७६ ॥

कुमतिः कुश्रुतं विभंगं अज्ञानत्रयमपि मिथ्यानपूर्वं ।
सत्यादिभावविमुक्तं भवहेतुः सम्यक्त्वभावच्युतं ॥

कुमति, कुश्रुति और विभंगा (कु) अवधि के भेद से अज्ञान तीन प्रकार का है। ये तीनों ज्ञान मिथ्यादर्शन और अनन्तानुबन्धी कषाय सहित होते हैं। यह सत्यादि भाव से रहित है, संसार का कारण है और सम्यक्त्व भाव से रहित है॥ ७६॥

विशेषार्थ

दूसरे के उपदेश के बिना ही विष, यंत्र, कूट, पंजर तथा बंध आदि के विषय में जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसको कुमतिज्ञान कहते हैं। जिसके

खाने से जीव मर जाता है उस द्रव्य को विष कहते हैं। भीतर पैर रखते ही जिसके कपाट बन्द हो जाते हैं उनको यंत्र कहते हैं। जिससे चूहे आदि पकड़े जाते हैं उसको कूट कहते हैं। रस्सी में गाँठ लगाकर जो जाल बनाया जाता है उसको पंजर कहते हैं। हाथी आदि को पकड़ने के लिए जो गई आदिक बनाये जाते हैं उसको बंध कहते हैं। इत्यादि पदार्थों में दूसरे के उपदेश के बिना जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको कुमतिज्ञान कहते हैं, क्योंकि उपदेशपूर्वक होने से वह ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जाएगा। चोर-शास्त्र तथा हिंसाशास्त्र भारत, रामायण आदि के परमार्थ शून्य अतएव अनादरणीय उपदेशों को मिथ्याश्रुतज्ञान कहते हैं। आदि शब्द से सभी हिंसादि पाप कर्मों के विधायक तथा असमीचीन तत्त्व के प्रतिपादक कुश्रुत और उनके ज्ञान को कुश्रुतज्ञान कहते हैं।

सर्वज्ञदेव के द्वारा उपदिष्ट आगम में विपरीत अवधिज्ञान को विभंगावधि कहते हैं। इसके दो भेद हैं। एक क्षायोपशमिक दूसरा भवप्रत्यय। मिथ्यादृष्टि देव और नारकियों के भवप्रत्यय कुअवधिज्ञान होता है और मनुष्य तथा तिर्यञ्चों के क्षायोपशमिक विभंगावधि होती है। कुअवधि (विभंगावधि) का अंतरंग कारण मिथ्यात्व कर्म और अनन्तानुबन्धी कषाय है क्योंकि मिथ्यादर्शन और अनन्तानुबंधी कषाय के कारण ही अवधिज्ञान की समीचीनता का भंग होकर इसमें अयथार्थता असमीचीनता आ जाती है।

रूऊणकोडिपयं णाणपवादं अणेयणाणाणं।
णाणाभेयपरूवणपरं णमंसामि भावजुदो ॥ ७७ ॥

रूपोनकोटिपदं ज्ञानप्रवादं अनेकज्ञानानां।
नानाभेदप्ररूपणपरं नमामि भावयुक्तः ॥

पयाणि ९९९९९९९।

इदि णाणपवादं गदं—इति ज्ञानप्रवादं गतं।

इस प्रकार यह ज्ञानप्रवाद नामक एक कम एक करोड़ पदों के द्वारा अनेक भेद रूप, अनेक प्रकार के ज्ञानों का अर्थात् पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान के भेद-प्रभेदों का निरूपण करता है इसमें बारह वस्तु और दो सौ चालीस प्राभृत हैं। इस ज्ञानप्रवाद नामक प्राभृत को मैं भाव सहित नमस्कार करता हूँ अथवा यह ज्ञानप्रवाद द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनादि, अनन्त, अनादिसान्त, सादि अनन्त और सादिसान्त विकल्पों तथा इसी प्रकार ज्ञान और ज्ञान के स्वरूप का कथन करता है ॥ ७७ ॥

विशेषार्थ

जैसे द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सामान्य ज्ञान अनादि अनन्त है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सादि सांत है। अभव्य की अपेक्षा कुमति, कुश्रुतिज्ञान अनादि अनन्त है, भव्य की अपेक्षा अनादि सांत है। सम्यग्दृष्टि होकर पुनः मिथ्यात्व में जाने की अपेक्षा सादि सांत है। कुअवधि सादि सांत है। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान सादि सांत है और केवलज्ञान सादि अनन्त है। इत्यादि रूप से ज्ञान के भेद-प्रभेदों का कथन करने वाला ज्ञानप्रवाद है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

॥ इस प्रकार ज्ञानप्रवाद समाप्त हुआ ॥

सत्यप्रवाद का कथन

सच्चपवादं छट्ठं वाग्गुत्ति चावि वयणसक्कारो।
वयणपओगं बारहभासा खलु वक्कवहुभेये ॥७८॥

सत्यप्रवादं षष्ठं वाग्गुप्तिश्चापि वचनसंस्कारः।
वचनप्रयोगो द्वादशभाषाः खलु वक्तृबहुभेदाः ॥

बहुविहमिसाभिहाणं दसविहसच्चं मया परूवेदि।
जीवाण बोहणत्थं पयाणि छसुत्तरा कोडी ॥७९॥

बहुविधमृषाभिधानं दशविधसत्यं मया प्ररूप्यते।
जीवानां बोधनार्थं पदानि षडुत्तरा कोटिः ॥

तंजहा। असच्चणिव्वत्ति मोणं वा वाग्गुत्ति, वयणसक्कारकारणाइं उरकंठसिरजिब्भामूलदंतणासिकातालुओट्ठणामाणि अट्ठट्ठाणाणि, पिट्ठदाईसिपिट्ठदाविविददाईसिविविददासंविविदरूवा पंचपयत्ता वयणसक्कारकारणाणि, सिट्ठदुट्ठरूवो वयणपओगो तल्लक्खणसत्थं सक्कायाइवायरणं। बारह भाषा—इणमणेण कियमिदि अणट्ठकहणमब्भक्खाणं णाम १ परोप्परविरोहहेदु कलहवाया २ पिट्ठदो दोससूयणं पेसुण्णवाया ३ धम्मत्थकाममोक्खाऽसंबद्धवयमसंबद्धालाओ ४ इंदियविसयेसु रइउप्पाइया वाया रदिवाया ५ तेसु अरदिउप्पादिया वाया अरदिवाया ६ परिग्गहाज्जणसंरक्खणाइआसत्तिहेदु वयणमुवाहिवयणं ७ ववहारे वंचणाहेदु वयणं णियडिवयणं ८ तवणाणादिसु अवणियवयणमवणदिवयणं ९ थेयहेदुवयणं मूसावयणं १० सम्मग्गोवदेसकं वयणं सम्मदंसणवयणं ११ मिच्छामग्गोवदेसकं वयणं मिच्छादंसणवयणमिदि १२।

तद्यथा। असत्यनिवृत्तिर्मौनं वा वाग्गुप्तिः। वचनसंस्कारकारणानि उरःकंठशिरोजिह्वामूलदन्तनासिकाताल्वोष्ठनामानि अष्टस्थानानि, स्पृष्टतेष-त्स्पृष्टताविवृततेषद्विवृततासंविवृततारूपाः पंचप्रयत्ना वचनसंस्कारणानि। शिष्टदुष्टरूपो वचनप्रयोगः तल्लक्षणशास्त्रं संस्कृतादिव्याकरणं। द्वादश भाषा इदमनेनकृतमिति अनिष्टकथनमभ्याख्यानं नाम १ परस्परविरोधहेतुः कलहवाक् २ पृष्ठतो दोषसूचनं पैशून्यवाक् ३ धर्मार्थकाममोक्षासम्बद्ध-वचनमसंबद्धालापः ४ इन्द्रियविषयेषु रत्युत्पादिका या वाक् रतिवाक् ५ तेष्वरत्युत्पादिका या वाक् अरतीवाक् ६ परिग्रहार्जनसंरक्षणाद्यासक्तिहेतु वचनं उपाधिवचनं ७ व्यवहारे वचनाहेतु निकृतिवचनं ८ तपोज्ञानादिषु अविनयवचनं अप्रणतिवचनं ९ स्तेयहेतु वचनं मृषावचनं १० सन्मार्गोप-दशकं वचनं सम्यग्दर्शनवचनं ११ मिथ्यामार्गोपदेशकं वचनं मिथ्यादर्शन वचनमिति १२।

सत्य प्रवाद—जिसमें वचन गुप्ति, वाक्संस्कार के कारण वचन प्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, अनेक प्रकार के वक्ता, अनेक प्रकार के असत्य-वचन और दश प्रकार के सत्य वचन का वर्णन है वह छठा सत्यप्रवाद है। जीवों को ज्ञान कराने के लिए वचन पद्धति का एक करोड़ छह पदों के द्वारा मैं वर्णन करता हूँ या मेरे द्वारा सत्यप्रवाद का कथन किया जा रहा है॥ ७८-७९॥

असत्य नहीं बोलना, वचन संयम (मौन) धारण करना वचन गुप्ति है। शिर, कण्ठ, हृदय, जिह्वामूल, दांत, नासिका, तालु और ओठ ये वचन उच्चारण के आठ स्थान हैं। अक्षरों के उच्चारण के कारण होने से इनको वाक् वाक्संस्कार कारण कहते हैं। इसमें स्पष्ट, किंचित् स्पष्ट, विवृत, अविवृत और संविवृत रूप वचन उच्चारण करने के पांच प्रयत्न हैं।

वचन उच्चारण करते समय कौन से शुभाशुभ वचनों का वहां प्रयोग करना चाहिये उसको वचन प्रयोग कहते हैं।

अभ्याख्यान वचन, कलह वचन, पैशुन्य वचन, अबद्धप्रलाप वचन, रति वचन, अरति वचन, उपधि वचन, निकृति वचन, अप्रणति वचन, मोष वचन, सम्यग्दर्शन वचन और मिथ्यादर्शन वचन के भेद से भाषा १२ प्रकार की है।

हिंसादि पापों में प्रवृत्ति कराने वाली भाषा वा यह इसका कर्त्ता है। इस प्रकार अनिष्ट कथन करने वाली अभ्याख्यान भाषा है।

जिसको सुनकर कलह उत्पन्न हो जाय वह कलह वचन है। पीठ पीछे दोष प्रकट करना पैशून्य वा चुगलिभाषा है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ के सम्बन्ध से रहित यद्वा तद्वा प्रलाप करना अबद्ध प्रलाप वचन है।

जिसको सुनकर पंचेन्द्रिय विषयों में रति उत्पन्न होती है वह रति वचन है जिसे सुनकर विषयों में द्वेष उत्पन्न होता है उसको अरति वचन कहते हैं।

जिसको सुनकर श्रोता परिग्रह के अर्जन एवं रक्षण करने में आसक्त हो जाता है वह उपधि वाक् है।

जिन वचन को अवधारण करके जीव वाणिज्य आदि कार्यों में ठगने रूप प्रवृत्ति करने में चतुर हो उसे निकृति भाषा कहते हैं।

जिन वाक्यों को सुनकर मानव गुणाधिक्य तपस्वी आदि में नम्रीभूत नहीं होता है उनका विनय नहीं करना उसे अप्रणति वचन कहते हैं।

जिन वचन को सुनकर प्राणी चोरी करने में प्रवृत्त होता है उन्हें मोष वचन कहते हैं।

जिनको सुनकर मानव समीचीन मार्ग में लगता है वह सम्यग्दर्शन भाषा है।

जिनको सुनकर प्राणी मिथ्यामार्ग में लग जाता है वह मिथ्या भाषा है।

वत्तारा बहुभेया वींदियपमुहा हवंति मूसवयो।
बहुविहमसच्चवयणं दव्वादिसमासियं णेयं ॥८०॥

वक्तारो बहुभेदा द्वीन्द्रियप्रमुखा भवन्ति मृषावाक्।
बहुविधमसत्यवचनं द्रव्यादिसमाश्रितं ज्ञेयं ॥

दसविहसच्चं जणवद सम्मिदि ठवणा य णाम रूवे य।
संभावणे य भावे पडुच्च ववहार उवमाए ॥८१॥

दशविधसत्यं जनपदं सम्मतिः स्थापना च नाम रूपं।
संभावना च भावः प्रतीत्य व्यवहारं उपमा ॥

जिनमें वक्तृत्व शक्ति उत्पन्न हो गई हो ऐसे दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीव वक्ता कहलाते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा

असत्य अनेक प्रकार के हैं अथवा अस्ति को नास्ति कहना, नास्ति को अस्ति कहना है कुछ और कहना, कुछ तथा सावद्य, गर्हित, निंद्यनीय, कठोर आदि वचन असत्य कहलाते हैं ॥ ८० ॥

इन १२ भाषाओं का वर्णन सत्यप्रवाद में होता है।

दश प्रकार के सत्य वचन का वर्णन भी इसी में है। वह इस प्रकार हैं—जनपद सत्य, सम्मति सत्य, स्थापना सत्य, नाम सत्य, रूप सत्य, संभावना सत्य, भाव सत्य, प्रतीति सत्य, व्यवहार सत्य और उपमा सत्य के भेद से सत्य दश प्रकार का है ॥ ८१ ॥

भत्तं राया सम्मदि पडिमा तह होदि एस सुरदत्तो ।
किण्हो जंबूदीवं पल्लट्टदि पाववज्जवयो ॥८२॥

भक्तं राजा सम्मतिः प्रतिमा तथा भवत्येष सुरदत्तः । सागर जी महाराज
कृष्णः जम्बूद्वीपं परिवर्तयति पापवर्ज्यवचनं ॥

विशेषार्थ

तत्तद्देशवासी मनुष्यों के व्यवहार में जो शब्द रूप हो रहा है उसको जनपद सत्य कहते हैं। जैसे—भक्त, भात, भाट्ट, भेद, वंटक, मुकूडू, कूलू, चोरु आदि भिन्न-भिन्न शब्दों से एक ही चीज को (भातरो) कहा जाता है।

बहुत मनुष्यों की सम्मति से जो सर्व साधारण में रूढ़ हो उसको सम्मति सत्य या संवृति सत्य कहते हैं। जैसे—राजा के सिवाय किसी अन्य को भी राजा कहना।

किसी वस्तु में उससे भिन्न वस्तु के समारोप करने वाले वचन को स्थापना सत्य कहते हैं। जैसे—चन्द्रप्रभ भगवान् की प्रतिमा को चन्द्रप्रभ कहना।

दूसरी कोई अपेक्षा न रखकर केवल व्यवहार के लिए जो किसी का संज्ञा कर्म करना इसको नाम सत्य कहते हैं। जैसे सुरदत्त। यद्यपि उसको बलशालि तो दिया नहीं है, तथापि व्यवहार के लिए उसको सुरदत्त कहते हैं।

पुद्गल के रूपादिक अनेक गुणों में से रूप की प्रधानता से जो वचन कहा जाय उसको रूप सत्य कहते हैं। जैसे किसी मनुष्य को काला कहना। यद्यपि उसके शरीर में अन्य वर्ण भी पाये जाते हैं अथवा उसके

शरीर में रसादिक के रहने पर भी ऊपर से रूप गुण की अपेक्षा उसको कृष्ण कहना।

असंभवता का परिहार करते हुए वस्तु के किसी धर्म का निरूपण करने में प्रवृत्त वचन को संभावना सत्य कहते हैं। जैसे इन्द्र जम्बूद्वीप को लौट दे अथवा उलट सकता है।

आगमोक्त विधि निषेध के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों में संकल्पित परिणामों को भाव कहते हैं। उसके आश्रित जो वचन हो उसको भाव सत्य कहते हैं। जैसे—शुष्क, पक्व, तप्त और नमक, मिर्च, खटाई आदि से अच्छी तरह मिलाया हुआ द्रव्य प्रासुक होता है। यहाँ पर यद्यपि सूक्ष्म जीवों को इन्द्रियों से देख नहीं सकते तथापि आगम प्रामाण्य से उसकी प्रासुकता का वर्णन किया जाता है। इसलिए इस ही तरह के पापवर्ज वचन को भावसत्य कहते हैं॥ ८२॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

किसी विवक्षित पदार्थ की अपेक्षा से दूसरे पदार्थ के स्वरूप का कथन करना इसको प्रतीतिसत्य अथवा आपेक्षिक सत्य कहते हैं। जैसे किसी छोटे या पतले पदार्थ की अपेक्षा से दूसरे पदार्थ को बड़ा लम्बा या स्थूल कहना।

नैगमादि नयों की प्रधानता से जो वचन बोला जाय उसको व्यवहार सत्य कहते हैं। जैसे नैगमनय की प्रधानता से "भात पकाता हूँ" संग्रहनय की अपेक्षा "सम्पूर्ण सत्य है" अथवा सम्पूर्ण असत्य है।

दूसरे प्रसिद्ध सदृश पदार्थ को उपमा कहते हैं। इसके आश्रय से जो वचन बोला जाय उसको उपमा सत्य कहते हैं। जैसे पल्य। यहाँ पर रोमखण्डों का आधारभूत गड्ढा, पलय, अर्थात् खास के सदृश होता है इसलिए उसको पल्य कहते हैं। इस संख्या को उपमासत्य कहते हैं। इस प्रकार ये दश प्रकार के सत्य के दृष्टान्त हैं इसलिए और भी इसी तरह जानना।

विशेषार्थ

हे देवदत्त ! यहाँ आओ, इस तरह बुलाने वाले वचन को आमन्त्रणी भाषा कहते हैं।

यह मुझको दो, इस तरह के प्रार्थना वचन को याचनी भाषा कहते हैं।

यह क्या है ? इस तरह के प्रश्न वचनों को आपृच्छनी भाषा कहते हैं।

मैं क्या करूँ, इस तरह के सूचक वाक्यों को प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं।

इसको छोड़ता हूँ इस तरह के छोड़ने वाले वाक्यों को प्रत्याख्यानी भाषा कहते हैं।

यह बलाका है अथवा पताका, ऐसे संदिग्ध वचनों को संशय वचनी भाषा कहते हैं।

मुझको भी ऐसा ही होना चाहिए ऐसी इच्छा को प्रकट करने वाले वचनों को इच्छानुलोम्नी भाषा कहते हैं।

हस्सो रज्झदि कूरो पल्लोवममेवमादिया सच्चा ।
आमंतणि आणवणी पुच्छणि जाचणी य पणवण्णी ॥८३॥

ह्रस्वः रध्यति क्रूरः पल्योपममेवमादिकानि सत्यानि ।
आमंत्रणी आज्ञापनी पृच्छनी याचनी प्रज्ञापनी ॥

पच्चक्खाणो संसयवयणी इच्छाणुलोमिया तच्च ।
णवमी अणक्खरगुदा एवं भासा परूवेदि ॥८४॥

प्रत्याख्यानी संशयवचनी इच्छानुलोमिका तच्च ।
नवमी अनक्षरगता एवं भाषाः प्ररूपयति ॥

पयाणि—१००००००६

इदि सच्चपवादपुव्वं गदं—इति सत्यप्रवादपूर्वं गतं ।

आमन्त्रणी, आज्ञापनी, याचनी, आपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, संशयवचनी, इच्छानुलोम्नी, अनक्षरगता ये नव प्रकार की अनुभयात्मक भाषाएँ हैं। क्योंकि इनके सुनने वाले को व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही अंशों का ज्ञान होता है ॥८३॥

द्वीन्द्रियादिक असंज्ञिपंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों की भाषा अनक्षरात्मक होती है। ये सब ही भाषा अनुभव वचन रूप है। कारण यह कि इनके सुनने से व्यक्त और अवयक्त दोनों ही अंशों का बोध होता है क्योंकि सामान्य अंश के व्यक्त होने से इनको असत्य भी नहीं कह सकते और विशेष अंश के व्यक्त न होने से इनको सत्य भी नहीं कह सकते। अतएव ये नव प्रकार के वाक्य अनुभव वचन कहे जाते हैं। इसी तरह के अन्य भी जो वचन हों उनको इन्हीं भेदों में अन्तर्भूत समझना चाहिये ॥ ८४ ॥

विशेषार्थ

इस प्रकार सत्य असत्य आदि के निर्णय करने का कथन करने वाले पूर्व को सत्यप्रवाद कहते हैं।

सत्यप्रवाद पूर्व बारह वस्तुगत दो सौ चालीस प्राभृतों के एक करोड़ छह पदों के द्वारा वचन गुप्ति आदि भाषाओं का निरूपण करता है।

॥ इस प्रकार सत्यप्रवाद पूर्व का कथन समाप्त हुआ ॥

आत्मप्रवाद का कथन

अप्पपवादं भणियं अप्पसरूवप्परूवयं पुव्वं।
छव्वीसकोडिपयगयमेवं जाणंति सुपयत्था ॥ ८५ ॥

आत्मप्रवादं भणितं आत्मस्वरूपप्ररूपकं पूर्वं।
षड्विंशतिकोटिपदगतमेवं जानन्ति सुपदस्थाः ॥

जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो।
वेदी विण्हू सयंभू सरीरी तह माणओ ॥ ८६ ॥

जीवः कर्ता च वक्ता च प्राणी भोक्ता च पुद्गलः।
वेदः विष्णुः स्वयंभू शरीरी तथा मानवः ॥

सत्तो जंतू य माणी य माई जोगी य संकुडो।
असंकुडो य खत्तण्हू अंतरप्पा तहेव य ॥ ८७ ॥

सत्ता जन्तुश्च मानी च मायी योगी च संकुचितः।
असंकुचितः क्षेत्रज्ञः अन्तरात्मा तथैव च ॥

आत्मा के स्वरूप का प्ररूपक आत्मप्रवाद कहलाता है। इसके छव्वीस करोड़ पद हैं, ऐसा पदस्थ लोग जानते हैं अर्थात् छव्वीस करोड़ पदों के द्वारा आत्मा जीव है, कर्त्ता है, वक्ता है, भोक्ता है, पुद्गल है, वेत्ता है, विष्णु है, स्वयंभू है, शरीरी है, मानव है, सक्त है, जन्तु है, मानी है, मायी है, योगी है, संकुचित है, असंकुचित है, क्षेत्रज्ञ है, और अन्तरात्मा है। इत्यादि रूप से आत्मा के स्वरूप का वर्णन करता है उसको आत्मप्रवाद कहते हैं ॥ ८५-८६-८७ ॥

ववहारेण जीवदि दसपाणेहिं, णिच्छयणएण य केवलणाणदंसणसम्मत्तरूवपाणेहि, जीविहिदि जीविहपुव्वो जीवदित्ति जीवो। ववहारेण सुहासुहं कम्मं णिच्छयणयेण चिप्पज्जयं च करेदित्ति कत्ता। नो कमवि करेदि इदि अकत्ता। सच्चमसच्चं च वत्तित्ति वत्ता। णिच्छयदो अवत्ता। णयदुगुत्तपाणा अस्स अत्थि इदि पाणी। कम्मफलं सस्सरूवं च भुंजदि इदि भोत्ता। कम्मपोग्गलं पूरेदि गालेदि य पोग्गलो। णिच्छयदो अपो-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
गलो। सव्वं वेइ इदि वेदो। वावणसीलो विण्हू। सयंभूवणसीलो सयंभू। सरीरमस्सत्थित्ति सरीरी। णिच्छयदो असरीरि। माणवादिपज्जयजुत्तो माणवो। णिच्छएण अमाणवो। एवं सुरो असुरो तिरिच्छो अतिरिच्छो णारयो अणारयो च इदि णादव्वं। परिग्गहेसु सजदित्ति सत्ता। णिच्छयदो असत्ता। णाणाजोणिसु जायइत्ति जंतू। णिच्छयेण अजंतू। माणो अहंकारो अस्सत्थित्ति माणी। णिच्छयदो अमाणी। मायास्सत्थित्ति मायी। णिच्छयदो अमायी। जोगो मणवयणकायलक्खणो अस्सत्थित्ति जोगी। णिच्छयदो अजोगी। जहण्णेण संकुइदपदेसो संकुडो। समुग्घादे लोयं वाप्पइत्ति असंकुडो। खेत्तं लोयालोयं सस्सरूवं च जाणदित्ति खेत्तण्हू। अट्ठकम्माब्भंतरवत्तीसभावदो चेदणाब्भंतरवत्तीसभावदो च अन्तरप्पा। एवं मुत्तो अमुत्तो। एवमादि वण्णेदि सत्तमपुव्वं।

व्यवहारेण जीवति दशप्राणैः, निश्चयनयेन च केवलज्ञानदर्शनसम्यक्त्वरूपप्राणैः। जीविष्यति जीवितपूर्वो जीवतीति जीवः। व्यवहारेण शुभाशुभं कर्म निश्चयनयेन चित्पर्यायं च करोतीति कर्त्ता। न किमपि करोतीत्यकर्त्ता। सत्यमसत्यं च वक्तीति वक्ता। निश्चयतोऽवक्ता। नयद्विकोक्तप्राणा यस्य सन्तीति प्राणी। कर्मफलं स्वस्वरूपं च भुंक्ते इति भोक्ता। कर्मपुद्गलान् पूरयति गालयति च पुद्गलः। निश्चयतोऽपुद्गलः। सर्वं वेत्तीति वेदः। व्यापनशीलो विष्णुः। स्वयंभवनशीलो स्वयंभूः। शरीरमस्यास्तीति शरीरी। निश्चयतोऽशरीरी। मानवादिपर्यायियुक्तो मानवः। निश्ययेनामानवः। एवं सुरोऽसुरः, तिर्यंचोऽतिर्यंचः, नारकोऽनारकश्च इति ज्ञातव्यः। परिग्रहेषु सजतीति सक्ता। निश्चयतोऽसक्ता। नानायोनिषु जायते इति जन्तुः। निश्चयेनाजन्तुः। मानोऽहंकारोस्यास्तीति मानी। निश्चयतोऽमानी। मायास्यास्तीति मायी। निश्चयतोऽमायी। योगो मनवचनकायलक्षणोऽस्यास्तीति योगी। निश्चयतोऽयोगी। जघन्येन संकुचितप्रदेशः संकुचितः। समुद्घाते लोकं व्याप्नोतीत्यसंकुचितः। क्षेत्रं लोकालोकंस्वरूपं च जानातीति क्षेत्रज्ञः। अष्टकर्माभ्यन्तरवर्तिस्वभावतश्चेतनाभ्यन्तरवर्तिस्वभावतश्चान्तरात्मा। एवं मूर्तोऽमूर्तः। एवमादिकं वर्णयति सप्तमं पूर्वं।

पयाणि २६००००००० ।

इदि अप्पपवादं गदं—इत्यात्मप्रवादं गतं।

आत्मा व्यवहारनय से दश प्राणों से और निश्चयनय से केवलज्ञानदर्शन सम्यक्त्व रूप प्राणों से जीवित है, जीवित था और जीवित रहेगा। अतः जीव कहलाता है।

व्यवहारनय से शुभ अशुभ कर्मों का और निश्चयनय से अपने चैतन्य भावों का करने वाला होने से कर्त्ता है। शुद्ध निश्चयनय से कुछ भी नहीं करता अतः अकर्त्ता है।

व्यवहारनय से सत्य एवं असत्य वचनों को बोलता है अतः वक्ता है और निश्चयनय से अवक्ता है।

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

व्यवहारनय से इन्द्रिय आदि प्राणों को और निश्चयनय से ज्ञान-दर्शन प्राणों को धारण करने वाला होने से आत्मा प्राणी है।

व्यवहारनय से शुभाशुभ कर्मों का और निश्चयनय से अपने स्वरूप को अनुभव करने वाला होने से भोक्ता है।

व्यवहारनय से कर्म नोकर्म पुद्‌गलों को पूरना, गालना है इसलिए पुद्‌गल है और निश्चयनय से अपुद्‌गल है।

व्यवहारनय से त्रिकाल गोचर लोकालोक को और निश्चयनय से स्व को जानता है इसलिए आत्मा वेत्ता है वा वेद है।

व्यवहारनय से अपने द्वारा ग्रहण किये हुये शरीर को समुद्‌घात की अपेक्षा सर्व लोक को तथा निश्चयनय से सारे तीन लोक के पदार्थों को ज्ञान से वेष्टित करता है ,व्याप्त करता है अतः विष्णु है।

यद्यपि व्यवहारनय से कर्मवशात् भव-भव में नरकादि रूप होता है तथापि निश्चयनय से स्वयं अपने में ज्ञान-दर्शन रूप होता है, परिणमन करता है अतः आत्मा स्वयंभू है।

व्यवहारनय से औदारिक आदि शरीर के मध्य में रहने वाला होने से शरीरी और निश्चयनय से शरीर रहित होने से अशरीरी है।

व्यवहारनय से तिर्यञ्च, मानव, देव और नारकी आदि पर्यायों में परिभ्रमण करता है। मानव आदि पर्यायों में परिणत है। अतः मानव, तिर्यञ्च, नारकी और देव रूप है। जैसे मनु (ज्ञान) में लीन होने से मानव है और निश्चयनय से अमानव है।

व्यवहारनय से स्वजन, मित्र आदि परिग्रह में लीन रहता है सक्त है। निश्चयनय से आत्मा परिग्रह में आसक्त नहीं है अतः असक्त है।

व्यवहारनय से आत्मा चतुर्गतिरूप संसार में चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न होता है अतः जन्तु है। निश्चयनय से अजन्तु है।

व्यवहारनय से मान (अहंकार) इसके है। इसलिए आत्मा मानी है, निश्चयनय से अमानी है।

व्यवहारनय से नाना वंचना आत्मा के है अतः मायी है, निश्चयनय से अमायी है।

व्यवहारनय से मन, वचन, काय युक्त होने से आत्मा योगी है, निश्चयनय से अयोगी है।

व्यवहारनय से सूक्ष्मनिगोद लब्धपर्याप्त सर्व जघन्य शरीर प्रमाण वाला होने से आत्मा संकुट है। संकुचित प्रदेशवाला है। समुद्घात के समय सारे लोकाकाश में व्याप्त होता है। अतः आत्मा असंकुट है। और निश्चयनय की अपेक्षा संकोच विस्तार का अभाव होने से अनुभव रूप है वा किंचित् नून चरम शरीर प्रमाण है।

निश्चय एवं व्यवहारनय से क्षेत्र-लोकालोक स्वरूप को जानता है अतः आत्मा क्षेत्रज्ञ है।

व्यवहारनय से अष्टकर्म के अभ्यन्तरवर्ति स्वभाव होने से वा निश्चय-नय से चैतन्य के अभ्यन्तरवर्ति रहने का स्वभाव होने से अन्तरात्मा है।

इस प्रकार आत्मा के मूर्त-अमूर्त आदि अनेक भेदों का वर्णन करता है, वह आत्मप्रवाद नामक सातवाँ पूर्व है। इसके छब्बीस करोड़ पद हैं। और सोलह वस्तुगत तीन सौ बीस प्राभृत हैं।

॥ इस प्रकार आत्मप्रवाद नामक पूर्व समाप्त हुआ ॥

कर्मप्रवाद का प्ररूपण

कम्मपयादपरूवण कम्मपवादं सया णमंसामि ।
इगिकोडीअडसीदीलक्खपयं अट्ठमं पुव्वं ॥ ८८ ॥

कर्मप्रवादप्ररूपणं कर्मप्रवादं सदा नमामि ।
एककोट्यष्टाशीतिलक्षपदं अष्टमं पूर्वं ॥

आवरणस्स विभेयं वेयणीयं मोहणायु णामं च ।
गोत्तं च अंतरायं अट्ठवियप्पं च कम्ममिणं ॥ ८९ ॥

आवरणस्य विभेदं वेदनीयं मोहनीयमायुः नाम च ।
गोत्रं चान्तरायं अष्टविकल्पं च कर्मेदं ॥

कर्मप्रवाद (कर्म समूह) का प्ररूपक, एक करोड़ अस्सी लाख पदों से युक्त जो कर्मप्रवाद नामक अष्टम पूर्व है उसको मैं सदा नमस्कार करता हूँ ॥ ८८ ॥

आवरण के भेद (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम,

गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म विकल्प हैं। यह मूल प्रकृति कहलाती है ।। ८९ ।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अडदालसयं उत्तरपयडीदो असंखलोयभेयं च ।
बंधुदयुदीरणावि च सत्तं तेसिं परूवेदि ।। ९० ।।

अष्टचत्वारिंशच्छतं उत्तरप्रकृतितः असंख्यलोकभेदं च ।
बंधोदयोदीरणा अपि च सत्वं तेषां प्ररूपयति ।।

आठ कर्मों की उत्तरप्रकृति एक सौ अड़तालीस हैं। तथा जीवों के परिणामों की भिन्नता या कर्म फलदान शक्ति की अपेक्षा कर्म असख्यात लोक प्रमाण है। इन मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का यह कर्मप्रवाद नामक अष्टम पूर्व वर्णन करता है ।। ९० ।।

विशेषार्थ

योग और कषाय के द्वारा आए हुए पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा के साथ उपश्लेष (एक क्षेत्रावगाही) हो जाना ही बन्ध है। अथवा कर्मों का आत्मा के साथ बद्ध होना और उनमें स्वभाव, मर्यादा, प्रभाव और परिणाम उत्पन्न होना बंध है।

कर्मों का फलदान उदय कहलाता है। अगर कर्म अपना फल देकर निर्जीव हो तो वह फलोदय और फल दिये बिना ही नष्ट हो जाय तो वह प्रदेशोदय कहलाता है।

बन्ध के समय में नियत हुई काल मर्यादा के पूर्व ही कर्मों को उदय में ले आना उदीरणा है। अर्थात् स्थिति पूर्ण किये बिना कर्म उदय में आकर खिर जाना उदीरणा है।

कर्म बँधते ही अपना असर नहीं प्रकट करने लगते। जैसे मादक वस्तु का सेवन करते ही नशा नहीं आ जाता, धीरे-धीरे आता है, उसी प्रकार कर्मबन्ध के पश्चात् बीच का नियत समय, जिसे आबाधाकाल कहते हैं, समाप्त होने पर ही कर्म का फल होता है। बन्ध होने के और फलोदय पर ही कर्म का फल होता है। बन्ध होने और फलोदय होने के बीच कर्म आत्मा में विद्यमान रहते हैं उसको सत्ता कहते हैं।

पयडिट्ठिदि अणुभागो पदेसबंधो हु चउविहो बंधो ।
तेसिं च ठिदि णेया जहण्णइदरप्पभेयेण ।। ९१ ।।

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धो हि चतुर्विधो बन्धः ।
तेषां च स्थितिः ज्ञेया जघन्येतरप्रभेदेन ।।

प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेशबन्ध के भेद से बन्ध चार प्रकार का है। जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से स्थितिबंध दो प्रकार का है॥ ९१॥

विशेषार्थ

गाय घास खाती है और अपनी औदर्य यंत्र प्रणाली द्वारा उसे दूध के रूप में परिणत कर देती है। उस दुध में चार बातें होती हैं—१. दूध की प्रकृति (मधुरता) २. काल मर्यादा : दूध में विकृति न होने की एक अवधि। ३. मधुरता की तरतमता। जैसे भैंस के दूध की अपेक्षा कम और बकरी के दूध की अपेक्षा अधिक मधुरता होना आदि। ४. दूध का परिमाण सेर दो सेर आदि।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इसी प्रकार कर्म में एक विशेष प्रकार का स्वभाव उत्पन्न हो जाना प्रकृति बंध है।

मूलप्रकृति बंध और उत्तरप्रकृति बंध के भेद से प्रकृति बंध दो प्रकार का है। यद्यपि कर्म के स्वभाव असंख्य हैं फिर भी उन्हें मूल में आठ प्रकार और उत्तर में एक सौ अड़तालीस प्रकार का कहा गया है।

ज्ञानावरण आदि के भेद से मूल प्रकृति बन्ध आठ प्रकार का है। वह निम्न प्रकार है—

प्रकृति, शील, स्वभाव ये एकार्थवाची हैं। ज्ञानावरण आदि कर्मों का जो स्वभाव है वह प्रकृति बन्ध है।

ज्ञानावरण बादलों का बवंडर जैसे सूर्य को आच्छादित कर देता है, उसी प्रकार जो कर्म पुद्गल हमारे ज्ञान तन्तुओं को सुप्त और चेतना को मूर्च्छित बना देते हैं, वे ज्ञानावरण स्वभाव वाले कर्म कहलाते हैं।

राजा के दरबार में जाते हुए पुरुष को जैसे द्वारपाल रोक देता है और राजा के दर्शन में बाधक होता है, उसी प्रकार जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण का बाधक हो, वह दर्शनावरण कहलाता है।

तलवार की धार पर लगे शहद के समान सांसारिक सुख की और दुःख की वेदना का जो कारण है, वह वेदनीय कर्म है।

मोह एक उन्मादजनक विलक्षण मदिरा है जो प्राणी मात्र को विवेक विकल बना देती है, वह मोहनीय है।

लोहे की बेड़ी के समान है, जिसके खुले बिना स्वाधीनता के सुख का

अनुभव नहीं हो सकता तथा जो कर्म जीव को मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारकी के शरीर में नियत अवधि तक कैद रखता है, वह आयु कर्म है।

चित्रकार विभिन्न रंग सँजो-सँजोकर अपनी तूलिका की सहायता से नाना प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार जो कर्म जगत के प्राणियों के नाना आकार-प्रकार वाले शरीर की रचना करता है, वह नामकर्म कहलाता है।

जैसे कुम्हार छोटे-बड़े बर्तन बनाता है, उसी प्रकार जिस कर्म के प्रभाव से जीव प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित कुल में जन्म लेता है, वह गोत्रकर्म है।

जो दानादिक में विघ्न डालता है। अभीष्ट की प्राप्ति में अड़ंगा लगा देता है, वह अन्तराय कर्म है।

मूल कर्म के भेद-प्रभेदों को उत्तरप्रकृति कहते हैं। यद्यपि वह उत्तर-प्रकृति असंख्यात लोक प्रमाण है तथापि संक्षेप से उनका ज्ञान कराने के लिए एक सौ अड़तालीस भेद कहे हैं। उनके नाम और स्वभाव इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरण कर्म के पाँच भेद हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण।

इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले तीन सौ छत्तीस प्रकार के मतिज्ञान पर आवरण करने वाले कर्म को मतिज्ञानावरण कहते हैं।

मतिज्ञानपूर्वक होने वाले पर्याय, पर्याय समास आदि बीस प्रकार के श्रुतज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म श्रुतज्ञानावरण कहलाता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा से रूपी पदार्थ जानने वाले ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म अवधिज्ञानावरण कहलाता है।

दूसरे मन में स्थित रूपी पदार्थों को जानने वाले मनःपर्यय को ढकने वाला मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म है।

सकल द्रव्य, गुण और पर्यायों को जानने वाले केवलज्ञान पर आवरण करने वाला केवलज्ञानावरण कर्म कहलाता है।

दर्शनावरण कर्म के उत्तर भेद नौ हैं—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि।

जो चक्षु द्वारा होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे वह चक्षुदर्शनावरण है।

जो चक्षु को छोड़कर अन्य इन्द्रियों से होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे वह अचक्षुदर्शनावरण है।

जो अवधिज्ञान से पहले होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे वह अवधिदर्शनावरण है।

जो केवलज्ञान के साथ होने वाले सामान्य दर्शन को रोके वह केवल-दर्शनावरण है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मद, खेद और परिश्रमजन्य थकावट को दूर करने के लिए नींद लेना निद्रा है।

निद्रा के उत्तरोत्तर अर्थात् पुनः-पुनः प्रवृत्ति होना निद्रा-निद्रा है।

जो शोक श्रम और मद आदि के कारण उत्पन्न हुई है और जो बैठे हुए प्राणी के भी नेत्र गात्र की विक्रिया सूचक है, ऐसी जो क्रिया आत्मा को चलायमान करती है वह प्रचला है।

प्रचला की पुनः-पुनः प्रवृत्ति होना प्रचला-प्रचला है।

जिसके निमित्त से स्वप्न में वीर्य विशेष का आविर्भाव होता है वह स्त्यानगृद्धि निद्रा है।

निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय से तम अवस्था और निद्रा-निद्रा कर्म के उदय से महातम अवस्था होती है।

वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृति दो प्रकार की है—साता एवं असाता।

जिसके उदय से देव, मनुष्य और तिर्यञ्च गति में शारीरिक और मानसिक सुखों का अनुभव हो उसको साता वेदनीय कहते हैं।

जिसके उदय से नरकादि गतियों में शारीरिक, मानसिक आदि नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव हो उसको असाता वेदनीय कहते हैं।

मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीय।

सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव नहीं होने देना अथवा उसमें विकृति उत्पन्न करना दर्शनमोहनीय कर्म का कार्य है उस दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति।

जिसके उदय से यह जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख तत्त्वार्थ श्रद्धान करने में निरुत्सुक और हिताहित का विचार करने में असमर्थ होता है उसको मिथ्यात्व कहते हैं।

जो कर्म सम्यग्दर्शन का घात तो नहीं करता परन्तु उसमें चल-मल-

अवगाढ आदि दोषों को उत्पन्न करता है वह सम्यक्त्व मिथ्यात्व प्रकृति कर्म है।

जिसके उदय से मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दोनों की मिली हुई अवस्था होती है, न सम्यग्दर्शन रूप परिणाम रहते है और न मिथ्यात्व रूप रहते हैं अपितु मिश्ररूप परिणाम होते हैं उसको सम्यक्त्व-मिथ्यात्व प्रकृति कहते हैं।

आत्मा के सम्यक्चारित्र की घातक चारित्र मोहनीय है जिसके उदय से जीव चारित्र को धारण करने में समर्थ नही होता है।

चारित्र मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय।

कषाय वेदनीय के सोलह भेद हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ। अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

क्रोध एक मानसिक किन्तु उत्तेजक संवेग है। उत्तेजित होते ही व्यक्ति भावाविष्ट हो जाता है जिससे उसकी विचार क्षमता और तर्क शक्ति बहुत कुछ शिथिल हो जाती है। शारीरिक स्थिति परिवर्तित हो जाती है, आमाशय की मंथन क्रिया, रक्त चाप, हृदय की गति और मस्तिष्क के ज्ञान तन्तु सब अव्यवस्थित हो जाते हैं। क्रोध में स्थित मानव अपने स्वरूप को भूल जाता है।

कुल, बल, ऐश्वर्य, वृद्धि, जाति, ज्ञान आदि का घमण्ड करना पूज्य पुरुषों के प्रति नम्र भाव का नहीं होना मान है।

दूसरों को ठगने के लिए कपट करना माया कषाय है। सांसारिक पदार्थों के प्रति तृष्णा, लालसा, गृद्धि का होना लोभ है।

ये क्रोधादि चारों कषाय आवेश की तरतमता और स्थायित्व के आधार पर चार-चार भागों में बांटे गये हैं।

अनन्तानुबंधी—अनन्त नाम संसार का है। परन्तु जो उसका कारण हो वह भी अनन्त कहा जाता है। जैसे कि प्राणों को धारण करने में सहायक रूप अन्न को भी प्राण कहते हैं। यहां पर मिथ्यात्व परिणाम को अनन्त कहा गया है। क्योंकि वह अनन्त संसार का कारण है। जो इस अनन्त मिथ्यात्व के 'अनु' अर्थात् साथ-साथ बंधे हुये हैं इन कषायों को अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। इन कषाय के अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार भेद हैं।

अप्रत्याख्यान—इसमें 'अ' का अर्थ है 'ईषत्' अर्थात् इस कोटि की कषायों के उदय में रहने से जीव थोड़ा सा भी प्रत्याख्यान (व्रत, संयम, त्याग) नहीं कर पाता, श्रावक के अणुव्रतों को भी धारण कर नहीं सकता। ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चारित्र मोहनीय कर्म को अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

प्रत्याख्यान—जिन क्रोधादि चार कषायों के उदय से प्रत्याख्यान अर्थात् पूर्ण व्रतों (महाव्रतों) का आवरण हो, जिसके कारण धर्म मार्ग में आरूढ़ श्रावक साधु के महाव्रतों का धारण नहीं कर सके, इसमें बाधा उत्पन्न हो, उन कषायों को प्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

संज्वलन—जिन क्रोधादि कषायों के उदय से संयम 'स' (कषायों) से एक रूप होकर 'ज्वलित' हो, प्रकाश करे, अर्थात् कषाय-अंश से मिला हुआ संयम रहे, कषाय रहित निर्मल यथाख्यात संयम न हो सके, उन्हें संज्वलन कषाय कहते हैं।

नो-कषाय—कषायों को उत्तेजित करने वाली भी मनोवृत्तियाँ हैं जिन्हें नो-कषाय कहते हैं। यहाँ नो का अर्थ है 'ईषत्' या अल्प। इन्हें नो-कषाय इसलिए कहा गया है कि जीवों की स्वाभाविक, जन्मजात, प्राकृतिक वृत्तियाँ, जो स्वभावतः ही जीवों में उत्पन्न होती रहती हैं। ये स्वयं में कषाय रूप नहीं हैं, परन्तु इन वृत्तियों के उत्तेजित होने पर मनुष्य इन्हें सन्तुष्ट करने के लिए रागादि से प्रेरित होकर क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों से मलिन (विकार युक्त) नाना प्रकार के उद्यम (चेष्टाएँ) करता है, कषाय भावों से युक्त होता है, इसलिए उन्हें कषाय नहीं, नो-कषाय कहा गया है। नो-कषाय इस प्रकार है—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हास्य—जिससे हँसी आवे उसे हास्य कहते हैं।

रति—जिससे अनुरक्ति, स्नेह, राग या किसी से विशेष प्रेम हो उसे रति कहते हैं, जैसे—देश, धन, पत्नी, माता-पिता, पुत्रादि के प्रति प्रीति।

अरति—जिसके उदय से किसी वस्तु, व्यक्ति या पदार्थ के प्रति द्वेष या अरुचि उत्पन्न होती हो, ग्लानि का भाव आता हो, उस वस्तु से मन हट जाता हो, उसे अरति कहते हैं।

शोक—जिसके उदय से किसी इष्ट या प्रिय वस्तु का वियोग होने पर मन में अस्थिरता, क्लेश उत्पन्न होता हो, उसे शोक कहते हैं।

भय—जिसके उदय से भीति उत्पन्न हो, अर्थात् किसी से चित्त में घबराहट या उद्वेग उत्पन्न हो, उसका नाम भय है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जुगुप्सा—जिस मनोवृत्ति के उदय से पदार्थों के प्रति घृणा होवे तथा अपने दोषों का प्रचार करने या प्रगट करने की वृत्ति उत्पन्न हो उसे जुगुप्सा कहते हैं।

वेद—"वेद" का अर्थ है अनुभव या संवेदन करना तथा दूसरा अर्थ है लिंग या चिह्न। चिह्न लिंग दो प्रकार का है। भाव और द्रव्य। भाव वेद मोहनीय कर्म के उदय से होता है और द्रव्य वेद नाम कर्म के उदय से होता है अर्थात् वेद का बाह्य आकार बनता है नाम कर्म के उदय से। भाव स्त्रीवेद की उदीरणा से स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने और उसे राग भाव से अवलोकन, स्पर्श, संभाषण आदि करने की अभिलाषा होती है।

भाव पुरुष वेद की उदीरणा से स्त्री के साथ रमण करने की अभिलाषा होती है।

भाव नपुंसक वेद की उदीरणा से स्त्री-पुरुष दोनों के साथ रमण करने के भाव उत्पन्न होते हैं।

आयुकर्म—यह कर्म मनुष्यादि चारों गतियों को रोक करके रखता है। इसके चार भेद निम्न प्रकार हैं—

मनुष्यायु, तिर्यंचायु, नरकायु, देवायु। जिसके उदय से दुःख-सुख का मिश्र रूप से अनुभव करता है वह मनुष्यायु है।

जिसके उदय होने पर क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक आदि अनेक दुःखों के स्थानभूत तिर्यंच पर्याय को धारण करके जीवित रहता है उसे तिर्यंचायु जानना चाहिये।

नरकों में जिसके निमित्त से शीत, उष्ण, वेदना का दीर्घ काल तक अनुभव करता है वह नरकायु है।

शारीरिक, मानसिक, सुख स्वरूप होता है। देवांगना के वियोग से, महाविभूति देखने से, देव पर्याय की समाप्ति के सूचक माला मुरझाने से, शरीर की कान्ति की हीनता से जो मानसिक दुःख का अनुभव करता है, वह देवायु है।

जिस कर्म के उदय के कारण आत्मा भवान्तर (पर्यायान्तर) को ग्रहण करने के लिए गमन करता है उसे गति कहते हैं।

वह चार प्रकार की है—

नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति।

जिसके निमित्त से आत्मा के नरक भाव होते हैं, वह नरक गति है।

जिस कर्म के उदय से तिर्यंच आदि के भाव को आत्मा प्राप्त होता है वह तिर्यंच गति है।

जिस कर्म के उदय से आत्मा मनुष्य भाव को प्राप्त होता है वह मनुष्य गति है।

नरकादि गतियों में अव्यभिचारी (अविरोधी) सादृश्य से एकीकृत स्वरूप जो है वह जाति नाम है।

जाति नामकर्म पाँच प्रकार की है—एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म हैं।

एकेन्द्रिय नाम कर्म के उदय से एकेन्द्रिय जाति होती है। द्वीन्द्रिय नामकर्म के उदय से द्वीन्द्रिय जाति होती है। त्रीन्द्रिय नामकर्म के उदय से त्रीन्द्रिय जाति होती है। चतुरिन्द्रिय नामकर्म के उदय से चतुरिन्द्रिय जाति होती है। पंचेन्द्रिय नामकर्म के उदय से पंचेन्द्रिय जाति होती है।

जिस कर्म के उदय से आत्मा के शरीर की रचना होती है, वह शरीर नामकर्म है। वह पाँच प्रकार का है। औदारिक शरीर नामकर्म, वैक्रियिकशरीर नामकर्म, आहारकशरीर नामकर्म, तैजसशरीर नामकर्म और कार्माणशरीर नामकर्म।

स्थूल प्रयोजन वाला या स्थूल जो शरीर है वह औदारिक है।

अणिमा आदि आठ प्रकार के ऐश्वर्य के कारण अनेक प्रकार की छोटे-बड़े आकार रूप विक्रिया करना जिसका प्रयोजन है वैक्रियिक है।

सूक्ष्मत्व के निर्णय और असंयम को दूर करने की इच्छा से प्रमत्तसंयत मुनि के द्वारा रचा जाता है, वह आहारक कहा जाता है।

तेज निमित्त या तेज से होने वाला तैजस कहलाता है। ये दीप्ति का कारण है।

कर्मों के कारण या कर्मों के समूह कार्माणशरीर है।

जिस कर्म के निमित्त कारण से सिर, ओंठ, जाँघ, बाहु, उदर, हाथ और पैर तथा ललाट, नासिका, आँख, अँगुली आदि उपाङ्गों की रचना होती है, विवेक होता है उसे अङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं। वह अङ्गोपाङ्ग नामकर्म तीन प्रकार का है।

औदारिक शरीर में जिसके निमित्त से अङ्गोपाङ्ग की रचना होती है, वह औदारिक अङ्गोपाङ्ग है।

वैक्रियिक शरीर में जिसके निमित्त से अङ्गोपाङ्ग की रचना होती है, वह वैक्रियिक अङ्गोपाङ्ग है।

आहारक शरीर में जिसके निमित्त से अङ्गोपाङ्ग की रचना होती है, वह आहारक अङ्गोपाङ्ग है।

जिसके निमित्त से अङ्ग और उपाङ्ग की निष्पत्ति (यथास्थान और यथाप्रमाण रचना) होती है वह निर्माण नामकर्म है। वह निर्माण नाम कर्म दो प्रकार का है। स्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण।

जाति नामकर्म के उदय की अपेक्षा चक्षु आदि के स्थान की रचना करता है, यह पहला स्वस्थान निर्माण नामकर्म है।

जाति नामकर्म के उदय की अपेक्षा चक्षु आदि इन्द्रियों को प्रमाण से रचना करता है, वह दूसरा प्रमाण निर्माण नामकर्म है।

शरीर नामकर्म के उदय से ग्रहण किये गये पुद्गलों का परस्पर प्रदेश संश्लेष जिसके द्वारा होता है, वह बन्ध नामकर्म है। यही अस्थि आदि का परस्पर बन्धन करता है। इसके अभाव में शरीर प्रदेश लकड़ियों के ढेर के समान परस्पर पृथक्-पृथक् रहेंगे।

अविवर (निश्छिद्र) भाव से पुद्गलों का परस्पर एकत्व हो जाना, और जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के प्रदेशों का परस्पर निश्छिद्र रूप से संश्लिष्ट संगठन हो जाता है वह संघात नामकर्म है।

जिसके उदय से औदारिक आदि शरीर की आकृति (आकार) की निष्पत्ति होती है वह संस्थान नामकर्म है। वह संस्थान छह प्रकार का है।

ऊपर, नीचे और मध्य में कुशल शिल्पी के द्वारा रचित समचक्र की तरह समान रूप से शरीर के अवयवों का सन्निवेश (रचना) होना, आकार बनना, समचतुरस्र संस्थान है।

न्यग्रोध (बड़) वृक्ष के समान नाभि के ऊपर शरीर में स्थूलत्व और नीचे के भाग में लघु प्रदेशों की रचना होना न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है।

शरीर के ऊपर भाग लघु और नीचे भारी, सर्प की बाँबी के समान आकृति वाला स्वाति संस्थान है।

पीठ पर बहुत पुद्गल पिण्ड प्रचय विशेष लक्षण निर्बर्तक कुब्जक-संस्थान है।

सर्व अङ्ग और उपाङ्ग को छोटा बनाने में जो कारण होता है वह वामन संस्थान है।

सर्व अंगों और उपांगों को बेतरतीब हुण्ड की तरह रचना हुण्डक-संस्थान है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जिस कर्म के उदय से अस्थिजाल (हड्डियों के समूह) का बन्धन विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है। यह संहनन नाम छह प्रकार है।

दोनों हड्डियों की सन्धियाँ वज्राकार हों। प्रत्येक हड्डी में वलय बन्धन और नाराच हो, ऐसा सुसंहत बन्धन वज्रर्षभनाराच संहनन है।

सर्व रचना वज्रर्षभनाराच के समान है, परन्तु बन्धन वलय में रहित है, वह वज्रनाराच संहनन है।

जो शरीर वज्राकार बन्धन और वलय बन्धन के रहित तथा नाराच सहित है, वह नाराच संहनन है।

जो शरीर एक तरफ नाराचयुक्त तथा दूसरी ओर नाराच रहित अवस्था में है, वह अर्धनाराच संहनन वाला शरीर कहलाता है।

जिसके दोनों हड्डियों के छोरों में कील लगी है, वह कीलक संहनन है।

जिसमें भीतर हड्डियों का परस्पर बन्ध न हो, मात्र बाहर से वे सिरा, स्नायु, मांस आदि लपेट कर संघटित की गई हों, वह असंप्राप्तासृ-पाटिका संहनन है।

जिसके उदय से आठ स्पर्श, पाँच रस, दो गन्ध और पाँच वर्ण होते हैं, वह स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से कठोर-मृदु, हलका-भारी, स्निग्ध- रूक्ष, शीत और उष्ण इन आठ प्रकार के स्पर्शों का प्रादुर्भाव होता है वा जिसके कारण शरीर में कर्कश, मृदु, चिकनापन, रूक्षपना, शीत, उष्णत्व, गुरु लघुत्व आदि का प्रादुर्भाव होता है, वह स्पर्श नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से शरीर में तिक्त्व, कटुत्व, कषायत्व, अम्लत्व और मधुरत्व इन पाँच रसों का प्रादुर्भाव होता है वह रस नामकर्म है।

जिसके उदय से शरीर में गन्ध होती है वह गन्ध नामकर्म है। इसका सुगन्ध और दुर्गन्ध दो भेद हैं।

जिसके उदय से शरीर में वर्ण विशेष होता है वह वर्ण नामकर्म है। वह पाँच प्रकार का है। कृष्ण वर्ण, नील वर्ण, रक्त वर्ण, हरित वर्ण और शुक्ल वर्ण।

जिस नामकर्म के उदय से विग्रहगति में पूर्व शरीर का आकार बना रहता है, नष्ट नहीं होता है, वह आनुपूर्वी नामकर्म है। ये चार प्रकार हैं।

जिस समय अपनिगति की आयु को पूर्ण करके पूर्व शर र को छोड़कर नरकगति के अभिमुख होता है उस समय विग्रहगति में उदय तो नरकगत्यानुपूर्वी का होता है। परन्तु उस समय आत्मा का आकार पूर्व शरीर के अनुसार बना रहता है, वह नरकगत्यानुपूर्वी है।

मनुष्यगति में जाने वाले के विग्रहगति में पूर्व शरीर के अनुसार जो आकार बना रहता है, वह मनुष्यगत्यानुपूर्वी है।

तिर्यंचगति में जाने वाले के विग्रहगति में आत्मा का पूर्व शरीर के अनुसार जो आकार रहता है, वह तिर्यगत्यानुपूर्वी है।

देवगति में जाने वाले के विग्रहगति में आत्मा का पूर्व शरीर के अनुसार जो आकार रहता है, वह देवगत्यानुपूर्वी है।

जिसके उदय से लोहपिण्ड के समान गुरु होकर न तो पृथ्वी में नीचे ही गिरता है और न रुई की तरह लघु होकर ऊपर ही उड़ जाता है, वह अगुरुलघु नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से स्वयंकृत बन्धन पर्वत से गिरना, विष सेवन करना, अग्नि में जलना आदि के द्वारा मरण होता है तथा अवयव से अपना घात होता है, वह उपघात नामकर्म है।

जिसके निमित्त से परकृत शस्त्रादि के द्वारा घात होता है, मारण-तारण आदि होते हैं, वह परघात नामकर्म है।

जिसके उदय से आत्मा तपती है, जो सूर्य आदि में ताप का निर्वर्तक है। यह आतप नामकर्म उदय है। इसका उदय सूर्य के विमानस्थ जीव के ही होता है और वह पृथ्वीकायिक है।

जिस कर्म के उदय से उद्योत होता है, वह उद्योत नामकर्म है। इसका उदय चन्द्र के विमानस्थ पृथ्वीकाय, एकेन्द्रिय वा जुगनु आदि तिर्यंचों में होता है।

जो उच्छ्वास प्राणापान का कारण होता है, वा जिस कर्म के उदय से श्वासोच्छ्वास होता है, वह उच्छ्वास नामकर्म है।

आकाश में गमन का कारण विहायोगति नामकर्म है। इसके प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार हैं।

श्रेष्ठ बैल, हाथी आदि की प्रशस्त गति में जो कारण होता है, वह प्रशस्त विहायोगति है।

ऊँट, गधा आदि की अप्रशस्त गति में जो कर्म कारण होता है, वह अप्रशस्त विहायोगति है।

शरीरनामकर्म के उदय में रचित शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, वह प्रत्येक शरीर है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एक ही शरीर के बहुत से जीव स्वामी होते हैं, वह साधारण शरीर नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से जीव दो इन्द्रिय आदि जंगम (त्रस) जीवों में जन्म लेता है, वह त्रस नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से पाँच स्थावर में उत्पन्न होता है, वह स्थावर नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से अन्य प्राणी उससे प्रीति करते हैं, जो सबको प्यारा लगता है, वह सुभग नामकर्म है।

रूपवान, सौन्दर्यवान् होते हुए भी जिस कर्म के उदय से दूसरों को प्यारा न लगे, दूसरे उससे प्रीति न करें, वह दुर्भग नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से अन्य जनों के मन को मोहित करने वाले मनोज्ञ स्वर हों, जिसका स्वर सबको कर्णप्रिय लगे, वह सुस्वर नामकर्म है।

जिसके उदय से कर्कश, अमनोज्ञ, कर्णकटु स्वर की प्राप्ति हो, वह दुःस्वर नामकर्म है।

जिसके उदय से देखने या सुनने पर प्राणी रमणीय प्रतीत हो, वह शुभ नामकर्म है।

शुभ से विपरीत अशुभ है अर्थात् देखने व सुनने वाले को रमणीय प्रतीत नहीं होता है, वह अशुभ नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से अन्य जनों को बाधा नहीं देने वाला सूक्ष्म शरीर की रचना हो, वह सूक्ष्म शरीर नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों को बाधा कारक शरीर प्राप्त होता है, वह स्थूल नामकर्म है।

जिसके उदय से आत्मा अन्तर्मुहूर्त में आहारादि पर्याप्तियों को पूर्ण करने में समर्थ हो जाता है। पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं। आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति,

स्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति ये छह पर्याप्तियाँ हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव आहारादि छहों पर्याप्तियों में से किसी भी पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर सकता, पर्याप्तियों को पूर्ण करने में असमर्थ होता है, वह अपर्याप्ति नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से जीव दुष्कर उपवास आदि तप करने पर भी अंग-उपांग की स्थिरता रहती है, कृश नहीं होते हैं, वह स्थिर नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से एक आदि थोड़े से उपवास करने पर या साधारण शीत, उष्ण आदि से ही शरीर में अस्थिरता आ जाती है या शरीर के अंगोपांग कृश हो जाते हैं, वह अस्थिर नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से इष्ट और इष्ट प्रभा से युक्त शरीर की प्राप्ति होती है, वह आदेय नामकर्म है।

जिसके उदय से निष्प्रभ शरीर प्राप्त होता है, वह अनादेय नामकर्म है।

पुण्य गुणों का ख्यापन जिस कर्म के उदय से होता है, वह यशस्कीर्ति नामकर्म है।

यशस्कीर्ति से विपरीत पाप दोषों की ख्यापन करने वाली अर्थात् अपयश को विस्तरित करने वाली अपयशस्कीर्ति है।

आर्हन्त्यपद की कारणभूत तीर्थंकर कर्म प्रकृति है। जिसके उदय से अचिन्त्य विशेष विभूतियुक्त आर्हन्त्य पद प्राप्त होता है, उसको तीर्थंकर प्रकृति कहते हैं। इस प्रकार नाम कर्म की उत्तर प्रकृति हैं।

गोत्रकर्म—उच्चगोत्र कर्म, नीच-गोत्र कर्म के दो भेद हैं।

जिस कर्म के उदय से लोकपूजित कुल में जन्म होता है वह उच्चगोत्र है।

निन्दनीय कुल में जन्म होना नीचगोत्र है।

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यान्तिराय के भेद से अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का है।

जिसके उदय से देने की इच्छा होने पर भी दे नहीं सकता, वह दानान्तराय है।

लाभ की इच्छा होने पर भी लाभ नहीं हो पाता है, वह लाभान्तराय है।

जिसके उदय से भोगने की इच्छा होने पर भी भोग कर नहीं सकता, वह भोगान्तराय कर्म है।

उपभोग की इच्छा होने पर भी जिसके उदय से वस्तु का उपभोग कर नहीं सकता, वह उपभोगान्तराय है।

कार्य करने का उत्साह होते हुए भी जिसके उदय से निरुत्साहित हो जाता है, वह वीर्यान्तराय कर्म है।

इनका जैसा नाम है वैसा ही उनका स्वभाव है अतः इनको प्रकृति-बन्ध कहते हैं।

स्वभाव निर्माण के साथ ही उसके बद्ध रहने की काल अवधि भी निश्चित हो जाती है जिसे स्थितिबन्ध कहते हैं।

अर्थात् यथाकाल अनिजीर्ण अनेक भेद वाली इन प्रकृतियों का जितने काल तक आश्रय विनाश का अभाव होने से अवस्थान रहता है यानि जब तक ये कर्म प्रकृतियों का फल देकर नहीं झड़ती हैं, उनमें स्थितिबन्ध की विवक्षा है। अर्थात् तब तक के काल को स्थिति कहते हैं।

वह स्थिति बंध उत्कृष्ट और जघन्य के भेद से दो प्रकार का है।

आदि के तीन ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, तथा अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण है। नामगोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ा-कोड़ी सागर है। आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर प्रमाण है। वेदनीयकर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त की है। नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त प्रमाण है।

शेष बचे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय की जघन्य स्थिति बंध अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है।

आगे अनुभाग बंध का कथन करते हैं—

अणुभागो पयडीणं सुहासुहाणं च चउविहो होदि।
गुडखंडसक्करामिदसरिसो य रसो सुहाणं पि ॥९२॥

अनुभागः प्रकृतीनां शुभाशुभानां च चतुर्विधो भवति।
गुडखंडशर्करामृतसदृशश्च रसः शुभानामपि ॥

णिवकंजीरविसरहालाहलसरिसचउविहो णेयो।
अणुभायो असुहाणं पदेसंबधो वि बहुभेयो ॥९३॥

निंबकंजीरविषहालाहलसदृशश्चतुर्विधो ज्ञेयः ।
अनुभागोऽशुभानां प्रदेशबन्धोऽपि बहुभेदः ॥

शुभ और अशुभ के भेद से कर्म प्रकृति दो प्रकार की है।

उन कर्मों के फल दान शक्ति को अनुभाग कहते हैं अथवा ज्ञानावरणादि कर्मों का जो कषायादि परिणाम जनित शुभ और अशुभ रस है वह अनुभाग बन्ध है।

शुभ प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध गुड़-खांड, शर्करा और अमृत के भेद से चार प्रकार का है। और अशुभ कर्म प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध नीम्ब, कांजी, विष और हलाहल विष के समान है ॥ ९२-९३ ॥

विशेषार्थ

घातियाँ और अघातियाँ के भेद से कर्म दो प्रकार के हैं। जो जीव के ज्ञानादि अनुजीवी (अस्ति स्वरूप) गुणों का घात करते हैं वे घातिया कहलाते हैं। वे चार हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय।

जीव के अमूर्त्तत्व आदि प्रतिजोवी गुणों के घातक कर्म अघातिया कहलाते हैं। वे चार हैं—आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय।

घातियाँ कर्म के दो भेद हैं—सर्वघाति और देशघाति। मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ। अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ। केवलज्ञानावरणी, केवलदर्शनावरणी और पाँच निद्रा ये २१ सर्वघाति प्रकृतियाँ हैं। शेष २६ प्रकृतियाँ देशघाति हैं। घातियाँ कर्मों में फल देने की शक्ति चार प्रकार की है।

लयदारुट्ठिसिलासमभेया ते विल्लिदारणं तस्स।
इगिभागो बहुभागाट्ठिसिला देशघादिघादीणं ॥९४॥
लतादार्वस्थिशिलासमभेदास्ते वल्लीदार्वनन्तस्य।
एकभागो बहुभागा अस्थिशिला देशघातिघातिनां ॥

पयाणि–१८०००००।

इति कम्मपवादपुव्वं गदं—इति कर्मप्रवादपूर्वं गतं।

लता (बेल) काठ (लकड़ी) हड्डी और पत्थरों के समान लता आदि में जैसे क्रम से अधिक-अधिक कठोरपना है, उसी प्रकार कर्मों के

फलदान शक्ति में भी अधिक-अधिक कठोरपना है। इनमें दारू (लकड़ी) के अनन्तवें भाग तक शक्तिरूप स्पर्द्धक देशघाति हैं और दारू का शेष बहु भाग से लेकर शैल (पत्थर) भाग पर्यन्त स्पर्द्धक सर्वघाति हैं। इन सर्वघाति[1] अनुभाग के उदय में आत्मा के गुण प्रकट नहीं होते।

मिथ्यात्व प्रकृति लता भाग से दारू भाग के अनन्तवें भाग तक देश-घाति स्पर्द्धक सम्यक्त्व प्रकृति के हैं तथा दारू के अनन्त बहुभाग के अनन्तिम में भाग प्रमाण सर्वघातियां स्पर्द्धक सम्यक्त्व मिथ्यात्व (मिश्र) प्रकृति के हैं। और शेष दारू का अनन्त बहुभाग तथा अस्थि भाग, शैल भाग रूप स्पर्द्धक[2] मिथ्यात्व प्रकृति के हैं ॥ ९४ ॥

विशेषार्थ

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञाना-वरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, पाँच अन्त-राय, चार संज्वलन और पुरुष वेद ये १७ प्रकृतियां शैल आदिक चारों तरह के भाव रूप परिणमन करती हैं। और शेष सब प्रकृतियां के शैल आदि तीन प्रकार से परिणमन होते हैं केवल लतारूप परिणमन नहीं होता। घातिकर्म की सर्व प्रकृतियां अप्रशस्त होती हैं।

अघातिया कर्म की प्रकृतियां भी घातिया के समान अनुभाग सहित होती हैं।

प्रशस्त (पुण्य) और अप्रशस्त (पाप) के भेद से अघातिया कर्म प्रकृतियां दो प्रकार की हैं।

तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु, मनुष्यगति, देवगति, पाँच संधान, पंचे-न्द्रिय जाति, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण ये पाँच शरीर, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये तीन अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहनन, प्रशस्त पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप,

---

१. सर्व प्रकार से आत्मा के गुणों को आच्छादन करने वाली जो कर्मों की शक्तियां हैं उनको सर्वघाति स्पर्द्धक कहते हैं। और विवक्षित एक देश से आत्मगुणों को घात करने वाली शक्तियां हैं, वे देशघाति स्पर्द्धक कहलाते हैं।

२. एक समय में उदय में आने वाले कर्म पुंज हैं उसको स्पर्द्धक कहते हैं या कर्म वर्गणाओं का जो पिण्ड है उन्हें स्पर्द्धक कहते हैं।

उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर, उच्चगोत्र, सातावेदनीय ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

इनका अनुभाग रस, गुड़, खाण्ड, शर्करा और अमृत के समान है जैसे तिर्यंचायु से अधिक शुभ रस मनुष्यायु में है और उससे अधिक देवायु में है। शेष एक सौ पाप प्रकृतियाँ है उसमें घातिया कर्म का अनुभाग लता आदि रूप कहा है और अघातिया कर्म की नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्च गति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, समचतुरस्रसंस्थान को छोड़कर पाँच संस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहननको छोड़कर पाँच संहनन, अप्रशस्त, आठ स्पर्श, पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, नरकायु, असातावेदनीय और नीचगोत्र ये पाप प्रकृतियाँ हैं। इनका अनुभाग रस, नीम्ब, कांजीर, विष और हलाहल विष के समान चार प्रकार का है ऐसा जानना चाहिए।

अनुभाग बन्ध काल में जैसा बँधा है, एकान्ततः वैसा ही नहीं बना रहता है। अपने अवस्थान काल के भीतर वह बदल भी जाता है और नहीं भी बदलता है। बदलने से इसकी तीन अवस्थायें होती हैं—संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण। संक्रमण अवान्तर प्रकृतियों में होता है, मूल प्रकृतियों में नहीं होता। उसमें आयु कर्म की अवान्तर प्रकृतियों का संक्रमण नहीं होता और दर्शनमोहनीय का चारित्रमोहनीय रूप से तथा चारित्रमोहनीय का दर्शनमोहनीय रूप से संक्रमण नहीं होता।

संक्रमण के चार भेद हैं—प्रकृति संक्रमण, स्थिति संक्रमण, अनुभाग संक्रमण और प्रदेश संक्रमण। जहाँ प्रृति संक्रमण और प्रदेश संक्रमण की मुख्यता होती है वहाँ वह संक्रमण शब्द द्वारा संबोधित किया जाता है और जहाँ स्थिति संक्रमण तथा अनुभाग संक्रमण होता है वहाँ वह उत्कर्षण और अपकर्षण शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाता है। बन्ध काल में जो स्थिति और अनुभाग प्राप्त हुआ था, उसका घट जाना अपकर्षण है और स्थिति अनुभाग की वृद्धि होना उत्कर्षण है। इस प्रकार विविध अवस्था में गुजरते हुए उदय काल में जो अनुभाग रहता है उसका ही अनुभव फल प्राप्त होता है। अनुदय अवस्था को प्राप्त प्रकृतियों का परिपाक (अनुभाग) उदय अवस्था को प्राप्त सजातीय प्रकृति रूप से

होता है। इसके विषय में यह नियम है कि उदयावली प्रकृतियों का फल स्वमुख से मिलता है और अनुदयावली प्रकृतियों का फल पर मुख से मिलता है। जैसे—साताका उदय रहने पर उसका अनुभाग साता रूप ही मिलता है। किन्तु तब अनुदयावली में प्राप्त असाता स्तिम्बुक संक्रमण के द्वारा साता रूप से परिणमन करती जाती है इसलिए उसका उदय परमुख से होता है। इनका विशेष वर्णन गोम्मट्टसार आदि से जानना चाहिए।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रदेश बन्ध—कर्म प्रकृतियों के कारणभूत प्रति समय योग विशेष से सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही स्थित अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु आत्मप्रदेशों में सम्बन्ध होकर स्थित रहते हैं उसको प्रदेशबन्ध कहते हैं। अथवा योग के द्वारा जो पुद्गल वर्गणायें आई हैं उनका ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप विभाजित होकर आत्मप्रदेशों पर स्थित रहना प्रदेशबन्ध है। इस प्रकार आठ कर्मों का बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि का बीस वस्तुगत चार सौ प्राभृतों के एक करोड़ अस्सी लाख पदों के द्वारा वर्णन करता है, वह कर्मप्रवाद पूर्व है।

॥ इति कर्मप्रवाद पूर्व समाप्त ॥

प्रत्याख्यान पूर्व का कथन

पच्चक्खाणं णवमं चउसीदिलक्खपयप्पमाणं तु।
तत्थ वि पुरिसविसेसा परिमिदकालं च इदरं च ॥९५॥

प्रत्याख्यानं नवमं चतुरशीतिलक्षपदप्रमाणं तु।
तत्रापि पुरुषविशेषान् परिमितकालं च इतरच्च ॥

णाम ट्ठवणा दव्वं खेत्तं कालं पडुच्च भावं च।
पच्चक्खाणं किज्जइ सावज्जाणं च बहुलाणं ॥९६॥

नाम स्थापनां द्रव्यं क्षेत्रं कालं प्रतीत्य भावं च।
प्रत्याख्यानं क्रियते सावद्यानां च बहुलानां ॥

उववासविहिं तस्य वि भावणभेयं च पंचसमिदिं च।
गुत्तितियं तह वण्णदि उववासफलं विसुद्धस्स ॥९७॥

उपवासविधि तस्यापि भावनाभेदं च पंचसमितिं च।
गुप्तित्रयं तथा वर्णयति उपवासफलं विशुद्धस्य ॥

नवमा प्रत्याख्यान नामक पूर्व चौरासी लाख पद प्रमाण है। इसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर पुरुष के संहनन बल आदि के अनुसार परमितकाल और अपरमितकाल से बहुत से सावद्यों का प्रत्याख्यान किया जाता है। सावद्य वस्तु की निवृत्ति की जाती है। तथा उपवास की विधि, उपवास के भावना के भेद, पाँच समिति, तीन गुप्ति, विशुद्ध परिणामों के उपवास के फल का वर्णन होता है ॥ ९५-९६-९७ ॥

विशेषार्थ

प्रत्याख्यायक, प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यातव्य, यह तीन प्रकार का प्रत्याख्यान है।

गुरु के उपदेश से दोषों के स्वरूप को जानकर प्रत्याख्यान करने वाला प्रत्याख्यायक है।

सचित आदि वस्तु का त्याग करना प्रत्याख्यान है।

सचित्त आदि वस्तु तथा अयोग्य आहारादि त्याग करने योग्य वस्तु प्रत्यास्यातव्य है।

यह प्रत्याख्यान नामादिक के भेद से छह प्रकार का है।

पाप के कारण भूत अयोग्य वस्तु का नाम उच्चारण नहीं करना योग्य नाम का उच्चारण करना तथा 'प्रत्याख्यान' इस नाम मात्र को नाम प्रत्याख्यान है।

पाप बंध के कारण भूत तथा मिथ्यात्व आदि में प्रवृत्ति कराने वाली स्थापना को अयोग्य स्थापना कहते हैं। अयोग्य स्थापना का कृत, कारित, अदुमोदना से त्याग करना, स्थापना प्रत्याख्यान है।

सावद्य वा तप की सिद्धि के लिए निरवद्य वस्तु को मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना द्रव्य प्रत्याख्यान है। अथवा जो मनुष्य प्रत्याख्यान विषयक आगम का ज्ञाता है परन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है उसे आगम द्रव्य प्रत्याख्यान कहते हैं और जो भविष्य में प्रत्याख्यान विषयक शास्त्र का ज्ञाता होगा उसे नोआगमद्रव्य प्रत्याख्यान कहते हैं।

असंयम के कारणभूत क्षेत्र का मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना, अथवा जिस क्षेत्र पर प्रत्याख्यान किया है, वह क्षेत्र, क्षेत्र प्रत्याख्यान है।

असंयम के कारण भूत काल का मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना काल प्रत्याख्यान है। जैसे रात्रि में गमन आदि का त्याग करना।

संयम के विराधक मिथ्यात्व आदि भावों का मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान विषयक शास्त्र का ज्ञाता पुरुष उस शास्त्र में उपयुक्त है, उसके प्रत्याख्यान विषयक ज्ञान को और उसके आत्मप्रदेशों को भाव प्रत्याख्यान कहते हैं।

संयम की विराधना से उत्पन्न दोषों का निराकरण करने के लिए खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चार प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान (त्याग) करना उपवास है। प्रत्याख्यान का एक अंग उपवास है। अतः प्रत्याख्यान में उपवास की विधि और उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन किया है। तथा उस उपवास की भावना किस प्रकार होती है जिसका वर्णन सहेतुक आदि आगे किया जायेगा। अथवा उपवास शब्द उप और वास इन दो शब्दों के मेल से बना है, जिसका अर्थ है, उप आत्मा में वास (निवास) करना। इन्द्रियों के विषय से हटकर अपनी आत्मा में लीन होना। उपवास अद्धानशन और सर्वानशन के भेद से दो प्रकार का है। काल की मर्यादापूर्वक चार प्रकार के आहार का त्याग करना अद्धानशन है और मरणपर्यन्त आहार का त्याग करना सर्वानशन है। विहार करने वाले साधु के अद्धानशन होता है और समाधिमरण करने वाले का सर्वानशन होता है। इसके भक्त प्रत्याख्यान आदि अनेक भेद हैं।

प्रत्याख्यान करने वाले को गमनागमन, भाषण, आहार, पुस्तकादि को धरना, उठाना और मलमूत्र आदि क्रिया करने में सावधानी रखना समिति है। उसके ईर्या समिति, भाषा समिति, ऐषणासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति और व्युत्सर्गसमिति के भेद से पाँच भेद हैं जिनका वर्णन आचारांग में किया है।

सम्यक्प्रकार से मन-वचन-काय का निरोध करना गुप्ति है जिनका मन, वचन और काय वश में है वही प्रत्याख्यान कर सकता है अतः गुप्ति का पालन में भी प्रत्याख्यान है।

समिति और गुप्ति के पालन से जिसका मन विशुद्ध हुआ है उसको उपवास का फल असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती है।

धारणा और पारणा के दिन एकाशन करके उपवास करना उत्तम

है। धारणा और पारणा के दिन एकाशन करके उपवास के दिन जल लिया जाता है वा धारणा-पारणा के दिन एकाशन न करके उपवास किया जाता है वह मध्यम उपवास है। जिसमें धारणा पारणा के दिन एकाशन भी नहीं किया जाता है और उपवास के दिन जल ग्रहण कर लिया जाता है यह जघन्य उपवास है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जो मानव उत्तम, मध्यम और जघन्य इन तीनों उपवासों को शक्ति अनुसार शास्त्रोक्त विधि से करता है उसके शीघ्र ही कर्म बन्धन शिथिल हो जाते हैं, असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती है।

अथवा अर्हन्त देव की आज्ञा और गुरु के नियोग में दत्तचित होकर श्रद्धानपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय उसके मध्य में तथा प्रत्याख्यान की समाप्ति पर्यन्त सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार के सचेतन अचेतन और मिश्र (सचेतन अचेतन) परिग्रह का तथा चारों प्रकार के आहार का त्याग करना प्रत्याख्यान है अतः उपवास का ग्रहण उपवास विधि आदि भी प्रत्याख्यान है।

आगे उपवास वा प्रत्याख्यान के भेदों का कथन करते हैं—

अणागदमदिक्कंतं कोडिजुदमखंडिदं।
सायारं च णिरायारं परिमाणं तहेतरं ॥९८॥

अनागतमतिक्रान्तं कोटियुतमखंडितं।
साकारं च निराकारं परिमाणं तथेतरत् ॥

तहा च वत्तणीयातं सहेदुगमिदि ठिदं।
पच्चक्खाणं जिणेंदेहि दहभेयं पकित्तिवं ॥९९॥

तथा च वर्तनीयातं सहेतुकमिति स्थितं।
प्रत्याख्यानं जिनेन्द्रैः दशभेदं प्रकीर्तितं ॥

जिनेन्द्र भगवान् ने अनागत, अतिक्रान्त, कोटीयुत, अखण्डित, साकार, निराकार, परिमाण, अपरिमाण (अपरिशेष) अध्वगत, सहेतुक के भेद से दश प्रकार का प्रत्याख्यान कहा है ॥ ९८-९९ ॥

विशेषार्थ

जिससे शरीर, इन्द्रियाँ और अशुभकर्म कृश हो जाते हैं, नष्ट किये जाते हैं उसको उपवास आदि प्रत्याख्यान कहते हैं इसमें मुख्य उपवास विधि ही है उसके दश भेदों का स्वरूप इस प्रकार है—

अनागत प्रत्याख्यान—चतुर्दशी आदि के दिन कर्त्तव्य, (करने योग्य) उपवास आदि त्रयोदशी के दिन करना अनागत प्रत्याख्यान है।

चतुर्दशी आदि में कर्त्तव्य उपवास आदि को प्रतिपदा आदि में करना अतिक्रान्त प्रत्याख्यान है। आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कल स्वाध्याय का समय बीत जाने पर यदि शक्ति होगी तो उपवास आदि करूँगा, अन्यथा (शक्ति नहीं होगी तो) नहीं करूँगा, इस प्रकार संकल्पपूर्वक किया गया प्रत्याख्यान कोटियुक्त (कोटि सहित) प्रत्याख्यान है।

केशलोंच पाक्षिक आदि के समय अवश्य करने योग्य उपवास आदि अखण्डित प्रत्याख्यान है।

भेदपूर्वक कथित सर्वतोभद्र, कनकावली, मेरुपंक्ति आदि उपवास की विधि को करना साकार या सभेद प्रत्याख्यान है।

स्वेच्छा से कभी भी उपवास आदि करना, अनाकार या निराकार प्रत्याख्यान है।

षष्ट (वेला) अष्टम (तेला) दशम (चौला) द्वादशम, पक्ष, अर्धपक्ष, महिना आदि काल का परिमाण करके उपवास आदि करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है।

जीवन पर्यन्त चार प्रकार के आहार आदि का त्याग करना अपरिशेष या अपरिमाण प्रत्याख्यान है।

मार्ग में अटवी, नदी आदि को पार करने पर किया गया उपवास आदि अध्वगत प्रत्याख्यान है।

उपसर्ग आदि के आने पर किया गया उपवास सहेतुक प्रत्याख्यान है। ये दश प्रत्याख्यान के भेद हैं।

चउव्विहं तं हि विणयसुद्धं अणुवादसुद्धमिदि जाणे।
अणुपालणसुद्धं चिय भावविसुद्धं गहीदव्वं ॥१००॥

चतुर्विधं तद्धि विनयशुद्धं अनुवादशुद्धमिति जानीहि।
अनुपालनशुद्धं चैव भावविशुद्धं गृहीतव्यं॥

पयाणि–८४०००००।

इदि पच्चक्खाणपुव्वं गदं—इति प्रत्याख्यानपूर्वं गतं।

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कथित इन दश भेद युक्त प्रत्याख्यान को

विनय शुद्ध, अनुवादनशुद्ध, अनुपालन शुद्ध और भाव शुद्ध इन चार प्रकार की शुद्धिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए ॥ १०० ॥

विशेषार्थ

गुरु के समीप जाकर दोनों हस्तपुट संयुक्त करके मस्तक से लगाकर पिच्छिका से वक्षस्थल को भूषित कर, सिद्धभक्ति, योगभक्ति और गुरुभक्ति पढ़कर कायोत्सर्गपूर्वक कृतिकर्म करके उपवास ग्रहण करना विनय शुद्ध है।

गुरु ने प्रत्याख्यान के अक्षरों के अक्षरों का पाठ जैसा किया हो स्वर, व्यंजन आदि से वैसा ही शुद्ध उच्चारण करना अनुभाषणशुद्ध प्रत्याख्यान है।

अचानक किसी रोग का आक्रमण होने पर, उपसर्ग आने पर, अत्यन्त परिश्रम से थक जाने पर, दुर्भिक्ष आदि के होने पर, विकट वन आदि भयानक स्थान पर पहुँच जाने पर भी अपने स्वीकृत प्रत्याख्यान से च्युत नहीं होना, प्रत्याख्यान में त्रुटि नहीं होने देना, अनुपालनशुद्ध प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान को राग-द्वेष परिणामों से दूषित नहीं होने देना भावविशुद्ध प्रत्याख्यान है।

इस प्रकार प्रत्याख्यान के भेदों का चौरासी लाख पदों के द्वारा कथन करने वाला प्रत्याख्यान पूर्व है।

॥ इति प्रत्याख्यान पूर्व समाप्त ॥

विद्यानुवाद पूर्व का कथन

विज्जाणुवादपुव्वं पयाणि इगिकोडि होंति दसलक्खा ।
अंगुट्ठपसेणादी लहुविज्जा सत्तसयमेत्थ ॥१०१॥

विद्यानुवादपूर्वं पदानि एक कोटिः भवन्ति दशलक्षाणि ।
अंगुष्टप्रसेनादीः लघुविद्याः सप्तशतान्यत्र ॥

पंचसया महविज्जा रोहिणिपमुहा पकासये चावि ।
तेंसि सरूवसत्ति साहणपूयं च मंतादिं ॥१०२॥

पंचशतानि महाविद्या रोहिणीप्रमुखाः प्रकाशयति चापि ।
तासां स्वरूपशक्ति साधनपूजां च मंत्रादिकं ॥

सिद्धाणं फललाहे भोमंगयणंगसद्दछिण्णाणि ।
सुमिणंलक्खणविंजणअट्ठणिमित्ताणि जं कहइ ॥१०३॥

सिद्धानां फललाभान् भौमगगनाङ्गशब्दच्छिन्नानि ।
स्वप्नलक्षणव्यंजनानि अष्टौ निमित्तानि यत्कथयति ॥

पदाणि ११००००००।

इदि विज्जाणुवादपुव्वं—इति विद्यानुवादपूर्वं ।

विद्यानुवादपूर्व के इस विद्यानुवाद पूर्व में अंगुष्ठसेनादि सात सौ लघु विद्यारोहिणी आदि पांच सौ महाविद्या तथा इन विद्याओं का स्वरूप, इनकी शक्ति, इन विद्याओं के सिद्ध करने की पूजा मंत्र आदि का प्रकाशन है। तथा सिद्ध हुई विद्याओं का फल, लाभ का कथन भी यह पूर्व करता है और यह पूर्व भौम, अंतरिक्ष, अंग, शब्द, छिन्न, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन इन अष्टांग निमित्त का कथन करता है ॥१०१-१०२-१०३॥

विशेषार्थ

विद्यानुवाद पूर्व पन्द्रह वस्तुगत तीन सौ प्राभृतों के एक करोड़ दश लाख पदों के द्वारा अंगुष्ठसेनादि सात सौ अल्पविद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का और अन्तरिक्ष,[1] भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, चिह्न इन आठ महानिमित्तों का वर्णन करता है। अथवा विद्याओं का अनुवाद (अनुक्रम से वर्णन) जिस पूर्व में है वह दशवां विद्यानुवाद पूव है। इन विद्याओं की सिद्धि किस प्रकार की जाती है, इनका फल क्या है, इनके सिद्ध करने का मन्त्र कौनसा है। आदि का कथन इसी पूर्व में है।

जिस विद्या के द्वारा अंगूठे में देवताओं का अवतरण किया जाता है वह अंगुष्ठप्रसेता विद्या कहलाती है। अंगुष्ठसेना आदि सात सौ अल्प विद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का तथा अन्तरिक्ष, भौम, स्वर, अंग, व्यंजन, स्वप्न, लक्षण और छिन्न इन आठ महा-निमित्तों का जो प्ररूपण करता है, वह विद्यानुवाद पूर्व है।

अन्तरिक्ष (गगनतल) में स्थित नक्षत्रों के गमन, उदय, अस्त आदि के द्वारा जो शुभा-शुभ का कथन किया जाता है, वह अन्तरिक्ष निमित्त है।

भूमि को देखकर शुभा-शुभ कथन करना अर्थात् यह पृथ्वी शुभ है वह अशुभ है,""""यहाँ जल है,""""इसके नीचे रत्न-सोना आदि की खान है आदि करना भौम निमित्त है।

---

१. षटखण्डागम के सूत्र प्ररूपणा में पृ० १। अंतरीक्ष, भौम आदि अष्ट महा-निमित्तों का वर्णन विद्यानुवाद में लिखा है और हरिवंशपुराण सर्ग दश श्लोक ११७ में भौम आदि का वर्णन कल्याणप्रवाद में कहा है।

स्वर (श्वास) के आगमन एवं निर्गमन के द्वारा इष्टानिष्ट फल का प्रतिवाद करना वा शब्द का श्रवण कर फल का कथन करना स्वर (शब्द) निमित्त है।

मानव के अंग एवं उपांग को देखकर इष्टानिष्ट फल का कथन करना अंग निमित्त है।

शरीरस्थ तिल, मशा, शंख आदि व्यंजन कहलाते हैं। उनको देखकर जीवन में होने वाली घटनाओं का प्ररूपण करना व्यंजन निमित्त है।

स्वप्न के द्वारा भावी जीवन की उन्नति और अवनति का प्ररूपण करना स्वप्न निमित्त है। क्योंकि स्वप्न मानव को उसके भावी जीवन में घटने वाली घटनाओं की सूचना देते हैं। स्वप्न का अंतरंग कारण ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय का क्षयोपशम तथा मोहनीयकर्म का उदय है।

वस्त्रों के जल जाने, कट जाने आदि से शुभाशुभ का कथन करना छिन्न निमित्त है क्योंकि वस्त्रादि में मानव, देव और राक्षस का स्थान है। राक्षस के स्थान का कटना शुभ है, मनुष्य देव का अशभ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शरीरस्थ, श्री, वृक्ष, स्वस्तिक, कलश-झारी आदि को देखकर शुभाशुभ का कथन करना लक्षण निमित्त है।

इन बाह्य कारणों के द्वारा घटनेवाली घटनाओं का आभास होता है अतः इनको निमित्त कहते हैं।

॥ विद्यानुवाद पूर्व समाप्त ॥

कल्याणवाद पूर्व का कथन

कल्लाणवादपुव्वं छव्वीससुकोडिपयप्पमाणं तु।
तित्थहरचक्कवट्टीवलदेउसमद्धचक्कीणं ॥१०४॥

कल्याणवादपूर्वं षड्विंशतिसुकोटिपदप्रमाणं तु।
तीर्थङ्करचक्रवर्तिबलदेवसमर्द्धचक्रिणां ॥

गब्भावदरणउच्छव तित्थयरादीसु पुण्णहेदू च।
सोलहभावणकिरिया तवाणी वण्णेदि (स) विसेसं ॥१०५॥

गर्भावतरोत्सवानि तीर्थंकरादिषु पुण्यहेतूश्च।
षोडसभावनाक्रियाः तपांसि वर्णयति सविशेषं ॥

जो पूर्व छब्बीस करोड़ पद प्रमाण है तथा जो तीर्थङ्करों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, मोक्ष रूप पाँच कल्याणों का कल्याणों की कारणभूत

परम पूज्य युवामुनि
श्री सुविधिसागरजी महाराज

षोडषकारण भावना, तपो अनुष्ठान आदि का तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण आदि के पुण्य विशेष का तथा सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारागणों के चार क्षेत्र, उपपाद स्थान, गति, वक्रगति तथा उनके शुभाशुभ फलों का वा जिसमें यह कथन है, कथन करता है वह कल्याणवाद पूर्व है ॥ १०४-१०५ ॥

विशेषार्थ

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गर्भ कल्याण—तीन लोक के प्रभु मध्य लोक में जन्म लेने वाले हैं। यह जानकर इन्द्र आज्ञा देता है तुम उत्तम नगर की रचना करो और श्री ह्री आदि देवियों को कहता है तुम मध्यलोक में जाकर तीर्थंकर की जननी की सेवा करो। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर नव योजन चौड़ा और बारह योजन लम्बे नगर की रचना करता है तथा गर्भ में आने के षट माह पूर्व ही दिन में चौदह करोड़ रत्नों की वर्षा करना प्रारम्भ करता है।

श्री ह्री आदि आठ मुख्य देवियों के साथ छप्पन कुमारि देवियां माता की सेवा करती हैं। पिछली रात में माता १६ स्वप्न देखती हैं—गजराज, श्वेत वृषभ, सिंह, लक्ष्मी का कलशों के द्वारा अभिषेक, दो माला, रवि, शशि, दो मछली, कनकघट, कमलों से व्याप्त सरोवर, कल्लोल मालाओं से युक्त समुद्र, सिंहासन, रमणीक देव विमान, धरणेन्द्र का भवन, रुचिकर रत्नराशि, निधूं म अग्नि।

प्रातःकाल उठकर शौचादि क्रियाओं में निवृत्त होकर राजा के पास जाकर विनयपूर्वक नमस्कार करके स्वप्नों का फल पूछती है। राजा स्वप्नों का फल कहकर रानी को संतुष्ट करता है और कहता है तेरे तीन लोक का नाथ पुत्र उत्पन्न होगा।

इन्द्र भगवान् को गर्भ में आया जानकर मध्यलोक में आता है और नगर की तीन प्रदक्षिणा देकर माता-पिता को नमस्कार करके उनकी फल-फूलों से पूजा करता है तथा उसी समय साढ़े १२ करोड़ वादित्र बजने लगते हैं।

देवांगनाएँ माता से अनेक प्रकार के गूढ़ प्रश्न पूछती हैं तथा माता उत्तर देती हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार से देव-देवांगनाएँ गर्भोत्सव मनाती हैं, उसको गर्भ कल्याण कहते हैं।

जन्म कल्याण—जिस समय प्रभु का जन्म होता है उस समय के आनन्द और शान्ति का वर्णन कौन कर सकता है। तीन जगत् के गुरु के

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जन्म से तीन लोक में अनुपम आनन्द छा जाता है। देवियाँ माता की सेवा करने में तत्पर रहती हैं। पुत्र के जन्म से माता को थोड़ा-सा भी कष्ट नहीं होता। उस समय नभोमण्डल अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है, आकाश से कल्पवृक्ष के सुगन्धित पुष्पों की वर्षा होती है। देवों की दुन्दुभि बाजे बजते हैं। भूमि कम्पित होती है मानो हर्ष से नृत्य ही कर रही हो।

प्रभु के जन्म समय अकस्मात् भवनवासियों के भवन में शंख-ध्वनि, व्यन्तरों के यहाँ भेरीनाद, ज्योतिषियों के सिंहनाद तथा कल्पवासियों के घर घंटे बजने लगते हैं।

प्रभु के प्रताप से इन्द्र का आसन कम्पित होता है, जिससे इन्द्र भगवान् का जन्म हुआ ऐसा जानकर सिंहासन में उठकर 'जयतां जिनः' ऐसा कहकर सात पैड जा हाथ जोड़ भगवान् को परोक्ष रूप से नमस्कार करता है। इन्द्र की आज्ञा से चारों काय के देव सौधर्मइन्द्र की सभा में उपस्थित होते हैं। कुबेर सात प्रकार की सेना सहित अभियोग्य जाति के देव को ऐरावत हाथी बनने का आदेश देता है। विक्रियाशक्ति से सम्पन्न वाहन जाति का देव एक लाख योजन का गजाकार वैक्रियिक शरीर बनाता है। उस गजराज के बत्तीस मुख होते हैं, एक-एक मुख में आठ-आठ दाँत और प्रत्येक दाँत पर एक-एक सरोवर, प्रत्येक सरोवर में एक-एक कमलिनी, एक-एक कमलिनी सम्बन्धी बत्तीस-बत्तीस कमल। प्रत्येक कमल के बत्तीस-बत्तीस पत्र रहते हैं। प्रत्येक पत्र पर (कमल पर) देवांगनायें मनोहारी नृत्य करती हैं।

चतुर्निकाय के देवों का समूह अपने-अपने परिवार के साथ सौधर्म-इन्द्र की सभा में पहुँचते हैं। उन सब के साथ सौधर्मेन्द्र ऐरावत हाथी पर आरूढ़ होकर प्रभु के जन्म स्थान पर पहुँचते हैं और सर्व प्रथम इन्द्र नगर की तीन प्रदक्षिणा देकर राजांगण में प्रवेश कर इन्द्राणी को प्रसूति घर में जाकर प्रभु को लाने की आज्ञा देता है।

सुर राज की आज्ञा से इन्द्राणी प्रसूति घर में आकर प्रभु के दर्शन कर, प्रभु की तीन प्रदक्षिणा देकर, भक्तिपूर्वक नमस्कार करती है। प्रभु के दर्शन से इन्द्राणी के नयनचकोर पुलकित हो उठते हैं, शरीर रोमांचित हो जाता है तथा हृदय में कल्पनातीत आनन्द हिलोरें लेने लगता है।

माता की स्तुति कर प्रभु को गोदी में लेकर इन्द्राणी बाहर आती है और इन्द्र की गोद में प्रभु को अर्पण करती है। इन्द्र प्रभु को हजार नेत्र

कर प्रभु का रूप निरखता है तथा सुमेरु पर्वत पर प्रभु को ले जाकर एक हजार कलशों के द्वारा प्रभु का अभिषेक करता है। इन्द्राणी अभिषेक कर श्रृंगार कराती है तथा प्रभु को लाकर माता-पिता को सौंपकर इन्द्र ताण्डव नृत्य करता है और प्रभु की सेवा में देवों को नियुक्त कर स्वर्ग में चला जाता है, इस प्रकार की क्रिया का करना जन्म कल्याण महोत्सव है।

तपकल्याण—कुछ कारण पाकर जब प्रभु संसार से विरक्त होते हैं तब लौकान्तिक देव आकर प्रभु के वैराग्य की अनुमोदना करते हैं। प्रभु को नमस्कार कर स्वर्ग में चले जाते हैं। तब चारों काय के देवों के साथ इन्द्र आकर प्रभु का क्षीरसमुद्र के जल से दीक्षाभिषेक कर सुन्दर वस्त्राभरण से प्रभु को सुसज्जित कर तथा देवरचित पालकी पर बिठाकर वन में ले जाता है। पालकी से नीचे उतर कर सर्व परिग्रह का त्यागकर चन्द्रकान्तिमणि की शिला पर आरूढ़ होकर उपवास धारण कर "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" ऐसा उच्चारण कर प्रभु पंचम गति को प्राप्त करने के लिये तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पाँच परावर्तनों का मूल उच्छेद करने लिए पंचमुष्टि से मोहध्वजा रूप केशों को उखाड़कर फेंक देते हैं। प्रभु के मस्तक पर स्थित होने से पूज्य केशों को इन्द्र, रत्न पिटारे में रखकर भक्तिपूर्वक क्षीरसमुद्र में विसर्जन कर देता है। दो दिन, तीन वा चार आदि दिन बाद प्रभु पारणा के लिए आते हैं, राजा के घर आहार करते हैं, राजांगण में रत्नों की वर्षा, दुन्दुभि वादित्र का बजना, पुष्पवृष्टि होना, आदि पंचाश्चर्य होते हैं। इत्यादि रूप का कथन करना दीक्षा कल्याण महोत्सव क्रिया का कथन है।

केवलज्ञान कल्याण—जिनेश्वर घोर तपश्चरण के द्वारा घातियाँ कर्मों का विनाश कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। उस समय वे प्रभु भूतल से पाँच हजार धनुष ऊपर चले जाते हैं इसलिए प्रभु के समीप जाने के लिए इन्द्र की आज्ञा से कुबेर समवशरण की रचना करता है।

समवशरण में सर्व प्रथम रत्ननिर्मित परकोटा (धूलिसाल), तदनन्तर चार-चार सरोवर से घेरे हुए चार मानस्तम्भ, तदनन्तर खातिका, उसके बाद सुगन्धित पुष्पों से व्याप्त पुष्पवाटिका, तत्पश्चात् प्रथम कोट, फिर दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाएँ होती हैं उसके आगे अशोक वाटिका वन है। उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षों का वन है तत्पश्चात् जिन प्रतिमा तथा सिद्धों की प्रतिमाओं से व्याप्त नौ-नौ स्तूप हैं। एक-एक

स्तूप के बीच मकर के आकार के सौ सौ तोरण होते हैं। भव्य जीव इन स्तूपों का अभिषेक, पूजन, प्रदक्षिणा करते हैं। स्तूप के बाद महलों की पंक्तियाँ, उसके बाद तीसरा प्रकोट है। उसके भीतर मनुष्य, देव, तिर्यंच और मुनियों की बारह सभाएँ हैं जिसमें क्रम से प्रदक्षिणा रूप से भव्यजीव बैठते हैं। प्रथम कोठे में गणधर देवादि, दिगम्बर साधु, दूसरे में कल्पवासिनी देवियाँ, तीसरे में आर्यिकायें और मनुष्यणी, चौथे में ज्योतिषियों की देवांगना, पाँचवें में व्यन्तरनी देवियाँ, छट्ठे में भवनवासिनी देवियाँ, सातवें, आठवें, नवमें, दशवें में क्रमशः भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिषी देव, कल्पवासी देव, ग्यारहवें में मनुष्य और बारहवें में पशुगण बैठते हैं। तदनन्तर रत्नमय स्तंभों पर अवस्थित स्फटिक मणि का बना हुआ अनुपमशोभायुक्त श्रीमण्डप है। उस श्रीमण्डप की भूमि के मध्य वैडूर्यमणि निर्मित प्रथम पीठिका है। उस पीठिका पर अष्टमंगल द्रव्य और यक्षराज के मस्तक पर स्थित हजार आरों वाला धर्मचक्र है। प्रथम पीठिका के ऊपर स्वर्ण निर्मित दूसरी पीठिका है उसके ऊपर चक्र, गज, वृषभ, कमला, वस्त्र, सिंह गरुड़ और माला चिह्न से युक्त निर्मल ध्वजाएँ हैं।

तीसरी पीठिका पर तीन छत्र से शोभित, मणिमय वृक्ष के नीचे सिंहासन पर अन्तरिक्ष जिनेन्द्र भगवान् स्थित रहते हैं। इस समवशरण में बीस हजार सीढ़ियाँ रहती हैं। भगवान् के दोनों तरफ चौसठ चमर ढुलते हैं। भगवान् के पीठ पीछे रात-दिन के भेद को नष्ट करने वाला भामण्डल रहता है। अमृत के समुद्र सदृश निर्मल उस भामण्डल रूप दर्पण में सुर, असुर तथा मानव अपने सात-सात भव देखते हैं।

अनेक प्रकार की शोभा से युक्त इस समवशरण में स्थित प्रभु के केवलज्ञान की पूजा करके केवलज्ञानोत्सव मनाने के लिये अभियोग्य जाति के देव विक्रिया से निर्मित ऐरावत हाथी पर आरूढ़ हो इन्द्र-इन्द्राणी प्रभु के दर्शन करने आते हैं।

चारों निकाय के देवों के साथ भगवान् की दिव्य वस्तुओं से पूजन स्तवन करते हैं।

समवशरण में स्थित प्रभु की प्रभात काल, मध्याह्नकाल, सायंकाल तथा मध्यरात्रि में छह-छह घड़ी वाणी खिरती है। जिसमें सात तत्त्वों का कथन होता है जिसको सुनकर भव्यजीव सन्तुष्ट होते हैं तथा अनेक प्रकार के व्रत, नियम, संयम धारण कर आत्मकल्याण करते हैं।

प्रभु अनेक देशों में विहार करते हैं, उस समय चरण कमल के नीचे देव कमलों की रचना करते हैं। अर्थात् जहाँ प्रभु चरण धरते हैं वहाँ इन्द्र सप्त परमस्थान के प्रतीक सात-सात कमलों की पंक्तियाँ (दो सौ पच्चीस कमलों की) रचना करते हैं। इस प्रकार केवलज्ञानोत्पत्ति के समय इन्द्र समवशरण की रचना करता है। अनेक प्रकार की दिव्य रचनाओं के द्वारा केवलज्ञान को पूजा करते हैं वह केवलज्ञान कल्याण महोत्सव है।

मोक्ष कल्याण—अनेक प्रकार के देशों में विहार कर धर्मोपदेश की वर्षा करके अन्त में चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त कर अघातियाँ कर्मों का नाश कर मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं उस समय प्रभु के निर्वाण कल्याण की पूजा की इच्छा से चतुर्निकाय देव आकर सर्व प्रथम आनन्द नामक नाटक करते हैं। तदनन्तर प्रभु के शरीर को रत्नजड़ित पालकी पर विराजमान कर पूजा करते हैं और पंचकल्याण से पवित्र जिनेन्द्र के शरीर का अग्निकुमार देव के मुकुट से उत्पन्न अग्नि, चन्दन, अगर, कपूर, केशर आदि सुगन्धित द्रव्य, क्षीर, (दूध) घृत आदि से दाह संस्कार करते हैं। तदनन्तर प्रभु को पूजा, भक्ति, स्तुति, नमस्कार करके देव अपने-अपने स्थान चले जाते हैं।

इस प्रकार इन्द्र प्रभु के पंच कल्याणों का उत्सव मनाते हैं उनका विस्तार पूर्वक कथन कल्याणवाद पूर्व में किया जाता है।

तीर्थंकर पद की कारणभूत षोडशकारण भावनाओं का कथन भी कल्याणवाद पूर्व में रहता है वे षोडशकारण भावनाएँ निम्नलिखित हैं—

भगवान् अरिहंत परमेष्ठी द्वारा कहे हुए निर्ग्रन्थ स्वरूप मोक्षमार्ग पर रुचि रखना दर्शनविशुद्धि है।

सम्यग्ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उनके साधन गुरु आदि के प्रति अपने योग्य आचरण द्वारा आदर सत्कार करना विनय है, और इससे युक्त होना विनयसम्पन्नता है।

अहिंसादिक व्रत पालन करने के लिए क्रोधादिक का त्याग करना और व्रत पालने में निर्दोष प्रवृत्ति करना शीलव्रतेष्वनतिचार है।

जीवादि पदार्थरूप स्वतत्त्व विषयक सम्यग्ज्ञान में निरन्तर लगे रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है।

संसार के दुःखों से निरन्तर डरते रहना संवेग है।

आहारदान, अभयदान, औषधदान और ज्ञानदान को शक्ति के अनुसार विधिपूर्वक देना यथाशक्ति त्याग है।

शक्ति को न छिपाकर मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर को क्लेश देना यथाशक्ति तप है।

व्रत और शीलों से समृद्ध मुनि के तप करते हुए किसी कारण से विघ्न के उत्पन्न होने पर उसका संधारण करना साधुसमाधि है।

गुणी पुरुष के दुःख में आ पड़ने पर निर्दोष विधि से उसका दुःख दूर करना वैयावृत्य है।

अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन में भावशुद्धियुक्त जो अनुराग करना भक्ति है।

अर्हन्त (केवलज्ञान रूपी दिव्यनेत्र के धारी) में भक्ति करना अर्हन्त-भक्ति है।

परहित प्रवण और स्वसमय एवं पर समय के विस्तार के निश्चय करने वाले आचार्य में भक्ति करना आचार्यभक्ति है।

श्रुत देवता के प्रसाद से प्राप्त होने वाले मोक्ष महल में आरूढ़ होने के लिए सोपान रूप बहुश्रुत में भक्ति करना बहुश्रुतभक्ति है।

प्रवचन में भावशुद्धिपूर्वक अनुराग करना प्रवचनभक्ति है।

सर्व सावद्य भोगों का त्याग करना तथा चित्त को एकाग्र रूप से ज्ञान में लगाना सामायिक है। चतुर्विंशति तीर्थंकरों का कीर्तन करना चतुर्विंशति स्तव है। मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक खड्गासन या पद्मासन से चार बार शिरोनति और बारह आवर्तपूर्वक करना वंदना है। कृत दोषों की निवृत्ति प्रतिक्रमण है। भविष्य में दोष न होने देने के लिए सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान है। परमित काल तक शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

इन षडावश्यक क्रियाओं को यथाकाल बिना नागा किये अर्थात् (अव्यवधान) स्वाभाविक क्रम से उत्सुकतापूर्वक करना आवश्यक-अपरिहाणि भावना कहलाती है।

ज्ञान, तप, जिनपूजा विधि आदि के द्वारा धर्म का प्रकाशन करना मार्ग प्रभावना है।

बछड़े में गाय के समान धार्मिक जनों में स्नेह प्रवचन वत्सलत्व है।

इन षोडशकारण भावनाओं के चिंतन से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है।

अनशन (उपवास करना), अवमौदर्य (भूख से कम खाना), रस-परित्याग (छहों रसों का या एक-दो रस का त्याग करना), वृत्तिपरि-

संख्यान–आहार करने जाते समय अनेक प्रकार के नियम लेना) विवक्त-शयनासन (ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिए तथा स्वाध्याय की वृद्धि के लिए एकान्त में शयनासन करना) और कायक्लेश (उपवास आदि के द्वारा शारीरिक कष्ट सहन करना) ये छह बहिरंग तप हैं।

प्रायश्चित्त—दोषों का निराकरण करने के लिए दण्ड लेना।

विनय—गुणीजन, सम्यग्दर्शन आदि गुणों का तथा सम्यग्दर्शन आदि गुणों के धारियों का आदर-सत्कार करना।

वैयावृत्य—गुरुजनों की आपत्ति आदि को दूर करना।

स्वाध्याय—जिनप्रणीत शास्त्रों का पठन-पाठन करना।

व्युत्सर्ग—बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर आत्मा में लीन होना।

ध्यान—एकाग्रचित होकर तत्त्वों का चिंतन-मनन करना।

ये छह अन्तरंग तप हैं। इन बाह्य प्रकार के तपोऽनुष्ठान, उनके फल आदि का कथन भी कल्याणवाद पूर्व में है।

पंच कल्याणों से पूजित तथा धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर कहलाते हैं, जिनकी बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा सेवा करते हैं। जो नवनिधि, चौदह रत्न तथा षट् खण्ड के अधिपति होते हैं। जिनके एक-एक निधि और रत्न की हजार-हजार देव सेवा करते हैं। छ्यानवे हजार रानियाँ होती हैं आदि अनेक विभूतियों के स्वामी चक्रवर्ती के वैभव, गति, मोक्ष, नरक वा स्वर्ग में गमन आदि का कथन भी कल्याणवाद पूर्व में है।

जिनकी १६ हजार मुकुटबद्ध राजा सेवा करते हैं। जो तीन खण्ड और सात रत्न का अधिपति है। १६ हजार रानियों का स्वामी होता है। वह अर्द्धचक्री (नारायण-प्रतिनारायण) नारायण के भ्राता बलभद्र जिनके आठ हजार रानियाँ होती हैं। नारायण, प्रतिनारायण मर कर नरक में ही जाते हैं। चक्रवर्ती नरक में, स्वर्ग में और मोक्ष में जाते हैं। बलभद्र स्वर्ग और मोक्ष में जाते हैं इत्यादि कथन कल्याणवाद पूर्व में है।

वरचन्दसूरगहणगहणक्खत्तादिचारसउणाइं ।
***तेसिं च फलाइं पुणो* वण्णेदि सुहासुहं जत्थ ॥१०६॥**

वरचन्द्रसूर्यग्रहणग्रहनक्षत्रादिचारशकुनादि ।
तेषां च फलादि पुनः वर्णयति शुभाशुभं यत्र ॥

पयाइं—२६००००००० ।

इदि कल्लाणवादपुव्वं—इति कल्याणवादपूर्वं ।

जिसमें श्रेष्ठ चन्द्र, सूर्य, उनका ग्रहण, ग्रह, नक्षत्र उनका चार क्षेत्र, शकुन उनका शुभाशुभ फल आदिक कथन है या इन सबका जो वर्णन करता है वह कल्याणवाद पूर्व है। अर्थात् कल्याणवाद पूर्व में सूर्यादि नक्षत्रों के गमनागमन का वर्णन भी रहता है ॥ १०६ ॥

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेषार्थ

सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह और तारे (प्रकीर्णक) ये पाँच प्रकार के ज्योतिषीदेव हैं। ज्योति स्वभाव होने से इनको ज्योतिषी देव कहते हैं।

इनमें चन्द्र इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र। एक इन्द्र सम्बन्धी एक-एक प्रतीन्द्र है। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृग, शीर्षा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्ता, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, अभिजित, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती ये अट्ठाईस नक्षत्र। रवि, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, काल, लोहित, कनक, नील, विकाल, केश, कवयव, कनक संस्थान, दुंदुभक, रक्तनिभ, निलाभास, अशोक संस्थान, कंस, रूपनिभ, कंसक वर्ण, शंख परिणाम, तिल पुच्छ, शंखवर्ण, उदकवर्ण, पंचवर्ण, उत्पात, धूमकेतु, तिल, नभ, क्षार राशि, विजिष्णु सदृश, सेधि, कलेवर, अभिन्न ग्रन्थि, मानवक कालक, कालकेतु, निलय, अनय, विद्युज्जिह्व, सिंह, अलक, निर्दुःख, काल, महाकाल, रुद्र, महारुद्र, संतान, विपुल, संभव, सर्वार्थी, क्षेम, चन्द्र, निर्मन्त्र, ज्योतिषमान, दिशसंस्थित, विरत, वीतशोक, निश्चल, प्रलम्ब, भासुर, स्वयंप्रभ, विजय, वैजयन्त, सीमंकर, अपराजित, जयन्त, विमल, अभयंकर, विकस, काष्ठी विकट, कज्जली, अग्निज्वाला, अशोक, केतु, क्षीरस, अघश्रवण, जलकेतु, केतु, अन्तरद, एक संस्थान, अश्व, भावग्रह और महाग्रह ये अठासी ग्रह और छ्यासठ हजार नो सौ पचहत्तर कोड़ा-कोडी तारे होते हैं। इस प्रकार परिवार से युक्त असंख्यात सूर्य और चन्द्रमा हैं।

एक राजू लम्बे चौड़े सम्पूर्ण मध्यलोक की चित्रा पृथ्वी से सात सौ नब्बे योजन ऊपर जाकर ज्योतिष लोक प्रारम्भ होता है, जो उससे ऊपर एक सौ दश योजन तक आकाश में स्थित है। इस प्रकार चित्रा पृथ्वी से सात सौ नब्बे योजन ऊपर एक राजू लम्बा चौड़ा, एक सौ दश योजन मोटा आकाश क्षेत्र ज्योतिषी देवों के रहने वा संचार करने का स्थान है। इसके ऊपर और नीचे नहीं। इसमें भी मध्य में मेरु के चारों तरफ

१३०३२९२५०१५ योजन अगम्य क्षेत्र है क्योंकि मेरु से ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर रहकर ही ज्योतिष देव संचार करते हैं।

सर्व प्रथम भूमिभाग से सात सौ नव्वे योजन ऊपर जाकर तारकाएँ विचरण करती हैं। इससे दश योजन ऊपर सूर्य, सूर्य से अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा, इससे चार योजन ऊपर नक्षत्र, इससे चार योजन ऊपर बुध, इससे तीन योजन ऊपर शुक्र, शुक्र से तीन योजन ऊपर जाकर बृहस्पति, बृहस्पति से तीन योजन ऊपर मंगल और मंगल से तीन योजन ऊपर शनिचर भ्रमण करता है। सूर्य से चार अंगुल नीचे केतु के विमान का ध्वज दण्ड है और चन्द्रमा के चार अंगुल नीचे चन्द्र का विमान है।

जम्बूद्वीप से लेकर मानुषोत्तर पर्वत तक के मनुष्य लोक में पाँचों प्रकार के ज्योतिषीदेव निरन्तर गमन करते हुए मेरु की प्रदक्षिणा देते हैं और मनुष्य लोक से बाहर स्थित ज्योतिष देव स्थिर रहते हैं।

जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधिसमुद्र, अर्द्धपुष्करद्वीप इन ढाईद्वीप और दो समुद्र में स्थित ज्योतिषी देवों के संचार का क्षेत्र है।

इन ज्योतिषी देव के गमन करने के मार्ग को चार क्षेत्र कहते हैं।

सूर्य और चन्द्रमा का चार क्षेत्र सर्वत्र ५१०४८ योजन चौड़े तथा उस उस द्वीपसागर की परिधि प्रमाण है। दो-दो चन्द्र वा सूर्य का एक ही चार क्षेत्र है। प्रत्येक चन्द्रमा के चार क्षेत्र में पन्द्रह और सूर्य के प्रत्येक चार क्षेत्र में एक सौ चौरासी गलियाँ है। चन्द्रमा की गलियों का अन्तराल सर्वत्र ही ३५ $\frac{२१४}{४२७}$ योजन तथा सूर्य की गलियों का अन्तराल दो योजन है। क्योंकि चार क्षेत्र समान होते हुए भी, गलियों की हीनाधिकता होने से गलियों के हीनाधिकता के कारण गलियों के अन्तराल अन्तर पड़ता है। अर्थात् चन्द्रमा की गलियाँ कम हैं अतः उनका अन्तराल अधिक है और सूर्य की गलियाँ अधिक होने से अन्तराल कम है। प्रत्येक गली का विस्तार अपने-अपने बिम्ब के विस्तार के समान है। अर्थात् चन्द्रमा के पथ का विस्तार चन्द्र बिम्ब के बराबर $\frac{५६}{६१} \times \frac{२८}{६१}$ योजन तथा सूर्य पथ का विस्तार $\frac{४८}{६१} + \frac{२८}{६१}$ योजन चौड़ा ऊँचा है।

चन्द्र और सूर्य प्रतिदिन आधी-आधी गली का अतिक्रमण करते हुए अगली-अगली गली को प्राप्त होते हैं—शेष आधी गली में वे नहीं जाते,

क्योंकि उस दिन वह गली द्वितीय चन्द्र और सूर्य से भ्रमित होती है। पन्द्रहवें दिन चन्द्रमा और एक सौ चौरासी वें दिन सूर्य अपनी-अपनी अन्तिम गली में पहुँच जाते हैं। वहाँ से पुनः भीतर की गली में लौटते हैं और क्रम से एक-एक दिन में एक-एक गली का अतिक्रमण करते हुए एक महीने में चन्द्रमा और एक वर्ष में सूर्य पुनः प्रथम गली में प्रवेश करता है।

जम्बूद्वीप सम्बन्धी सूर्य और चन्द्रमा एक सौ अस्सी योजन तो जम्बूद्वीप में रहते हैं और ३३०$\frac{४८}{६१}$ योजन लवणसमुद्र में संचार करते हैं।

अठासी ग्रहों का एक ही चार क्षेत्र है, अर्थात् प्रत्येक चन्द्र सम्बन्धी अठासी ग्रहों का पूर्वोक्त ही चार क्षेत्र है चन्द्रमावाली वीथियों के बीच में ही यथायोग्य ग्रहों की वीथियाँ हैं वे ग्रह इन परिधियों में संचार करते हैं।

चन्द्रमा की पन्द्रह गलियों के मध्य में अट्ठाईस नक्षत्रों की आठ गलियाँ होती हैं। अभिजित, श्रवण, घनिष्ठा, शतभिषार पूर्वभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, भरणी, स्वाति, पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी ये बारह नक्षत्र चन्द्र के प्रथम मार्ग में संचार करते हैं। चन्द्र के तृतीय पथ में पुनर्वसु और मघा, सातवीं वीथी में रोहिणी और चित्रा, छट्ठी गली में कृतिका, आठवें पथ में विशाखा, दशवें में अनुराधा, ग्यारहवें में ज्येष्ठा, पन्द्रहवें मार्ग में हस्त, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, मृगशिरा, आर्द्रा, पुष्य और आश्लेषा ये आठ नक्षत्र संचार करते हैं। शेष द्वितीय, चतुर्थ, पंचम, नवम, द्वादश, त्रयोदश और चतुर्दश इन सात चन्द्र वीथियों में कोई भी नक्षत्र संचार नहीं करते हैं। ये नक्षत्र मन्दर पर्वत की प्रदक्षिणा क्रम से अपने-अपने मार्गों में ही नित्य संचार करते हैं अर्थात् नक्षत्र और तारे एक ही मार्ग से संचार करते हैं, मार्गान्तर नहीं होते। चन्द्र से सूर्य, सूर्य से ग्रह, ग्रहों से नक्षत्र और नक्षत्रों से भी तारा शीघ्रगमन करने वाले होते हैं। जम्बूद्वीप में सूर्य के संचार करने के मार्ग एक सौ चौरासी हैं, लवण समुद्र में तीन सौ अड़सठ, धातकी खण्ड में ग्यारह सौ चार, कालोदधि में तीन हजार आठ सौ चौसठ और पुष्करार्द्ध द्वीप में छः हजार छह सौ चौबीस हैं। जम्बूद्वीप में दो सूर्य हैं, लवण समुद्र में चार, धातकीखण्ड में बारह, कालोदधि से ब्यालीस और पुष्पकरार्द्ध में बहत्तर हैं। इतने ही चन्द्रमा पूर्वोक्त नक्षत्र, ग्रह और तारों से युक्त है, इन सब में जिन मन्दिर हैं।

चन्द्रनगर के नगरतल में चार प्रमाणांगुल नीचे जाकर राहु विमान

के ध्वज दण्ड होते हैं। दिन और वर्ष के भेद से राहु का गमन दो प्रकार का है। इनमें से दिन राहु की गति चन्द्र सदृश होती है। एक वीथी को लाँघकर दिन राहु और चन्द्र बिम्ब जम्बूद्वीप की आग्नेय और वायव्य दिशा से तदनन्तर वीथी में आते हैं। राहु प्रतिदिन एक-एक पथ में चन्द्र-मण्डल के सोलह भागों में एक-एक कला को आच्छादित करता हुआ क्रम से पन्द्रह कला पर्यन्त आच्छादित करता है। इस प्रकार अन्त में जिस मार्ग में चन्द्र की केवल एक कला दिखाई देती है वह अमावस्या दिवस होता है। प्रतिपदा के दिन वह राहु एक-एक बीथी में गमन विशेष से चन्द्रमा की एक-एक कला छोड़ता है अतः जब चन्द्रमा मनुष्य लोक में परिपूर्ण दीखता है वह पूर्णिमा नाम का दिवस होता है।

पर्व राहु नियम से गति विशेषों के कारण छह मास में पूर्णिमा के अन्त में पृथक्-पृथक् चन्द्र बिम्बों को आच्छादित करते हैं इससे चन्द्र ग्रहण होता है।

केतु अमावस्या के दिन सूर्य बिम्ब को आच्छादित करता है उसको सूर्य ग्रहण कहते हैं।

सूर्य के गमन से ही दिन-रात की हानि-वृद्धि होती है। सूर्य चन्द्रमा संचार से ही अयन ऋतु आदि होते हैं इससे तिथि वृद्धि हानि महीने की वृद्धि होती है। चन्द्र की उत्कृष्ट आयु एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य प्रमाण है, सूर्य की एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य, शुक्र की सौ वर्ष अधिक एक पल्य, बृहस्पति के पूर्ण पल्य और शेष ग्रहों की उत्कृष्ट आयु आधा पल्य है तथा जघन्य आयु पल्य का आठवाँ भाग प्रमाण है। ज्योतिष देवों की शरीर की ऊँचाई सात धनुष प्रमाण है। आहार-उच्छ्वास अवधिज्ञान का विषय शक्ति एक समय में जीवों की उत्पत्ति मरण आयु के बंध के भाव सम्यग्दर्शन करने को विविध कारण आदि का विशेष वर्णन त्रिलोकसार और तिलोयपण्णत्ति में देखना चाहिये।

जब नक्षत्र की वक्रगति होती है तब उनका फल अशुभ मिलता है। इत्यादि ज्योतिषी देवों के नाम गमन संचार-चार क्षेत्र ग्रहण, उपपाद क्षेत्र, वक्रगति उसका शुभाशुभ फल का कथन कल्याणवादपूर्व में है।

इस प्रकार चतुर्विंशति, तीर्थंकरों के पंच कल्याणकों का कथन तीर्थं-कर प्रकृति के बंध में कारणभूत षोडश भावनाओं का स्वरूप, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र आदि का कथन उनके पुण्य विशेष का कथन करने वाला तथा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र आदि के संसार क्षेत्र का,

उनके उत्पाद स्थान तथा उनकी वक्रता आदि से शुभाशुभ का कथन करने वाला कल्याणवादपूर्व है।

कल्याणवाद पूर्व में दश वस्तुगत दो सौ प्राभृत और छब्बीस करोड़ पद हैं।

॥ कल्याणवाद पूर्व समाप्त ॥

प्राणावाद पूर्व का कथन

पाणावायं पुव्वं तेरहकोडिपयं णमंसामि।
जत्थ वि कायचिकिच्छापमुहट्ठंगायुवेयं च ॥१०७॥

प्राणावायं पूर्वं त्रयोदशकोडिपदं नमामि।
यत्रापि कायचिकित्साप्रमुखाष्टाङ्गं अयुर्वेदं च॥

भूदीकम्मंजंगुलिपक्कमाणासाहया परे भेया।
ईडापिंगलादिपाणा पुढवीआउग्गिवायूणं ॥१०८॥

भूतिकर्मजांगुलिप्रकमसाधका परे भेदाः।
इडापिंगलादिप्राणाः पृथिव्यप्अग्निवायूनां ? ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तच्चाणं बहुभेयं दहपाणपरूवणं च दव्वाणि।
उवयारयावयारयरूवाणि य तेसिमेवं खु ॥१०९॥

तत्त्वानां बहुभेदं दशप्राणप्ररूपणं च द्रव्याणि।
उपकारापकाररूपाणि च तेषामेवं खलु॥

वण्णिज्जइ गइभेया जिणवरदेवेहि सव्वभासाहि।

वर्ण्यंते गतिभेदैः जिनवरदेवैः सर्वभाषाभिः।

पयाणि १३००००००

पाणावायं गदं—प्राणावादं गतं।

जिस ग्रन्थ में जिनेन्द्र भगवान् ने सर्व भाषाओं के द्वारा चिकित्सा प्रमुख भूति कर्म, जांगुलि प्रक्रम के साधक अनेक भेद युक्त अष्टांग आयुर्वेद, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु रूप तत्त्वों के अनेक भेद ईंगला, पिंगला आदि प्राण, दश प्राणों के स्वरूप का प्ररूपण, प्राणों के उपकारक एवं अपकारक द्रव्य का गति आदि के अनुसार तेरह करोड़ पदों के द्वारा वर्णन किया गया है वह प्राणावाय नामक पूर्व है। उसको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १०७-१०८-१०९ ॥

विशेषार्थ

प्राणों का आवाद-प्ररूपण जिस पूर्व में है उसको प्राणावाद या प्राणावाय पूर्व कहते हैं। इसमें प्राणों के रक्षा के कारणभूत आठ प्रकार की चिकित्सा का वर्णन है। वह आठ प्रकार की चिकित्सा निम्न प्रकार है—

कौमार चिकित्सा—बालकों की चिकित्सा अर्थात् अबोध बालक के रोग को जानकर उसके रोग को दूर करने का प्रयत्न करना।

शरीर चिकित्सा—शरीरस्थ ज्वरादिक को दूर करने के उपाय आदि को शरीर चिकित्सा कहते हैं।

जिससे उम्र बढ़ती है, शरीर की झूरियाँ आदि दूर होती हैं उसको रसायन चिकित्सा कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जिसके द्वारा सर्प आदि का विष उतारा जाता है उसको विष चिकित्सा कहते हैं इसका दूसरा नाम जांगुली प्रकम भी है जिसमें विषनाशक विद्या का प्रयोग किया जाता है।

भूत उतारने का प्रयोग करना अथवा शरीर रक्षा के लिए किये गए भस्म लेपन, सूत्र बंधन, यंत्र, मंत्र, तंत्र आदि का प्रयोग करना भूत चिकित्सा या भूति कर्म कहलाता है।

शरीरस्थ व्रण (घाव) आदि को भरने के लिये या उनको स्वच्छ करने के लिए औषधि का प्रयोग किया जाता है, नीम्ब की पत्ती आदि से स्वच्छ किया जाता है वह क्षारतन्त्र चिकित्सा कहलाती है।

सलाई द्वारा आँख खोलना, इन्जेक्शन लगाना, शलाका से मूत्र आदि का करवाना, आप्रेशन करके उदर से पत्थरी आदि निकालना, घाव को चीरना, फाड़ना आदि का प्रयोग करके रोग दूर किया जाता है वह शलाका चिकित्सा है।

शरीर के वाम भाग का स्वर इड़ा (इंगला) दाहिने भाग का पिंगला, और दोनों एक साथ चलने पर सुषुम्ना स्वर कहलाता है। इसके पाँच तत्त्व हैं—पृथ्वीतत्त्व, जलतत्त्व, अग्नितत्त्व, वायुतत्त्व और आकाश-तत्त्व।

नाक के दक्षिण या वाम किसी भी छिद्र से निकलता हुआ वायु (श्वास) यदि छिद्र के बीच से निकलता हो तो पृथ्वीतत्त्व; छिद्र के अधोभाग से अर्थात् ऊपर वाले ओष्ठ को स्पर्श करता हुआ निकलता हो तो जलतत्त्व; छिद्र के ऊर्ध्व भाग को स्पर्श करता हुआ निकलता हो तो

अग्नितत्त्व; छिद्र से तिरछा होकर निकलता हो तो वायुतत्त्व और एक छिद्र से बढ़कर क्रम से दूसरे छिद्र से निकलता हो तो आकाशतत्त्व चलता है ऐसा जानना चाहिए। अथवा १६ अंगुल का एक शंकु बनाकर उस पर ४ अंगुल, ८ अंगुल, १२ अंगुल और १६ अंगुल रुई या अत्यन्त मन्द वायु से हिल सके ऐसा कुछ और पदार्थ लगाके उस शंकु को अपने हाथ में लेकर नासिका के दक्षिण या वाम किसी भी छिद्र से श्वास चल रहा हो उसके समीप लगा करके तत्त्व की परीक्षा करनी चाहिए। यदि आठ अंगुल तक (वायु) (श्वास) बाहर जाता हो तो पृथ्वीतत्त्व, सोलह अंगुल तक बाहर जाता हो तो वायुतत्त्व, चार अंगुल तक बाहर जाता हो तो अग्नितत्त्व और चार अंगुल से कम दूरी तक जाता हो अर्थात् केवल बाहर निर्गमन मात्र हो तो आकाशतत्त्व होता है। इन प्राणायामों का वर्णन प्राणावाय करता है।

पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास और आयु ये दश प्राण हैं। इन दश प्राणों के उपकारक और अपकारक द्रव्य कौन से हैं अर्थात् कौन सी वस्तु का भक्षण करने से शरीरस्थ प्राणों को शान्ति मिलती है, कौन-सा द्रव्य प्राणों का उपकारक है तथा कौन-सा द्रव्य प्राणों का अपकारक है, प्राण नाशक है इत्यादि प्रकार से प्राणों के अपकारक एवं उपकारक द्रव्यों का कथन करना प्राणों के अपकारक, उपकारक द्रव्य का कथन है। अर्थात् विष-नशीली भाँग, गाँजा, अफीम, शराब आदि वस्तुयें प्राणों के अपकारक द्रव्य हैं और दूध, दही, अन्न, चीनी, घृत आदि उपकारक द्रव्य हैं।

चिकित्सा का प्रयोग किस गति में, किस अवस्था में, किस प्रकार किया जाता है। तिर्यंच गति के जीवों के रोग दूर करने का प्रयोग अन्य प्रकार का होता है और मनुष्य गति में भिन्न प्रकार का। बाल्यावस्था में उत्पन्न रोग का प्रतिकार किस प्रकार किया जाता है, वृद्धावस्था में किस प्रकार किया जाता है। एक प्रकार का रोग होते हुए भी शारीरिक शक्ति, देश, क्षेत्र काल के अनुसार औषधि का प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इस प्रकार प्राणावाय पूर्व दश वस्तुगत, दो सौ प्राभृतों के तेरह करोड़ पदों के द्वारा शरीर चिकित्सा आदि अष्टांग आयुर्वेद भूतिकर्म अर्थात् शरीर की रक्षा के लिये किये गये भस्मलेपन, सूत्र बन्धनादि, कर्म जांगलि प्रक्रम (विषविद्या) और प्राणायाम के भेद-प्रभेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन करता है।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि भोजन करते समय किसी प्रकार का अवांछनीय कषायिक आवेग क्रोध आदि नहीं होना चाहिए। क्योंकि मानसिक सन्ताप के होने पर भोजन विष बन जाता है। भोजन के समय मन शान्त एवं प्रशस्त, मध्यस्थ हो तो भोजन अमृत बन जाता है। अन्तःकरण में जैसे-जैसे शुभ या अशुभ, प्रशस्त या अप्रशस्त भाव होते हैं, उसी प्रकार का कर्म रस बनता है, उसी प्रकार हमारा मनोवेग भोजन के रस को शुभ या अशुभ बना देता है।

इस प्रकार सर्व प्रकार के आयुर्वेद का कथन करने वाला प्राणावाय (प्राणावाद) नामक पूर्व कहलाता है।

॥ इति प्राणावाय पूर्व समाप्त ॥

क्रियाविशाल पूर्व का कथन

किरियाविसालपुव्वं णवकोडिपयेहिं संजुत्तं ॥११०॥

क्रियाविशालपूर्वं नवकोटिपदैः संयुक्तं ॥

संगीदसत्थछेदालंकारादी कला बहत्तरी य।
चउसट्ठी इत्थिगुणा चउसीदी जत्थ सिल्लाणं ॥१११॥

संगीतशास्त्रच्छंदोलङ्कारादि यः कलाः द्वासप्ततिः।
चतुषष्टिः स्त्रीगुणाः चतुरशीतिः यत्र शिल्पानां ॥

विण्णाणाणि सुगब्भाधाणादी अडसयं च पणवग्गं।
सम्मद्दंसणकिरिया वण्णिज्जंते जिणिदेहिं ॥११२॥

विज्ञानानि सुगर्भाधानादयः अष्टशतं च पंचवर्गं।
सम्यग्दर्शनक्रियाः वर्ण्यंते जिनेन्द्रैः ॥

नवकोटी पदों से युक्त क्रियाविशालपूर्व है जिसमें जिनेन्द्र भगवान् संगीत शास्त्र, छन्द, अलंकार आदि पुरुषों की बहत्तर कलाओं का, स्त्री सम्बन्धी चौसठ गुणों का, चौरासी शिल्पी आदि गुणों का, एक सौ आठ सुगर्भाधानादि क्रियाओं का और सम्यक्त्ववर्द्धिनी आदि पच्चीस क्रियाओं का कथन किया है ॥ ११०-१११-११२ ॥

विशेषार्थ

संगीतकला वादित्र, स्वरगीतलय, तालपद, अलंकार आदि से युक्त होता है। तत, अवनद्ध, घन और सुषिर के भेद से वादित्र चार प्रकार

के हैं। जो तार से बजते हैं ऐसे वीणादि तत कहलाते हैं। जो चमड़े से मढ़े जाते हैं ऐसे मृदंग आदि अवनद्ध कहलाते हैं। काँसे के झाँझ, मजीरा आदि घन कहलाते हैं और बाँसुरी आदि को सुषिर कहते हैं।[1]

संगीत कला में ये चार प्रकार के वादित्र होते हैं उनमें मुख्य होते हैं बाँसुरी और वीणा। अथवा संगीत की उत्पत्ति में वीणा, वंश और गान ये तीन कारण हैं तथा स्वरगत, तालगत और पदगत के भेद से संगीत तीन प्रकार का माना गया है।

कण्ठ, शिर और उरस्थल तीन स्थलों से स्वर अभिव्यक्त होता है। षडज, ऋषभ, गन्धार-गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सात स्वर कहलाते हैं।

द्रुत, मध्य और विलम्बित ये तीन लय हैं। अस्त्र और चतुरस्त्र ये लय की दो योनियाँ (उत्पत्तिस्थान) हैं।

स्थायी, संचारी, आरोही, अवरोही इन चार प्रकार के वर्णों से सहित होने के कारण जो चार प्रकार के पदों से स्थित हैं।

प्रतिपदिक, तिङन्त, उपसर्ग और निपातों में संस्कार को प्राप्त संस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी ये तीन प्रकार की भाषा जिसमें स्थित है।

धैवती, आर्षभी, प्रडजा, उदीच्या, निषादिनी, गान्धारी, षड्ज केकसी और षड्ज मध्यमा ये आठ जातियाँ है अथवा गन्धारी दीच्या, मध्यम पंचमी, गन्धार पंचमी, रक्तगान्धारी, मध्यमा, आन्ध्री, मध्यमोदीच्या, कर्माखी, नन्दिनी और कैशिकी ये दश जातियाँ भी हैं। संगीत इन आठ अथवा दश जातियों से युक्त होता है। तथा प्रसन्नादि तेरह अलंकारों से सहित है।

प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, मध्यप्रसाद और प्रसन्नायवसान ये चार स्थायी पद के अलंकार हैं।

निवृत, प्रस्थित, बिन्दु, प्रेखोलित, तार-मन्द्र और प्रसन्न ये छह संचारी पद के अलंकार हैं।

आरोही पद का प्रसन्नादि नामक एक ही अलंकार है और अवरोही पद के प्रसन्नान्त तथा कुहर ये दो अलंकार हैं। इस प्रकार संगीत के तेरह अलंकार हैं और संगीत के अनेक भेद होते हैं। उनको संगीत शास्त्र से जानना चाहिये।

---

१. हरिवंशपुराण १-२८७

जो लिपि अपने देश में आमतौर से चलती है। लोग अपने-अपने संकेतानुसार जिसकी कल्पना करते हैं उसे विकृत कहते हैं।

प्रत्यंग आदि वर्णों में जिसका प्रयोग होता है उसे सामायिक कहते हैं। और वर्णों के बदले पुष्पादि पदार्थ रखकर जो लिपि का ज्ञान किया जाता है उसे नैमित्तिक कहते हैं। इस लिपि के प्राच्य, मध्यम, यौधेय, समाद्र आदि देशों की अपेक्षा अनेक अवान्तर भेद होते हैं।

जिसके स्थान स्वर, विन्यास, काकु समुदाय, विराम, सामान्याभिहित समानर्थत्व और भाषा ये जातियां हैं।

उरस्थल, कण्ठ और मूर्च्छा के भेद से स्थान तीन प्रकार का है।

स्वर के षडज आदि सात भेद हैं।

लक्षण और उद्देश्य अथवा लक्षणा और अभिधा की अपेक्षा संस्कार दो प्रकार के हैं।

पदवाक्य, महावाक्य आदि के विभाग सहित जो कथन है वह विन्यास कहलाता है।

सापेक्षा, निरपेक्षा की अपेक्षा काकु के दो भेद हैं। गद्य, पद्य और मिश्र अर्थात् चम्पू की अपेक्षा समुदाय तीन प्रकार का है।

किसी विषय का संक्षेप से उल्लेख करना विराम कहलाता है। एकार्थ अर्थात् पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना सामान्याभिहित कहलाता है।

एक शब्द के द्वारा बहुत अर्थ का प्रतिपादन करना समानार्थता है। आर्य, लक्षण और म्लेच्छ के नियम से भाषा तीन प्रकार की है, जिसका पद्य रूप व्यवहार होता है उसे लेख कहते हैं। ये सब जातियां कहलाती हैं। व्यक्तवाक, लोकवाक और मार्गव्यवहार ये मातृकाएँ कहलाती हैं। ये सब शास्त्र या उक्ति की कुशलता कहलाती हैं। ज्योतिषशास्त्र, निमित्त-शास्त्र, छन्दशास्त्र, न्यायशास्त्र, कलाशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, पुराणादि शास्त्र कहलाते हैं।

पत्र-छेद के तीन भेद हैं—बुष्किम, छिन्न और अछिन्न। सुई अथवा दन्त आदि से छेद करके जो बनाया जाता है उसे बुष्किम कहते हैं।

जो कैंची आदि से काटकर बनाया जाता है उसे छिन्न कहते हैं तथा अन्य अवयवों के सम्बन्ध से रहित होता है उसे अच्छिन्न कहते हैं।

यह पत्रच्छेद क्रिया वस्त्र तथा सुवर्णादिक के ऊपर की जाती है तथा यह स्थिर और चंचल दोनों प्रकार की है। इस प्रकार छेदक्रिया अनेक प्रकार की है।

अथवा छेद का अर्थ गणितशास्त्र है[1] इसके अनेक भेद हैं। इसका संक्षेप से त्रिलोकबिन्दुसार पूर्व में किया जायेगा। अर्थ अलंकार और शब्द अलंकार के भेद से अलंकार दो प्रकार का है जिसमें एक शब्द के अनेक अर्थ किये जाते हैं अर्थ अलंकार है श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यप्ति, उदारत्व, ओज, कान्ति, समाधि से अलंकार के प्राण उपमा अलंकार अर्थालंकार विरोधाभास अलंकार आदि अलंकार के अनेक भेद हैं। इस प्रकार आलेख्य, गणित, संगीत शास्त्र आदि बहत्तर पुरुषों की कला या क्रिया कहलाती हैं।

नाट्यकला, संगीतकला, चित्रकला (जिसमें चन्दनादि द्रव्य का कृत्रिम-अकृत्रिम रंग के द्वारा वस्त्रादि के ऊपर चित्राम बनाये जाते हैं) पुस्तकर्मकला (मिट्टी के खिलौने यंत्र चालन आदि अनेक क्रिया है) पत्रच्छेदकला मालाकर्म क्रिया (शुष्क आर्द्र पुष्पों के द्वारा अनेक-अनेक प्रकार की माला बनाना।[2] माल्यकर्मकला रण (युद्ध) में चक्रव्यूह आदि की रचना करना) योनिद्रव्यकला (अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों का मिश्रण करके वस्तुओं का निर्माण करना) भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और चूस्य के भेद से भोजन सम्बन्धित पाँच भेद हैं। उन अनेक प्रकार के भोजन के निर्माण की विधि भोजन कला या आस्वाद्य विज्ञान कला है। धातुकला (हीरा, सुवर्ण, मोती आदि का परिज्ञान) वस्त्रकला (वस्त्रों पर बेल-बूटा आदि निकालना) संवाहन कला–पैर आदि को दबाना इसका दूसरा नाम शय्योपचार क्रिया है। भूतिकला–बेलबूटा खींचना, निधिज्ञान–भूमिस्थ धन का ज्ञान, रूप विज्ञानकला, वाणिक्य विधि-व्यापार कला, जीव विज्ञान–जीवों की उत्पत्ति आदि का विज्ञान, चिकित्सा का निदान क्रिया, मायाकृत, पीड़ाकृत, इन्द्रजाल मंत्र-तंत्र कृत और औषधिकृत मूर्च्छा के परिहार करने की क्रिया, क्रीड़ा आदि स्त्रियों की चौसठ क्रिया कला हैं।

"कला गीतनृत्यादिरूपा, चतुषष्टि भेदभिन्ना (आदिन) सुवर्णकारादि-क्रम ग्रहः।" गीत नृत्यादि, चौसठ कला होती हैं।

---

१. LOGARITHM (ज० प०/प्र० १०६)

२. गीले पुष्पों की जो माला बनाई जाती है वह आर्द्र है। सूखे पत्र आदि से बनाई जाती है वह शुष्क है, चावलों के साथ वा 'जौ' आदि से बनाई जाती है वह उज्झित है और पुष्प पत्र और जौ इन तीनों को मिलाकर बनाई जाती है, मिश्र कहलाती है।

"मोक्षे धीर्ज्ञानं शिल्पशास्त्रयोर्धीर्विज्ञानं"[1] मोक्षमार्ग में बुद्धि का प्रवेश होता है वह धी ज्ञान कहलाता है। और शिल्पीशास्त्र में जो बुद्धि का प्रवेश होता है वह विज्ञान कहलाता है। उस विज्ञान के चौरासी भेद हैं।

काष्टभेदनी, वृक्षादनी, वृक्षभेदी, टंकः, पाषाणदारणी आदि चौरासी प्रकार से शिल्पी शास्त्र का विज्ञान है। शिल्पी क्रिया कहते हैं। बर्तन बनाना, शस्त्र बनाना, वस्त्र बनाना, लोहा, सोना आदि धातु की प्रतिमा बनाना आदि अनेक प्रकार का विज्ञान है। अथवा अनेक प्रकार के मकान बनाना भी शिल्पी शास्त्र है।

इस शिल्पी विज्ञान के चौरासी भेद हैं—उनका विस्तार कथन अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए।

गर्भाधान आदि १०८ क्रियाओं का नाम एवं स्वरूप इस प्रकार हैं—गर्भान्वय क्रिया तिरेपन, दीक्षान्वय क्रिया अड़तालीस और कर्त्रन्वय क्रिया सात इस प्रकार गर्भाधानादि क्रिया एक सौ आठ हैं।

१–गर्भान्वय क्रिया—चतुर्थ स्नान के द्वारा शुद्ध हुई पुष्पवती पत्नी को आगे करके गर्भाधान के पूर्व अर्हन्तदेव की पूजा, हवन कर विधिपूर्व सज्जाति भागीभव, सद्गृह भागीभव, मुनीन्द्र भागीभव, सुरेन्द्र भागीभव, परमराज्य भागीभव, आर्हन्त्य भागीभव, परम निर्वाण भागीभव इत्यादि मंत्रपूर्वक जो संस्कार किया जाता है उसे गर्भाधान क्रिया कहते हैं।

२–गर्भाधान के तीसरे महीने में घर द्वार पर कलश स्थापन कर बड़े उत्सव के साथ वीतराग प्रभु के पूजन करके त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैकाल्य ज्ञानी भव, त्रिरत्न स्वामी भव, इन मंत्रों का उच्चारण करके गर्भवती के उदर का संस्कार करना प्रीतिक्रिया है।

३–गर्भाधान के पाँचवें महीने में मंत्र और क्रियाओं को जानने वाले श्रावक अग्नि की साक्षीपूर्वक अर्हन्त भगवान् की प्रतिमा के सन्मुख "अवतार कल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेक कल्याणभागी भव, निष्क्रान्ति कल्याणभागो भव, आर्हन्त्य कल्याणभागी भव, परमनिर्वाण कल्याणभागी भव, इन मंत्रों का उच्चारण करके गर्भवती के गर्भ का संस्कार करना सुप्रीति क्रिया है।

४–गर्भाधान के सातवें महीने जिनमन्दिर में जाकर वीतराग प्रभु की

१. अमरकोष पृ० ५७ श्लोक।

पूजा करके "सज्जाति दातृभागी भव, सदगृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्र दातृभागी भव, परम निर्वाणभागी भव" इन मंत्रों का उच्चारण करके गर्भ का संस्कार करना धृति क्रिया है।

५—गर्भाधान के नौवें महीने गर्भ की पुष्टि के लिए जिनेन्द्र भगवान् का पूजन करके गर्भिणी के शरीर पर "सज्जाति कल्याणभागी भव, सद-गृहि कल्याणभागी भव, वैवाह कल्याणभागी भव, मुनीन्द्र कल्याणभागी भव, सुरेन्द्र कल्याणभागी भव, मन्दराभिषेक कल्याणभागी भव, यौवराज्य कल्याणभागी भव, महाराज्य कल्याणभागी भव, परमराज्य कल्याणभागी भव, आर्हन्त्य कल्याणभागी भव, इन मंत्रों का उच्चारणपूर्वक बीजाक्षर लिखकर मंगलमय आभूषण पहनाकर गर्भ की रक्षा के लिये कंकणसूत्र आदि बाँधने की विधि करना पाँचवीं मोद क्रिया है।

६—तदनन्तर प्रसूति होने पर प्रियोद्भव क्रिया की जाती है इसका दूसरा नाम कर्मविधि भी है। यह क्रिया जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण कर विधिपूर्वक की जाती है। सर्व प्रथम—"दिव्यनेमि विजयाय स्वाहा, परम-नेमि विजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमि विजयाय स्वाहा इन मंत्रों का उच्चारण करना चाहिए। सिद्ध भगवान् के गन्धोदक के सिंचन किए हुए बालक के शिर का स्पर्श करते हुए ऐसा कहना चाहिये कि तेरी माता, कुल, जाति से शुद्ध रूपवती, शीलवती, सन्तानवती, भाग्यवती, अवैधव्य से युक्त सौम्यशान्ति मूर्ति और सम्यग्दृष्टि है, अतः हे पुत्र तूँ "दिव्यचक्रभागी भव, विजयचक्रभागी भव, परमचक्रभागी भव" इस प्रकार मन्त्र बोलकर पिता पुत्र को आशीर्वाद देता है।

हे पुत्र तूँ शतायु भव, तदनन्तर दूध और घृत नाभि पर डालकर 'घातिजयो भव' इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए नाभि का नाल काटना चाहिए।

हे जात, श्री देव्यः ते जातिक्रियां कुर्वन्तु" इस मंत्र को बोलकर शिशु के शरीर पर सुगन्धित द्रव्य से उबटन करें।

"पुत्र त्वं मन्दराभिषेकभागी भव" इस मंत्र को बोलकर बालक को स्नान करावें।

'हे पुत्र त्वं चिरं जीयात्' ऐसा बोलकर शिशु पर अक्षत डाले। हे द्विज ते कृत्स्नं कर्ममलं नश्यात्' इस मंत्र को बोलकर जात बालक के मुख और नाक में औषधि मिलाकर तैयार किया हुआ घृत डाले।

"विश्वेश्वरी स्तन्यभागी भूयाः" इस मंत्र को बोलकर बालक को स्तनपान करावें। तदनन्तर प्रीतिपूर्वक दान देवें।

"सम्यग्दृष्टे, सम्यग्दृष्टे, सर्वमातः सर्वमातः वसुन्धरे वसुन्धरे," इस मंत्र से मंत्रित भूमि में जल, अक्षत डालकर पाँच रत्न के नीचे-"त्वत्पुत्रा इवमत्पुत्रा चिरंजीविनो भूयासुः" इस मंत्र का उच्चारण करते हुए जमीन पर नाल के मल को डालना चाहिये।

"सम्यग्दृष्टे, सम्यग्दृष्टे, आसन्नभव्ये, आसन्नभव्ये विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि, अर्जितपुण्ये, अर्जितपुण्ये, जिनमातः जिनमातः स्वाहा" ऐसा मंत्र बोलकर शिशु की माता को स्नान करावें।

जन्म के तीसरे दिन रात्रि के समय "अनन्तज्ञानदर्शीभव" ऐसा मंत्र उच्चारण कर पुत्र को गोद में लेकर पुत्र को नक्षत्र का अवलोकन कराना चाहिये।

७-जन्म से बारह दिन के बाद जो दिन माता-पिता और पुत्र के अनुकूल वा सुखदायक हो उस दिन नामक्रिया की जाती है।

नामक्रिया की विधि में सर्व प्रथम अपने वैभव के अनुसार अर्हन्तदेव और ऋषियों की पूजा करके यथायोग्य दान देना चाहिये तथा सिद्ध भगवान् की पूजा करने के लिए "सत्य जन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातुशरणं०, अर्हत्सुतस्यशरणं०, अनादिगमनस्यशरणं०, अनुपमजन्मनः शरणं०, रत्नत्रयस्यशरणं०, हे सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, ज्ञानमूर्त्ते ज्ञानमूर्त्ते सरस्वती सरस्वती स्वाहा इन मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये। तदनन्तर दिव्याष्ट सहस्रभागी भव, विजयाष्ट सहस्रभागी भव, परमार्थ सहस्रनामभागी भव इन मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये तथा जिनेन्द्रदेव के एक हजार आठ नामों के समूह से घटपत्रविधि करके कोई एक शुभ नाम रखना चाहिये। संक्षेप में घटपत्रविधि का अर्थ है 'एक हजार आठ नाम लिखकर एक घड़े में भरना तथा अबोध बालक से उसमें से एक कागज निकलवाना जो नाम लिखा निकले वही नाम रखना चाहिए, सातवीं नामकर्म क्रिया है।

८-दो, तीन या चार महीने के बाद किसी शुभ में वादित्र के साथ शिशु को 'उपनय निष्क्रांति भागीभव, वैवाह०, मुनीन्द्र०, सुरेन्द्र०, मन्दराभिषेक०, यौवन राज्य०, महाराज्य०, परमराज्य०, आर्हन्त्य०, इन मन्त्रों के उच्चारण के साथ प्रसूति को घर से बाहर निकालना बहिर्यान क्रिया है।

९-शुभ वेला में शिशु को, सिद्ध भगवान् की पूजा करके "दिव्य सिंहासन भागी भव, विजय सिंहासन भागी भव, परम सिंहासनभागी भव" इन मन्त्रों का उच्चारण करके दिव्य आसन पर बिठाना निषधा क्रिया है।

१०-जन्म दिन से सातवें या आठवें महीने में शुभ दिन मुहूर्त में अर्हन्त भगवान् की पूजा करके 'दिव्यामृतभागी भव, विजयामृत०, अक्षीणामृत०, इन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए बालक को अन्न खिलाना अन्नप्राशन क्रिया है।

११-एक वर्ष पूर्ण होने पर इष्टजनों को बुलाकर अर्हत भगवान् को बड़े वैभव के साथ पूजन करके सबको भोजन दान सम्मान से संतुष्ट करके 'उपनयन जन्म वर्षवर्धनभागी भव, वैवाह निष्ट वर्ष०, मुनीन्द्र जन्म वर्ष०, सुरेन्द्र जन्म वर्ष०, मन्दराभिषेक वर्ष०, यौवनराज्य वर्ष०, महाराज्य वर्ष०, परमराज्य वर्ष०, आर्हन्त्य राज्य वर्ष०, इन मन्त्रों से पुत्र को आशीर्वाद देकर वर्ष दिवस मनाना व्युष्टि क्रिया है।

१२-किसी शुभ दिन में देव शास्त्र-गुरु की पूजा करके बालक के मस्तक को गन्धोदक से गीला करके 'उपनयन मुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थ-मुण्ड०, निष्क्रान्ति मुण्ड०, परम निष्तारक केश०, परमेन्द्र केश०, परम राज्य केश०, आर्हन्त्य राज्य केश०, इन मन्त्रों को बोलते हुए बालक के सिर पर अक्षत डालकर मुण्डन कराना क्षौर कर्म क्रिया है। इस क्रिया में भी पुण्याह (हवन) मंगल किया जाता है। बालक को स्नान करा करके मस्तक पर चन्दन लगाना और वस्त्राभूषण पहनाकर जिन मन्दिर में ले जाकर गुरु को नमस्कार कराना चाहिये।

१३-पाँचवें वर्ष में देव पूजा करके बालक को अध्यापक के समीप ले जाकर 'शब्द पारगामी भव, अर्थ पारगामी भव, शब्दार्थ पारगामी भव इन मन्त्रों को पढ़ते हुए अक्षर लिखवाना लिपिसंख्यान क्रिया है।

१४-जन्म के आठवें वर्ष में जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करके "परम निस्तारक लिंगभागी भव, परमर्षिलिंग०, परमेन्द्र लिंग भागी०, परम राज्य लिंग०, परमार्हन्त्य लिंग०, परम निर्वाण लिंग०, इन मन्त्रों से बालक का संस्कार करके निर्विकार बालक के कमर में श्वेत वस्त्र पहनाकर तीन लड़ी का मौंजी का बंधन और गणधर देव कथित व्रतों को चिह्न स्वरूप और मन्त्रों से पवित्र यज्ञोपवीत धारण कराना उपनयन क्रिया है। इस क्रिया में भी पूजा, हवन आदि क्रिया पूर्व के समान है।

तीन लरकी मूँज की रस्सी बाँधना कमर का चिह्न है यह मोजी बन्धन रत्नत्रय की विशुद्धि का अंग है और द्विज लोगों का चिह्न है।

१५-श्वेत धोती उसकी जाँघ के चिह्न हैं, श्वेत धोती यह सूचित करती है कि अरहंत भगवान् का कुल पवित्र और विशाल है।

वक्षःस्थल का चिह्न सात लरका गुँथा हुआ यज्ञोपवीत सात परम स्थान का सूचक है[1]। मस्तक का मुण्डन मन, वचन, काय का मुंडन है। इस प्रकार उपनीति क्रिया के बाद गुरु की साक्षीपूर्वक अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत धारण कर गुरु की पूजा करता है और तदनन्तर गुरु उसको उपासकाध्ययन का अध्ययन कराता है। ज्योतिष शास्त्र, छन्द शास्त्र, शकुन शास्त्र, गणित शास्त्र आदि का विशेष रूप से अध्ययन करता है, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है। यह व्रतचर्या नामकी क्रिया है।

१६–विद्याध्ययन की समाप्ति के अनन्तर जब बारह या सोलह वर्ष की अवस्था हो जाती है, तब अध्ययन के लिए ग्रहण किये गये व्रतों का गुरु साक्षीपूर्वक त्याग कर गृहस्थ आश्रम को स्वीकार करता है वह व्रतावतरण क्रिया है।

१७–तदनन्तर विवाह के योग्य कुल में उत्पन्न कन्या के साथ गुरु की आज्ञा से किसी पवित्र स्थान में सिद्ध भगवान् की पूजा करके सामान्य केवली, तीर्थंकर केवली और गणधर केवली रूप तीन अग्नि स्थापित कर उसमें विधिपूर्वक हवन करके बड़ी विभूति के साथ सिद्ध भगवान् की प्रतिमा के सामने वधू-वर का विवाहोत्सव किया जाता है वह वैवाहिक क्रिया है।

विवाह की दीक्षा में नियुक्त वधू-वर को सात दिन तक ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए, तीर्थयात्रा करके फिर सांसारिक कार्य करना चाहिए। इसका विशेष वर्णन महापुराण से जानना चाहिए।

१८–विवाह के बाद जब बालक गार्हस्थ्य धर्म का पालन करता हुआ पिता से पृथक् अर्थ उपार्जन करने का प्रयत्न करता है, यह वर्ण लाभ क्रिया है।

१९–निर्दोष रूप से आजीविका करना, आर्य पुरुषों के योग्य देव पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान रूप षट् गृहस्थ सम्बन्धी क्रियाओं को करना कुलचर्या है।

२०–कुलचर्या के अनन्तर धर्म में दृढ़ता को धारण करता हुआ अन्य गृहस्थों में नहीं पाये जाने वाले शुभवृत्ति क्रिया मन्त्र विवाह आदि क्रियाशास्त्र, ज्ञान और चारित्र आदि क्रियाओं से अपने आपको उन्नत करता हुआ गृहीश अर्थात् गृहस्थों के स्वामी होने के योग्य होता है उस समय

---

१. महापुराण पर्व २८ पृ० ३४८।

गृहस्थ उसको वर्णोत्तम, महीदेव, सुश्रुत, द्विजसतम, निस्तारक, ग्रामपति मनाइ आदि शब्दों से उसका सत्कार करते हैं यह गृहीशिता क्रिया है।

२१–कुछ दिन बाद गृहस्थाचार्य अपना भार सँभालने योग्य पुत्र को प्राप्त कर अपनी गृहस्थी के भार को पुत्र को सौंपकर विषय-वासनाओं का त्याग कर नित्य स्वाध्याय, नाना प्रकार के उपवास आदि क्रिया करने में तत्पर रहता है, वह प्रशान्त वृत्ति कहलाता है।

२२–संसार भोगों से विरक्त अपने धन का तीन भाग कर, एक भाग धार्मिक कार्य में, एक भाग घर खर्च के लिये और एक पुत्र-पुत्रियों को बाँटकर गृहस्थावस्था का त्याग कर दिगम्बर मुद्रा धारण करने के लिये घर छोड़ता है यह गृहत्याग नाम की क्रिया है।

२३–दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व जो जिन भगवान् की पूजा, केशलोंच आदि क्रिया की जाती है वह दीक्षाद्य क्रिया है।

२४–सर्व प्रकार आरम्भ परिग्रह का त्याग कर नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण करना जिनरूपता नामक क्रिया है।

२५–जिन दीक्षा लेकर उपवास किया है जब तक विधिपूर्वक आहार लेने में प्रवृत्त होता है तब तक मौनपूर्वक गुरु के चरण सान्निध्य में शास्त्रों का अध्ययन करता है अर्थात् दीक्षा लेकर गुरु के चरण सान्निध्य में मौन-पूर्वक विनय से शास्त्रों का अध्ययन करता है वह मौनाध्ययन वृत्तित्व क्रिया है।

२६–सर्व आचारादि शास्त्रों का अध्ययन करने से जिसका आचरण शुद्ध हो गया है ऐसा वह यति तीर्थंकर पद को देने वाली सम्यग्दर्शन विशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं का अभ्यास करता है, वह तीर्थंकृत भावना नामक क्रिया है।

२७–सर्व शास्त्रों के ज्ञान में निपुण मुनिराज जब गुरु के अनुग्रह से गुरु के पद को स्वीकार करता है यह गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया है।

२८–गुरुपद (आचार्यपद) को स्वीकार करके मुनि-आर्यिका श्रावक-श्राविकाओं को समीचीन मार्ग में लगाना है, शास्त्राध्ययन के इच्छुक को अध्ययन कराता है, भव्य जीवों के लिए धर्म का प्रतिपादन करता है, शिष्यों के अपराधों की शुद्धि करता है तथा अपने अपराधों की शोधना कर गुणों की वृद्धि करता है और गण का पोषण करता है। यह गणपोषण नामक क्रिया है।

२९–संघ पोषण के बाद अन्त में अपने आचार्य पद को योग्य शिष्य को विधिपूर्वक सौंप देता है, यह स्वगुरु-स्थानावाप्ति क्रिया है।

३०–तत्पश्चात् शिष्य पुस्तक आदि सर्व पदार्थों से राग छोड़कर निर्ममत्व भावना में तत्पर हो चारित्र की शुद्धि करता है यह निसंगत्व भावना क्रिया है।

३१–तदनन्तर सल्लेखना धारण करने का इच्छुक साधु संसार के पदार्थों के चिन्तन का त्याग कर मोक्ष का ही चिन्तन करता है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लीन रहता है यह योग निर्वाण संप्राप्ति क्रिया है।

३२–योग का अर्थ समाधि है जो साधु सर्व आहार पानी का त्याग कर समाधि (सल्लेखना व्रत) में लीन होता है, यह योग निर्वाण साधन क्रिया है।

३३–समाधिमरण के द्वारा प्राणों का त्याग कर इन्द्र पद को प्राप्त करता है, यह इन्द्रोपपाद नामकी क्रिया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

३४–स्वर्ग में इन्द्रपद में जन्म लेने के बाद तत्रस्थ लोग उस देव का अभिषेक करते हैं, यह इन्द्राभिषेक नामक क्रिया है।

३५–इन्द्राभिषेक के बाद नम्रीभूत हुए उत्तम देवों को अपने-अपने पद पर नियुक्त करता है, यह विधि दान क्रिया है।

३६–अपने-अपने विमानों की, ऋद्धि से सन्तुष्ट, देवों से घिरा हुआ पुण्यात्मा इन्द्र चिरकाल तक स्वर्गीय सुखों का अनुभव करता है, यह सुखोदय क्रिया है।

३७–चिरकाल तक इन्द्रजन्य सुखों का अनुभव कर देवायु समाप्त होने पर अपना मरण निकट जान सामाजिक आदि अपने सर्व परिवार देवों को सम्बोधित करता है। हे देवगणों मेरा मरण निकट है इसलिए आज मैं तुम सबकी साक्षीपूर्वक स्वर्ग का समस्त साम्राज्य छोड़ रहा हूँ और मेरे पीछे मेरे समान जो दूसरा इन्द्र होने वाला है उसके लिए यह सारी सामग्री अर्पित करता हूँ। इस प्रकार कहकर अति आनन्द से इन्द्र-पद का त्याग करता है, यह इन्द्रपद त्याग नामकी क्रिया है।

३८–आयु के अन्त समय में अर्हन्तदेव की पूजा कर, अपने हृदय में सिद्ध भगवान् का ध्यान कर, सोलह स्वप्नों से माहात्म्य को सूचित करता हुआ इन्द्र पर्याय को छोड़ देता है यह इन्द्रावतार क्रिया है।

३९–नव महीना पर्यन्त देवियों के द्वारा सेवित माता के गर्भ में रह-

कर तीन ज्ञान के धारी भगवान् जन्म लेते हैं वह हिरण्योत्कृष्ट जन्मता क्रिया है।

४०–जन्म के बाद इन्द्र महान् वैभव के साथ, ऐरावत हाथी पर बिठाकर प्रभु को सुदर्शन मेरु पर ले जाकर १००८ कलशों से अभिषेक करता है, यह मन्दराभिषेक नामक क्रिया है।

४१–प्रभु किसी को अपना गुरु नहीं बनाते हैं वे स्वयं सर्व विद्याओं के स्वामी होते हैं अतः स्वयंभू कहलाते हैं। इसलिए देवों सहित इन्द्र आकर तीन जगत के गुरु की पूजा करते हैं वह गुरुपूजन क्रिया कहलाती है।

४२–कुमार काल आने पर महाप्रतापी प्रभु के मस्तक पर अभिषेक करके युवराज्य पद बाँधा जाता है वह यौवराज्य क्रिया है।

४३–कुमार काल बीतने पर इन्द्र चार निकाय देवों के साथ प्रभु का अभिषेक राज्यपट्ट बाँधता है और प्रभु सारी पृथ्वी का अनुशासन करते हैं यह स्वराज्य क्रिया है।

४४–तदनन्तर नव निधि, चौदह रत्न और चक्र रत्न की प्राप्ति होती है तब उन्हें राजाधिराज मानकर उनकी अभिषेक सहित पूजा की जाती है, यह चक्र लाभ क्रिया है।

४५–चक्र लाभानन्तर चक्र को आगे करके षट् खण्ड पर विजय प्राप्त करते हैं यह दिशाजय क्रिया है।

४६–जब भगवान् दिग्विजय कर अपने नगर में प्रवेश करते हैं तब उत्तम-उत्तम राजा लोग उनकी स्तुति करते हैं। नगर निवासी तथा मन्त्री आदि मुख्य-मुख्य लोग उनके चरणों का अभिषेक करके उनके गन्धोदक को मस्तक पर लगाते हैं। श्री, ह्री, गंगा, सिन्धु, विश्वेश्वरा आदि देवियाँ अपने-अपने नियोग के अनुसार उनकी उपासना करती हैं यह चक्राभिषेक क्रिया है।

४७–चक्राभिषेक के दूसरे दिन वह चक्रवर्ती राज्यसभा में उन्नत सिंहासन पर बैठकर दान-मान आदि के द्वारा मन्त्री आदि का सत्कार करके शिक्षामय उपदेश देता है, न्यायपूर्वक राज्य करने का आदेश देता है, साम्राज्य क्रिया है।

४८–जब प्रभु राज्य भोगों से विरक्त हो जाते हैं तब लौकान्तिक देव आकर उनकी स्तुति करते हैं। तदनन्तर प्रभु अपने कुटुम्बीजनों को

सम्बोधन कर पुत्रों को शिक्षा देकर राजाओं की साक्षीपूर्वक बड़े पुत्र को राज्य भार सौंपकर देव निर्मित पालकी में बैठकर वन में जाते हैं और पूर्वाभिमुख से शिलापर बैठकर सर्व परिग्रह का त्याग कर तथा केशलोंच करके सिद्ध साक्षीपूर्वक नग्न मुद्रा धारण करते हैं यह निष्कान्ति क्रिया है।

मार्गदर्शक :– आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

४९–दीक्षा ग्रहण करने के बाद प्रभु ज्ञान और ध्यान में मग्न रहते हैं, यह योग सम्मह नामक क्रिया है।

५०–जब प्रभु ज्ञान ध्यान के द्वारा घातियां कर्मों का नाश कर केवलज्ञान को प्राप्त कर आठ प्रातिहार्य, बारह दिव्यसभा, स्तूप, मकानों की पंक्तियाँ, कोट का घेरा, पताकाओं की पंक्तियाँ आदि अनेक विभूतियाँ से युक्त समवशरण में स्थित होते हैं और देव परिवार सहित इन्द्र प्रभु की पूजा करता है, वह आर्हन्त्य नामक क्रिया है।

५१–जब प्रभु धर्मचक्र को आगे कर, पुष्पयान पर आरूढ़ (जिनके चरणों के नीचे देव कमलों की रचना करता है) होकर महा वैभव के साथ विहार करते हैं, यह विहार नामक क्रिया है।

५२–आयु के कुछ दिन शेष रहने पर प्रभु योग निरोध कर एक स्थान पर खड़े हो जाते हैं, समवशरण विघट जाता है यह योग निरोध नामक क्रिया है।

५३–जब प्रभु सर्व शीलों के स्वामी होकर चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त कर सर्व अघातियां कर्मों का नाश कर ऊर्ध्वगमन से मोक्ष पद प्राप्त कर लेते हैं, यह अग्र निवृ`त्ति नामक क्रिया है।

इस प्रकार परमागम में गर्भ से लेकर निर्वाण पर्यन्त तिरेपन क्रियाओं का वर्णन किया है।

व्रतों का धारण करना दीक्षा है और एकदेश त्याग और सर्वत्याग के भेद से व्रत दो प्रकार का है अर्थात् अणुव्रत और महाव्रत के भेद से व्रत दो प्रकार के हैं।

सूक्ष्म और स्थूल सभी प्रकार के हिंसादि पापों का त्याग करना महाव्रत कहलाता है और स्थूल हिंसादि पापों से निर्वृत्ति को अणुव्रत कहते हैं। इन व्रतों को ग्रहण करने के लिए सन्मुख पुरुषों की जो प्रवृत्ति होती है उसे दीक्षा कहते हैं और दीक्षा से सम्बन्ध रखने वाली जो क्रियाएँ है वे दीक्षान्वय क्रियाएँ कहलाती हैं।

१–वे दीक्षान्वय क्रियायें अड़तालीस हैं जिनका नाम इस प्रकार है।

कोई मिथ्यादृष्टि भव्य, मिथ्यात्व मार्ग वा मिथ्यात्व धर्म को छोड़कर समीचीन धर्म स्वीकार करना चाहता है, तब गृहस्थाचार्य वा दिगम्बर महामुनि उसको वीतराग प्रभु के द्वारा कथित धर्म का उपदेश देते हैं जिसको सुनकर जिसकी जिनधर्म में प्रीति हुई है, उस समय गुरु, पिता और तत्वज्ञान ही संस्कार किया हुआ गर्भ है। वह भव्य पुरुष धर्म रूप जन्म के द्वारा तत्त्वज्ञान रूपी गर्भ में अवतीर्ण होता है उस समय गर्भाधान क्रिया के समान मन्त्रों के द्वारा उसका संस्कार करते हैं, यह अवतार नामक क्रिया है।

२–तदनन्तर वैराग्य भाव से ओत-प्रोत वह भव्य गुरु चरण सान्निध्य में विधिपूर्वक जिनेन्द्र कथित श्रावक व्रतों को ग्रहण करता है यह व्रत लाभ नामक क्रिया है।

३–व्रत धारण करने के लिए जिसने उपवास किया ऐसे नूतन श्रावक को पारणा के दिन जिन मन्दिर में ले जाकर अष्ट दल कमलाकर समवशरण के मण्डल की रचना कर समवशरण की पूजा करे। पश्चात् आचार्य उस भव्य को जिनेन्द्र प्रतिमा के सन्मुख बिठाकर पंचमुष्ठी से उसका मस्तक स्पर्श करके कहता है कि भव्य यह तेरी श्रावक दीक्षा है। "तू इस दीक्षा से पवित्र हुआ है। ऐसा कहकर उसके मस्तक पर पूजा से बचे हुए शेषाक्षत डाले। तत्पश्चात् 'यह मन्त्र तुझे सारे पापों से रहित कर पवित्र करेगा।" ऐसा कहकर उसे पंच नमस्कार मन्त्र का उपदेश देकर आचार्य, उसे पारणा के लिए भेजता है यह स्थान लाभ क्रिया है।

४–स्थान लाभ वह भव्य पुरुष पूर्व में स्वगृह में स्थापित मिथ्यादृष्टि देवताओं का विसर्जन करता है, यह गणग्रह क्रिया है।

५–गणग्रह क्रिया के अनन्तर जिनधर्म में कथित उपवास रूपी सम्पत्ति के साथ जिनेन्द्र की पूजा करके द्वादशांग का अर्थ सुनता है यह पूजाराध्य क्रिया कहलाती है। अर्थात् उपवास करना, पूजा करना और शास्त्र का श्रवण करना, यह पूजाराध्य क्रिया है।

६–तदनन्तर साधर्मी पुरुषों के साथ चौदह पूर्व क्रियाओं का अर्थ सुनना, अर्थ का अवधारण करना, पुण्य को बढ़ाने वाली पुण्ययज्ञा नामकी क्रिया है।

७–जैनधर्म के शास्त्रों का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करके अन्य मतावलम्बियों के ग्रन्थों का अध्ययन करना, दृढ़चर्या नामक क्रिया है।

८–दृढ़व्रती मानव अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास करके रात्रि के समय प्रतिमा योग धारण करता है, यह उपयोगिता क्रिया है।

इन आठ क्रियाओं के साथ उपनीति नामक चौदहवीं क्रिया से तिरपनवीं निर्वाण (अग्रनिवृ ति) क्रिया तक की चालीस क्रियाओं का नाम ही दीक्षान्वय क्रियाओ के नाम हैं वही उनका स्वरूप है ।

इस प्रकार अड़तालीस दीक्षान्वय क्रियाओं के नाम हैं वही उनका स्वरूप है। इस प्रकार अड़तालीस दीक्षान्वय क्रिया हैं। जो भव्य इन क्रियाओं का यथार्थ स्वरूप जानकर इनका पालन करता है वह निर्विघ्न सांसारिक सुखों का अनुभव कर शीघ्र ही निर्वाण सुख को प्राप्त करता है।

सज्जातित्व, सद्गृहित्व, परिव्राज्य, सुरेन्द्रता, साम्राज्य, परमार्हन्त्य और परमनिर्वाण ये सात कर्त्रन्वय नामक क्रिया है। ये सात स्थान तीनों लोक में उत्कृष्ट माने गये हैं और ये सातों ही अर्हन्त भगवान् के वचनरूपी अमृत के आस्वादन करने वालों को ही प्राप्त होते हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है।

पिता के वंश को कुल कहते हैं, माता के वंश को जाति कहते हैं। माता-पिता के वंश की शुद्धि सज्जातित्व है। सज्जातित्व के होने पर ही रत्नत्रय की परिपूर्णता होती है। यह सज्जाति जन्म से है। संस्कार रूप सज्जाति होने पर भी होती है। जिस प्रकार विशुद्ध खान से उत्पन्न हुआ रत्न संस्कार के योग से उत्कर्ष को प्राप्त होता है, उसी प्रकार क्रियाओं और मन्त्रों से सुसंस्कार प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है।

संस्कार सम्यग्ज्ञान से होते हैं अतः जब भव्यात्मा सर्वज्ञ मुखोत्पन्न सम्यग्ज्ञान को धारण करता है और श्रावक के व्रतों से शोभित होता है तब गुरुदेव उसे आस्तिक्य भाव रत्नत्रय का सूचक तीन लरी का द्रव्य सूत्र (यज्ञोपवीत) धारण कराते हैं। तथा जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करके उसके शेष अक्षतों को आशीर्वादात्मक मन्त्रों का उच्चारण करते हुए उसके मस्तक पर डालते हैं। यह संस्कारात्मक सज्जातित्व है परन्तु जन्म सज्जातित्व के बिना संस्कार सज्जातित्व नहीं होती है।

सज्जातित्व धारण करके भव्यात्मा निर्दोष रूप से आर्य पुरुषों के करने योग्य सद्गृहस्थ के छह कर्मों का पालन करता है। व्रत, संयम आदि उत्तम आचरणों से अपने आपको देव ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है। यह सद्गृहित्व क्रिया है।

गृहस्थ धर्म का पालन करके अन्त में गृहवास से उदासीन होकर शुभ

तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग, शुभ लग्न और शुभ ग्रहों के अंश में निर्ग्रन्थाचार्य के समीप जाकर दिगम्बर मुद्रा धारण करता है, वह पारिव्राज्यत्व है।

पारिव्राज्य के फल स्वरूप जो सुरेन्द्र की प्राप्ति होती है, यह सुरेन्द्रता नामक क्रिया है।

इन्द्र पद के सुखों का अनुभव करके मानव लोक में जन्म लेता है और चक्ररत्न के साथ-साथ निधियों और चौदह रत्नों से उत्पन्न चक्रवर्ती सम्बन्धी भोगोपभोग सामग्री का अनुभव करता है, यह साम्राज्यत्व है।

चक्रवर्ती के अनुपम सुखों का अनुभव कर कुछ कारण वश चक्ररत्न, नव निधि, चौदह रत्न और षट् खण्ड के वैभव का त्याग कर सिद्धों की साक्षीपूर्वक जिनमुद्रा धारण करता है जिसके गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और निर्वाण कल्याण के अवसर पर चार काय के देव महा उत्सव मानते हैं। ऐसा वह महापुरुष चार घातियाँ कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त कर देव निर्मित समवशरण में बैठकर धर्मोपदेश देते हैं। देवों के द्वारा पूज्यनीय होते हैं। यह तीन लोक को क्षोभ उत्पन्न करने वाली आर्हंत्यत्व क्रिया है।

संसार के बन्धन से मुक्त होकर मुक्त अवस्था को प्राप्त होते हैं परम निर्वाण पद को प्राप्त होते हैं, यह परिनिर्वृत्ति क्रिया है।

इस प्रकार परमागम में कथित कर्त्रन्वय क्रिया हैं। इन क्रियाओं का पालन कर भव्य जीव परम पद को प्राप्त करते हैं।

चैत्य, गुरु और शास्त्र की पूजा आदि रूप सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली सम्यक्त्व क्रिया है।

मिथ्यात्व के उदय से जो अन्य देव के स्तवन आदि रूप क्रिया होती है वह मिथ्यात्व क्रिया है।

शरीर आदि द्वारा गमनागमन आदि रूप प्रवृत्ति प्रयोगक्रिया है।

संयत का अविरति के सन्मुख होना समादान क्रिया है। ईर्यापथ की कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है।

क्रोध के आवेश से प्रदोषिकी क्रिया होती है।

दुष्ट भाव युक्त होकर ऊधम करना कायिकी क्रिया है।

हिंसा के साधनों को ग्रहण करना अधिकरणि की क्रिया है।

जो दुःख की उत्पत्ति का कारण है वह पारितापिकी क्रिया है।

आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणों का वियोग करने वाली प्राणातिपातिकी क्रिया है।

रागवश प्रमादी का रमणीय रूप के देखने का अभिप्राय दर्शन क्रिया है।

प्रमादवश स्पर्श करने लायक सचेतन पदार्थ का अनुबन्ध स्पर्शन क्रिया है।

नये अधिकरणों को उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है।

स्त्री, पुरुष और पशुओं के जाने, आने, उठने और बैठने के स्थान में भीतरी मल का त्याग करना समन्तानुपात क्रिया है।

प्रमार्जन और अवलोकन नहीं की गयी भूमि पर शरीर आदि का रखना अनाभोग क्रिया है।

जो क्रिया दूसरों द्वारा करने की हो उसे स्वयं कर लेना स्वहस्त क्रिया है।

पापादान आदि रूप प्रवृत्ति विशेष के लिए सम्पत्ति देना निसर्ग क्रिया है।

दूसरे ने जो सावद्य कार्य किया हो उसे प्रकाशित करना विदारण क्रिया है।

चारित्र मोहनीय के उदय से आवश्यक आदि विषय में शास्त्रोक्त आज्ञा को न पाल सकने के कारण अन्यथा निरूपण करना आज्ञा व्यापादिकी क्रिया है।

धूर्तता और आलस्य के कारण शास्त्र में उपदेशी गयी विधि करने का अनादर करना अनाकांक्ष क्रिया है।

छेदना, भेदना और रचना आदि क्रिया में स्वयं तत्पर रहना और दूसरे के कहने पर हर्षित होना प्रारम्भ क्रिया है।

परिग्रह का नाश हो इसलिए जो क्रिया की जाती है, वह परिग्रहिकी क्रिया है।

ज्ञान, दर्शन आदि के विषय में छल करना माया क्रिया है।

मिथ्यादर्शन के साधनों से युक्त पुरुष की प्रशंसा आदि के द्वारा दृढ़ करना कि 'तू ठीक करता है मिथ्यादर्शन क्रिया है।

संयम का घात करने वाले कर्म के उदय से त्याग रूप परिणामों का न होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

इस प्रकार पांच का वर्ग (पच्चीस) सम्यग्दर्शनादि क्रिया है।

णिच्चणिमित्ताकिरिया वंदणसम्मादिया मुणिदाणं ।
लोगिगलोगुत्तरभवकिरिया णेया सहावेण ॥११३॥

नित्यनिमित्तक्रिया वंदनासाम्यादिका मुनीन्द्राणां।
लौकिकलोकोत्तरभवक्रिया ज्ञेयाः स्वभावेन ॥

पयाणि ९००००००० ।

इदि किरियाविसालं—इति क्रियाविशालं ।

क्रिया विशाल पूर्व में मुनिराजों के वन्दना, सामायिक, नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं का और लौकिक लोकोत्तर में होने वाली क्रियाओं का स्वभाव से वर्णन जानना चाहिये।

दैवसिक, रात्रिक, प्रतिक्रमण, त्रिकाल देव वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिदिन के अट्ठाईस कायोत्सर्ग आदि नित्य क्रिया कहलाती हैं क्योंकि यह क्रियायें नित्य की जाती हैं। यह साधु-साध्वियों की प्रतिदिन की क्रिया है। इनके स्वरूप का विशेष कथन वन्दना, स्तवन, सामायिक, कृति और प्रतिक्रमण नामक प्रकीर्णक में किया जायेगा ॥ ११३ ॥

विशेषार्थ

किसी निमित्त को लेकर जो क्रिया की जाती है वह नैमित्तिक क्रिया कहलाती है। जैसे श्रुत पंचमी के दिन श्रुत स्कन्ध प्रतिष्ठापन क्रिया में सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, अनन्तर श्रुतावतारोपदेश, तदनन्तर स्वाध्याय प्रतिष्ठापन क्रिया में श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति करके स्वाध्याय करना, तदनन्तर स्वाध्याय निष्ठापन क्रिया में श्रुतभक्ति, शान्तिभक्ति और अन्त में समाधिभक्ति करना चाहिये।

पाक्षिक क्रिया में सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, आलोचना, प्रतिक्रमण, दण्डक, वीरभक्ति, चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति, आचार्य भक्ति आदि का पाठ किया जाता है। इस प्रकार मुनिजनों की नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं का विस्तारपूर्वक कथन किया जाता है।

वीर निर्वाण क्रिया में—अथ वीर निर्वाण-क्रियायां-पूर्वाचार्यानुक्रमेण ....

श्री पंच महागुरु भक्ति............

विधिवत सामायिक दण्डक आदि बोलकर पञ्च महागुरुभक्ति पढ़नी चाहिए।

विधिवत सामायिक दण्डक आदि बोलकर बृहद् समाधिभक्ति पढ़नी चाहिए।

अथ लोचप्रतिष्ठापनक्रियायांपूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं, भाव-पूजा-वंदना-स्तव-समेतं श्री लघु सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहम्।

नौ बार णमोकार मंत्र का जाप करके सिद्धभक्ति पढ़ना चाहिए।

अथ लोचप्रतिष्ठापनक्रियायांपूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं, भाव-पूजा-वंदना-स्तव-समेतं श्री लघु योगिभक्ति कायोत्सर्गं यह ऐसा कहकर–

नौ बार णमोकार मंत्र का जाप करके योगिभक्ति पढ़ना चाहिए तथा लघुसिद्ध और लघुयोगिभक्ति पढ़कर लघु सिद्धभक्ति पढ़ना चाहिए।

इस प्रकार क्रियाविशाल में नित्य-नैमित्त क्रियाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन है।

मुनिजनों की लौकिक (आहार, विहार, निहार आदि) क्रिया और षट् आवश्यक आदि अलौकिक क्रियाओं का कथन किया जाता है।

इस प्रकार नृत्यादि क्रियाओं से विशाल विस्तीर्ण ग्रन्थ को क्रियाविशाल कहते हैं।

इसमें स्वभाव से संगीत, शास्त्र, छन्द, अलंकार आदि पुरुषों की बहत्तर कलाओं का, स्त्री सम्बन्धी चौंसठ गुणों का, शिल्पी आदि चौरासी विज्ञानों का, गर्भाधानादि एक सौ आठ क्रियाओं का, सम्यक्त्ववर्धिनि पच्चीस क्रियाओं का, साधुओं के द्वारा प्रतिदिन करने योग्य त्रिकाल वन्दना, वन्दना की विधि, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान आदि क्रियाओं का और वर्षायोग, नन्दीश्वरकाल, पाक्षिक, चातुर्मासिक, उत्तमार्थ प्रतिक्रमण, चतुर्दशी, अष्टमी के दिनों की करने योग्य क्रियाओं का, लौकिक, लोकोत्तर आचार-विचार आदि का कथन किया जाता है। क्रियाविशाल पूर्व दशवस्तुगत दो सौ प्राभृत और नौ करोड़ पद हैं।

॥ इस प्रकार क्रियाविशालपूर्व समाप्त हुआ ॥

त्रिलोकबिन्दुसार का कथन

तिल्लोयबिंदसारं कोडीबारह-दसग्घपणलक्खं ।
जत्थ पयाणि तिलोयं छत्तीसं गुणिदपरियम्मं ॥ ११४ ॥

त्रिलोकबिन्दुसारं कोट्यो द्वादश दशघ्नपंचलक्षाणि ।
यत्र पदानि त्रिलोकं षड्त्रिंशत् गणितपरिकर्मं ॥

अडववहारात्थि पुणो अंकविपासादि चारि बीजाइं ।
मोक्खसरूवग्गमणकारणसुहधम्मकिरियाओ ॥ ११५ ॥

अष्टव्यवहारान् पुनः अंकविपासादीनि चत्वारि बीजानि ।
मोक्षस्वरूपगमनकारणसुखधर्मक्रियाः ॥

लोयस्स विंदवयवा वण्णिज्जंते च एत्थ सारं च ।
तं लोयविंदुसारं चोद्दसपुव्वं णमंसामि ॥ ११६ ॥
लोकस्य विन्दवोऽवयवा वर्ण्यंते यत्र सारं च ।
तल्लोकविन्दुसारं चतुर्दशपूर्वं नमामि ॥

पयाणि १२५०००००००

तिलोयविंदुसारं गदं—त्रिलोकविन्दुसारं गतं ।

जिसमें बारह करोड़, पचास लाख पद हैं तथा तीन लोक छत्तीस गुणीत परिकर्म, आठ प्रकार का व्यवहार, अंक विपासादी चार, बीज मोक्ष का स्वरूप का, मोक्षगमन में कारणभूत शुभ धार्मिक क्रियायें, लोक के अवयव और लोक के सार का वर्णन किया जाता है वह चौदहवाँ लोकबिन्दु-सार नामक पूर्व है उसको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ११४-११५-११६ ॥

विशेषार्थ

अंक (संख्या) तौल (माप) क्षेत्र और काल ये अंक (संख्यादि) चार लोक (गणित) के बीज हैं ।

एक, दश, सौ, हजार, दश हजार, लाख, दश लाख, करोड़, दश करोड़, नहुत, निन्नहुत, अखोमिनी बिन्दु, अब्बुद, निरब्बुद, अहह, अमभ, अटट, सोगन्धिक, उप्पल, कुमुद, पुण्डरीक, पदम, कथात, महाकथात, असंख्येय, पण्णट्टी (पैंसठ हजार पाँच सौ छत्तीस) बादाल (पण्णट्टीका वर्ग) एकट्ठी (बादाल का वर्ग) संख्यात, असंख्यात, अनन्त । जघन्य संख्यात, जघन्यपरीता संख्यात, उत्कृष्ट संख्यात ये संख्यात के तीन भेद हैं । इस प्रकार असंख्यात के और उत्कृष्ट के भी तीन भेद हैं । इस प्रकार संख्या गणित के अनेक भेद हैं । यह संख्या गणित (अंक गणित) है ।

तौल की अपेक्षा गणित का द्रव्य प्रमाण—

सर्षपफल, धान्यभाषफल, गुंजाफल, महा अधिक लणफल का एक श्वेत सर्ष फल, सोलह सर्षप का एक धान्यभाषफल, दो धान्य भाष का एक गूँजा फल । दो गूँजाफल का एक रुप्यमासफल, तेरह रुप्य मास का एक धरण । ढाई धरण का एक सुवर्ण या कंस । चार सुवर्ण का एक पल, सौ पल का एक तुला या अर्ध कंस होता है । तीन तुला का एक कुडुब या चार कुडुब का एक प्रस्थ (सेर) होता है । चार प्रस्थ की एक आठक होता है । चार आठक का एक द्रोण, सोलह द्रोण की एक खारी और बीस खारी का एक वाह होता है इस प्रकार मान द्रव्य गणित अनेक प्रकार का है ।

क्षेत्र के प्रमाणों का निर्देश—द्रव्य का अविभागी (जिसका दूसरा टुकड़ा नहीं होता) अंश परमाणु कहलाता है।

अनन्तानन्त परमाणु का अवसन्नासन्न।

आठ अवसन्नासन्न का एक सन्नासन।

आठ सन्नासन का एक त्रुटरेणु (व्यवहाराणु)

आठ त्रुटरेणु का एक त्रसरेणु (त्रस जीव के पाँव से उड़नेवाला अणु)

आठ त्रस रेणु का एक रथरेणु (रथ से उड़ने वाली धूल का अणु)

आठ रथरेणु का एक उत्तम भोगभूमिस्थ जीवों का बालाग्र।

आठ उत्तम भोगभमि जीवों के बालाणमाण एक मध्यम भूमिज मनुष्यों को बालाग्र।

आठ जघन्य भोगभूमियों जीवों के बालाग्र का एक कर्मभूमियों का बालाग्र।

आठ कर्मभूमियों के बालाग्र का एक लिक्षा (लीख) होती है।

आठ लीख की एक जूँ होती है।

आठ जूँ की एक यव होती है।

आठ जौ का एक उत्सेधा अंगुल है। पाँच सौ उत्सेधागुंल का एक प्रमाणांगुल होता है। अथवा भरत, ऐरावत के क्षेत्र के चक्रवर्ती का अंगुल प्रमाणांगुल कहलाता है। जिस क्षेत्र वा काल में मनुष्यों का जैसा अंगुल होता है वह आत्मा अंगुल कहलाता है।

छह अंगुल का एक पाद होता है, दो पाद का एक वितास्तिक और दो विसास्तिका एक हाथ होता है। दो हाथ का एक किष्कु। दो किष्कु का एक दण्ड होता है। दण्ड, धनुष, युग, मूसल, नाडी, नाली ये एकार्थ-वाची हैं।

दो हजार धनुप का एक कोश है। चार कोश का एक योजन है। उत्सेधांगुल से, उत्सेधायोजन और प्रमाणांगुल से प्रमाणायोजन का निर्माण होता है। अतः पाँच सौ मानव योजन का एक प्रमाणा (महा) योजन होता है। इसी प्रकार सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगत श्रेणी, जगत्प्रतर, घनलोक, रजू आदि का प्रमाण क्षेत्र गणित है।

काल गणित का निर्देश :—एक शुद्ध परमाणु मन्दगति से एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाता है उसमें जो काल लगता है वह समय कहलाता है। असंख्यात समय की एक आवली होती है। असंख्यात आवली का एक उच्छ्वास होता है या $\frac{२८८०}{३७७३}$ सैकण्ड होता है। सात उच्छ्वास का एक

स्तोक अथवा ५ $\frac{१८५}{५३९}$ सैकण्ड। सात स्तोक का एक लव होता है अर्थात् ३७ $\frac{११}{७७}$ सैकण्ड होता है। अड़तीस लव की चौबीस मिनट या नाली (घड़ी) होती है। दो नाली (घटिका) की अड़तालीस मिनट अर्थात् एक मुहूर्त है। एक हजार पाँच सौ निमेष या तीन हजार तीन सौ तेहत्तर श्वासोच्छ्वास का एक मुहूर्त है। एक समय कम मुहूर्त को भिन्न मुहूर्त वा अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। तीस मुहूर्त या चौबीस घंटे का अहोरात्रि होती है। पन्द्रह अहोरात्रि का एक पक्ष होता है। दो पक्ष का एक महीना होता है। दो महीनों की एक ऋतु होती है। तीन ऋतु का एक अयन और दो अयन का एक संवत्सर होता है। पाँच वर्ष का युग, दो युग का वर्ष दशक तथा वर्ष सहस्र, दश सहस्र एक लाख, वर्ष चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग, चौरासी लाख पूर्वांग का एक पर्व, चौरासी लाख पूर्व का एक नियुतांग, चौरासी लाख नियुतांग का एक नियुत, चौरासी लाख नियुत का एक कुमुदांग, चौरासी लाख कुमुदांग का एक कुमुद, चौरासी लाख कुमुद का एक पद्मांग, चौरासी लाख पद्मांग का एक पद्म, चौरासी लाख पद्म का एक नलिनांग होता है। इसी प्रकार नलिन, कमलांग, कमल, त्रुटितांग, त्रुटित, अटटांग, अटट, अममांग, अमम, हाहांग, हां हां, हू हू, अंग हू हू, लतांग लता, महा लतांग, महालता, श्रीकल्प, हस्त प्रहेलित और अचलात्म इसके आगे पल्य, सागर आदि प्रमाण होता है। ये गणित के चार बीज हैं अर्थात् इन चार के आधार पर गणित का प्रारम्भ होता है।

अथवा लौकिक गणित की चार मूलभूत क्रियायें हैं—जोड़ना, घटाना, गुणा और भाग। यही चार बीज कहलाते हैं।

गणित विषयक प्रक्रियाएँ तथा परिकर्माष्ट गणित का निर्देश इस प्रकार किया है।

अंकानां वामतो गतिः—अंकाश अनुक्रम (गणना) बाईं तरफ से होती है जैसे २११२ इनका लिखना, बोलना तो सीधे तरफ से होता है परन्तु अक्षरों में व्यक्त करने से उपरोक्त प्रकार पहले ईकाई फिर दहाई रूप से इससे उलटा क्रम ग्रहण किया जाता है।

गणित के परिक्रम आठ प्रकार के हैं—संकलन, व्यकलन, गुणाकार, भागाहार, वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल।

किसी प्रमाण (राशि) को किसी राशि में जोड़ने को संकलन कहते हैं।

जिस राशि में जोड़ा जाता है उसे मूल राशि कहते हैं। और जोड़ने योग्य राशि का नाम धन है जैसे दश में पाँच जोड़ने से पन्द्रह होते हैं।

किसी राशि में से किसी राशि को घटाना व्यकलन है जिस राशि में से घटाया जाता है उसे मूल राशि कहते हैं और घटाने योग्य राशि को ऋण कहते हैं। जैसे बीस में से पाँच घटाने पर पन्द्रह रहते हैं। इसमें मूल राशि बीस है और ऋण राशि पाँच है।

किसी प्रमाण को (राशि को) किसी प्रमाण से गुणा करना गुणाकार कहलाता है। जिस राशि को गुणित किया जाता है वह राशि गुण्य कहलाती है और जिस राशि के द्वारा किया जाता है वह गुणाकार का गुणक कहलाती है। ६×५=३०। इसमें छह राशि गुण्य और पाँच गुणक है।

किसी राशि का किसी राशि के द्वारा भाजित वा टुकड़े किये जाते हैं वह भागाहार कहलाता है। जिस राशि में भाग दिया जाता है वा जिस राशि के टुकड़े (अंश) किये जाते हैं वह राशि भाज्य या हार्य कहलाती है और जिस राशि के द्वारा भाग दिया जाता है वह राशि भागहार हार वा भाजक कहलाती है।

किसी राशि को दो स्थान पर रखकर परस्पर गुणा किया जाता है और उससे जो राशि उत्पन्न होती है उसे वर्ग कहते हैं। जिस राशि का गुणा किया जाता है वह वर्गमूल कहलाता है। जैसे—१६×१६=२५६ होता है। दो सौ छप्पन सोलह का वर्ग है। सोलह वर्ग मूल है। इस वर्ग की भी द्वितीय वर्ग धारा, तृतीय वर्ग धारा अनेक प्रक्रिया चलती हैं जैसे दो का वर्ग चार, यह प्रथम वर्ग धारा है, चार का वर्ग सोलह ये द्वितीय वर्ग धारा है, सोलह का वर्ग दो सौ छप्पन, यह तृतीय वर्ग धारा है। इस प्रकार आगे करते जाना चाहिए।

किसी राशि को तीन स्थान पर स्थापित करके परस्पर गुणा किया जाता है उससे जो राशि उत्पन्न होती है, वह घन कहलाती है जैसे तीन अंक का घन सत्ताईस होता है। जिस राशि से गुणा किया है वह राशि घनमूल कहलाती है जैसे सत्ताईस का घनमूल तीन है। इसके भी द्विघन धारा, तीन घन धारा आदि अनेक भेद हैं।

धवला की तीसरी पुस्तक में एक वर्गित संवर्गित संख्या का भी कथन है वर्ग को वर्ग से गुणा करना। जैसे—दो का वर्ग चार, चार का सोलह

और सोलह का वर्ग दो सौ छप्पन। यह दो सौ छप्पन दो संख्या का वर्गित सर्वगिति है दो सौ छप्पन।

अंश और हाट का संकलन, व्यकलन आठ प्रकार होते हैं उसे भिन्न परिकर्माष्ट कहते हैं। भिन्न परिकर्माष्ट में जैसे छह का पाँचवा भाग छह का अंश वा लव कहलाता है, और पाँच हाट, हट वा छेद कहलाता है। इनमें भिन्न, संकलन, व्यकलन के अर्थ भाग जाति, प्रभाग जाति, भागानुबन्ध ओर भागापवाह ये चार जातियाँ होती हैं। इसी प्रक्रिया में समच्छेद आदि किये जाते हैं। इसमें सर्व राशियों के हाटों को समान करना समच्छेद कहलाता है, संकलन करना परस्पर अंशों को जोड़ना संकलन कहलाता है। मूल राशि के अंशों में से ऋण राशि के अंश घटा देना व्यकलन कहलाता है। इनका विशेष वर्णन गणित शास्त्र से जानना चाहिए।

शून्य परिकर्माष्टिक की क्रिया भी इसी प्रकार है। शून्य का अर्थ बिन्दी है, इसमें भी संकलन आदि आठ बातें होती हैं। जैसे—

संकलन = अंक = अंक
व्यकलन = अंक–०=अंक
गुणाकार = अंक × ० = अंक
भागाकार = अंक ÷ ० = ०
वर्ग ०^2 = ०
वर्गमूल = ० = ०
घन = ०^3 = ०
घनमूल = ० = ०

...................................यह शून्य परिकर्माष्टक क्रिया है। विशेष गोम्मटसार जीवकाण्ड से जानना चाहिए।

अर्द्धच्छेद या लघुरिक्थ गणित भी है।

किसी भी राशि को आधे-आधे करने पर एक रह जाय वह अर्द्धच्छेद कहलाता है। जैसे बीस के अर्द्धच्छेद दश-पाँच आदि।

अपनी वर्गशलाका प्रमाण दो का अंक लिखकर परस्पर गुणा करने पर अर्द्धच्छेद का प्रमाण निकल जाता है।

राशि के जितने अर्द्धच्छेद होते हैं उन अर्द्धच्छेद के जितने अर्द्धच्छेद हैं उतनी उनकी राशि की वर्गशलाका जाननी चाहिए।

किसी एक संख्या को जितनी बार तीन से विभाजित किया जाता है, उतने उस संख्या के त्रिच्छेदक होते हैं।

किसी एक संख्या का चार से जितनी बार विभाजित किया जाता है उसे उस संख्या के चतुर्थच्छेद होते हैं।

इस प्रकार लघुरिक्थ का आधारहीन या अधिक कितना भी रखा जा सकता है। जैनागम में दो राशि के आधार वाले लघुरिक्थ का ही विशेष प्रयोग किया जाता है क्योंकि त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों में अर्द्धच्छेद का वर्गशलाका का ही विशेष निर्देश मिलता है। इसका विशेष वर्णन उन्हीं ग्रन्थों में जानना चाहिए।

इस प्रकार जैनागम में त्रैराशिक गणित श्रेणी, व्यवहार गणित संकलन, व्यवहार श्रेणी, गुणहानिरूपश्रेणी, गुणन व्यवहारश्रेणी का प्रयोग पाया जाता है। इन सबका लक्षण आदि विस्तार भय से नहीं लिखा जाता है।

इस गणित के आधार पर क्षेत्रफल = लम्बाई × चौड़ाई। परिधि = लम्बाई + चौड़ाई।

घनफल = लम्बाई × चौड़ाई × ऊँचाई।

वृत्त सम्बन्धी, बादर परिधि, सूक्ष्म परिधि, बादर-सूक्ष्म क्षेत्रफल, वृत्तविष्कंभ, विष्कंभ का व्यास आदि क्षेत्र गणित के द्वारा निकाला जाता है।

इस प्रकार अनेक प्रकार के गणित का वर्णन त्रिलोकबिन्दुसार पूर्व में कहा गया है।

इस ग्रन्थ की गाथा में आठ प्रकार का व्यवहार, छत्तीस प्रकार के गणित परिकर्म का खुलासा नहीं हो रहा है।

सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो जाने पर जो लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं, जो सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से युक्त होते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये मोक्ष प्राप्ति के कारण हैं।

श्रावक के व्रतों का तथा मुनिधर्म का पालन आदि शुभ भाव रूप धर्मक्रिया है।

इन सबका कथन त्रिलोकबिन्दुसार में पाया जाता है। लोक के अवयव को बिन्दु कहते हैं अतः लोक के अवयव लोकबिन्दु कहलाते हैं। जिस ग्रन्थ में लोकबिन्दु के सार का कथन किया गया है वह लोकबिन्दुसार है।

लोक-धातु प्रकाश तथा दर्शन अर्थ में आता है अतः देखा जाता है वह लोक है अर्थात् जिसमें जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल

ये छह द्रव्य पाये जाते हैं, देखे जाते हैं जो छहों द्रव्य से व्याप्त है वह लोक कहलाता है।

अनन्त अलोकाकाश के मध्य में असंख्यात प्रदेशी पुरुषाकार लोकाकाश है।

इस लोक के तीन अवयव हैं, ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक।

ऊर्ध्वलोक मृदंग के तुल्य है, मध्यलोक (तिर्यग्लोक) झालर के समान है और अधोलोक वेत्रासन है।

नीचे आधा मृदंग रखकर उस पर पूरा मृदंग रखने पर जो आकार बनता है वैसा ही लोक का आकार है। अथवा कमर पर हाथ रखकर तथा पैर फैलाकर अचल-स्थिर खड़े हुए मनुष्य का जैसा आकार होता है वैसा ही लोक का आकार है।

अधोलोक नीचे सात रज्जु प्रमाण है, फिर क्रम-क्रम से प्रदेशों में हानि होते-होते लोक के अन्त में एक रज्जु प्रमाण रह जाता है। इसके ऊपर प्रदेश वृद्धि होते-होते ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के समीप पाँच रज्जु प्रमाण होता है। उसके आगे प्रदेश हानि होते-होते लोक के अन्त में एक रज्जु प्रमाण विस्तृत रह जाता है।

यह लोक चौदह रज्जु प्रमाण ऊँचा है। इस लोक के नीचे एक रज्जु प्रमाण स्थान में निगोद जीव रहते हैं, ऊर्ध्वलोक में कल्प विमान देवों का स्थान है, अग्रभाग में सिद्ध जीव स्थित हैं।

तीन सौ तैंतालीस रज्जु प्रमाण लोक में सर्वत्र एकेन्द्रिय जीव भरे हुए हैं।

इस लोक में अनेक प्रकार के पर्वत, नदी, तालाब, क्षेत्र नारकियों के स्थान, देवों के स्थान, अकृत्रिम जिनमन्दिर आदि अनेक शुभ स्थान हैं। इनका विशेष विस्तार त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों से जानना चाहिये।

इसी लोक में से संसारी जीव मनुष्य भव को प्राप्त कर रत्नत्रय को धारण कर कर्म कालिमा का विनाश कर मुक्ति पद प्राप्त करते हैं।

हिंसादि पाँच पाप, मिथ्यात्व और कषाय के वशीभूत होकर अनादिकाल से कर्मबन्ध के कारण संसार में भटक रहे हैं और जन्म, मरण, जरा, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि अनेक दुःखों से आकुल व्याकुल रहते हैं।

इस प्रकार अनादि निधन इस लोक के अवयवों के सार का कथन किया जाता है वह लोकबिन्दुसार पूर्व है।

अथवा लोक का अर्थ जन समुदाय मज्जा, जल आदि अनेक अर्थ होते हैं। उनमें होने वाली सारभूत वस्तु का कथन इसमें पाया जाता है। इसमें दश वस्तु सम्बन्धी दोसौ-प्राभृत और एक करोड़ पाँच लाख पद हैं।

इन चौदह पूर्वों को शुभचन्द्र आचार्य नमस्कार करने के लिए कहते हैं। मैं नमस्कार करता हूँ।

॥ लोकबिन्दुसार नामक पूर्व समाप्त हुआ ॥

इदि णाणभूसणपट्टे सूरिं सिरिविजयकित्तिणामगुरुं।
णमिऊण सूरिमुक्खो कहइ इणं सुद्धसुहचंदो ॥११७॥

इति ज्ञानभूषणपट्टे सूरिं श्रीविजयकीर्तिनामगुरुं।
नत्वा सूरिमुख्यः कथयति इमां शुद्धशुभचन्द्रः ॥

आचार्य श्री सुविधिसागर

इदि अंगपण्णत्तीए सिद्धंतसमुच्चये बारहअंगसमरणावराभिहाणे विदियो अहियारो ॥ २ ॥

इस प्रकार ज्ञानभूषण के पट्ट पर स्थित आचार्यश्री विजयकीर्ति नामक गुरु को नमस्कार करके आचार्यों में प्रधान शुद्ध शुभचन्द्र आचार्य इस अंगपण्णत्ति नामक ग्रन्थ को कहते हैं। अर्थात् इस ग्रन्थ की रचना विजयकीर्ति आचार्य के शिष्य शुभचन्द्र आचार्य ने की है ॥ ११७ ॥

इस प्रकार अंगपण्णत्ति नामक सिद्धान्त समुच्चय में बारह अंग सम-रणवरभिधान में दूसरा (पूर्व नामक) अधिकार समाप्त हुआ।

●

चूलिकाप्रकीर्णकप्रज्ञप्तिः

पाँच प्रकार की चूलिकाओं का कथन

तच्चूलियासुभेया पंच वि तह जलगया हवे पढमा ।
जलथंभण जलगमणं वण्णदि विण्हिस्स भवखं जं ॥ १ ॥

तच्चूलिकासु भेदाः पंचापि तथा जलगता भवेत्प्रथमा ।
जलस्थंभनं जलगमनं वर्णयति वह्नेः भक्षणं यत् ॥

वेसणसेवणमंतंतंतवचरणपमुहविहिभेए ।
णहणहदुगणवअडणवणहदुण्णि पयाणि अंककमे ॥ २ ॥

प्रवेशनसेवनमंत्रतंत्रतपश्चरणप्रमुखविधिभेदान् ।
नभोनभोद्विकनवाष्टनवनभोद्विकानि पदानि अंकक्रमेण ॥

पयाणि २०९८९२०० ।

जलगदचूलिका—जलगतचूलिका ।

मेरुकुलसेलभूमीपमुहेसु पवेससिग्घगमणादि ।
कारणमंतंतंतवचरणणिरूवया रम्मा ॥ ३ ॥

मेरुकुलशैलभूमिप्रमुखेषु प्रवेशशीघ्रगमनादि ।
कारणमंत्रतंत्रतपश्चरणनिरूपिका रम्या ॥

दृष्टिवाद का पाँचवा भेद है चूलिका, जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता के भेद से चूलिका पाँच प्रकार की है।

जिसमें जलस्थंभन, जलगमन, अग्नि स्तंभन, अग्नि भक्षण, अग्नि आसन (अग्नि पर बैठना) अग्नि प्रवेश करना आदि के कारण भूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का वर्णन है वह जलगता चूलिका है। उसके शून्य शून्य दो नौ आठ नौ शून्य और दो अंक क्रम में पद हैं अर्थात् जलगता चूलिका के दो करोड़, नौ लाख, नवासी हजार, दो सौ पद हैं ॥ १-२ ॥

॥ इस प्रकार जलगत चूलिका समाप्त हुई ॥

मेरू कुलाचल भूमि आदि को प्रवेश, शीघ्रगमनादि का जो वर्णन करता है वह स्थलगता है वास्तु वा भूमि सम्बन्धी दूसरे शुभ-अशुभ कारणों का वर्णन करता है। स्थलगता चूलिका के दो करोड़, नौ लाख, नवासी हजार, दो सौ पद हैं।

जिस चूलिका में भूमि में प्रवेश करने का वा शीघ्रगमन करने का, भूमि में जल के समान डुबकी लगाना आदि के कारण भूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का मनोज्ञ निरूपण है वह स्थलगता चूलिका है ॥ ३ ॥

तित्तियपयमेत्ता हु थलगयसण्णामचूलिया भणिया।
मायागया च तेत्तियपयमेत्ता चूलिया णेया ॥ ४ ॥

तावत्पदमात्रा हि स्थलगतसन्नामचूलिका भणिता।
मायागता च तावत्पदमात्रा चूलिका ज्ञेया ॥

मायारूवमहेंदजालविकिरियादिकारणगणस्स ।
मंततवतंतयस्स य णिरूवग्ग कोदुयाकलिदा ॥ ५ ॥

मायारूपेन्द्रजालविक्रियादिकारणगणानां ।
मंत्रतपस्तंत्राणां च निरुपिका कौतुका कलिता ॥

रूवगया पुण हरिकरितुरंगरुरुणरतरुमियवसहाणं ।
ससवग्घादीणं पि य रूवपरावत्तहेदुस्स ॥ ६ ॥

रूपगता पुनः हरिकरितुरंगरुरुनरतरुभृगवृषभाणां।
शशव्याघ्रादीनामपि च रूपपरावर्तनहेतूनां ॥

तवचरणमतंततंयंतस्स परूवगा य वययसिला।
चित्तकट्ठलेव्वुवक्खणणादिसु लक्खणं कहदि ॥ ७ ॥

तपश्चरणमंत्रतंत्रयंत्राणां प्ररूपका च वयय शिला।
चित्रकाष्ठलेप्योत्खननादिसुलक्षणं कथते ॥

पारदपरियट्टणयं रसवायं धादुवायक्खणं च।
या चूलिया कहेदि णाणाजीवाण सुहहेदू ॥ ८ ॥

पारदपरिवर्तनं रसवादं धातुवादाख्यानं च।
या चूलिका कथते नानाजीवानां सुखहेतोः ॥

आयासगया पुण गयणे गमणस्स सुमंततंतयंताइं ।
हेदूणि कहदि तवमपि तेत्तियपयमेत्तसंबद्धा ॥ ९ ॥

आकाशगता पुनः गमने गमनस्य सुमंत्रतंत्रयंत्राणि ।
हेतूनि कथयति तपोऽपि तावत्पदमात्रसम्बद्धा ॥

इति पंचपयारचूलिया सरिसया गदा—इति पंचप्रकार चूलिका सदृशा गता।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी

जो मायारूप इन्द्रजाल, विक्रिया कारण मंत्र, तंत्र, तपश्चरणादिक के कौतुहल का कथन करता है, वह मायागतचूलिका है। इस चूलिका के भी दो करोड़, नौ लाख, नवासी हजार, दो सौ पद हैं ॥ ४ ॥

सिंह, हाथी, घोड़ा, हिरण, मानव, वृक्ष, स्याल, खरगोश, बैल, व्याघ्र आदि रूप परावर्तन के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का वर्णन करता है, तथा मानव भव के सुख के कारण भूतक्रिया तथा चित्र, काष्ठ, लेप्य, उत्खनन आदि लक्षण धातुवाद, रसवाद आदि का वर्णन करता है, उसे रूपगता चूलिका कहते हैं। इसके भी दो करोड़, नौ लाख, नवासी हजार, दो सौ पद हैं।

आकाश में गमन आदि के कारण भूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का जो वर्णन करता है वह आकाशगता चूलिका है। इसके भी दो करोड़, नौ लाख, नवासी हजार, दो सौ पद हैं ॥ ५-६-७-८-९ ॥

इन पाँचों चूलिकाओं के पदों का जोड़ दश करोड़, उनचास लाख, छ्यालीस हजार प्रमाण है।

॥ इस प्रकार पाँच प्रकार की चूलिका का कथन समाप्त हुआ ॥

इन बारह अंग और चौदह पूर्वों का कथन अंग प्रविष्ट के अन्तर्गत है। अर्थात् ग्यारह अंग और दृष्टिवाद के पाँच भेदों-प्रभेदों का कथन अंग-प्रविष्ट कहलाता है। और चौदह प्रकीर्णक अंग बाह्य कहलाते हैं।

चौदह प्रकीर्ण वा अंग बाह्य के भेद एवं स्वरूप का कथन

चउदस पइण्णया खलु सामइपमुहा हि अंगबाहिरिया ।
ते वोच्छे अंछरियहेदू.........हि सुभव्वजीवस्स ॥१०॥

चतुर्दश प्रकीर्णकाः खलु सामायिकप्रमुखा हि अङ्गबाह्याः ।
तान वक्ष्ये अक्खरहेतु...............हि सुभव्यजीवस्य ॥

एयत्तणेण अप्पेगमणं परदव्वदो दु णिव्वत्ती ।
उवयोगस्स पइत्ती स समायोऽदो उच्चदे समये ॥११॥

एकत्वेन आत्मनि गमनं परद्रव्यतस्तु निवृत्तिः ।
उपयोगस्य प्रवृत्तिः स समाय आत्मोच्यते समये ॥

णादा चेदा दिट्ठाहमेव इदि अप्पगोचरं झाणं ।
अह सं मज्झत्थे गदि अप्पे आयो दु सो भणिओ ॥१२॥

ज्ञाता चेतयिता दृष्टाहमेव इत्यात्मगोचरं ध्यानं।
अथ सं मध्यस्थे गतिरात्मनि आयस्तु स भणितः॥

श्रुत अर्थ के ज्ञाता गणधर देव के शिष्य पर शिष्यों के द्वारा काल दोष से अल्प आयु वृद्धि वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गये संक्षिप्त ग्रन्थ अंग बाह्य हैं। कालिक और उत्कालिक के भेद से अंग बाह्य अनेक प्रकार के हैं। स्वाध्याय काल में पढ़ने योग्य हो उसको कालिक कहते हैं। जिनके पढ़ने का समय निश्चित नहीं है किसी भी समय में पढ़ सकते हैं उसको उत्कालिक कहते हैं।

सामायिक, चतुर्विंशति स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, निषेधिका (अशीतिकं) यह चौदह प्रकीर्णक अंग बाह्य कहलाते हैं। भव्य जीवों को ज्ञान कराने के लिए मैं उन चौदह प्रकीर्णकों का वर्णन करता हूँ॥ १०॥

'सम' उपसर्ग का अर्थ एक रूप है अतः एकत्व रूप से आत्मा में गमन (प्रवृत्ति) करना तथा परद्रव्य से निवृत्ति होना रूप उपयोग की प्रवृत्ति है उसको शास्त्र में समाय-आत्मा कहा गया है। 'सं' अर्थात् एकत्वपने से 'आय' अर्थात् आगमन। परद्रव्यों से निवृत्त होकर उपयोग की आत्मा में प्रवृत्ति होना। वह मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ इस प्रकार का आत्मगोचर ध्यान सामायिक है॥ ११॥

अथवा 'सम' का अर्थ है राग-द्वेष रहित मध्यस्थ आत्मा। उस आत्मा में आय अर्थात् उपयोग की प्रवृत्ति सो समाय है। यह समाय ही जिसका प्रयोजन है उसे सामायिक कहते हैं। अथवा रागद्वेष की निवृत्ति समय है उससे होने वाले परिणामों की विशुद्धि सामायिक है। सामायिक शब्द सम और अय के मेल से निष्पन्न है। सम का अर्थ है रागद्वेष रहित और "अय" का अर्थ है ज्ञान। अतः रागद्वेष रहित ज्ञान का होना सामायिक है॥ १२॥

सामायिक तथा उनके भेदों का कथन

तत्थ भवं सामइयं सत्थं अवि तप्परूवगं छविहं।
णाम ट्ठवणा दव्वं खेत्तं काल च भावं तं॥१३॥
तत्र भवं सामायिकं शास्त्रमपि तत्प्ररूपकं षड्विधं।
नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालश्च भावस्तत्॥

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा सामायिक के छह भेद कहे हैं ॥ १३ ॥

तत्थ इट्ठाणिट्ठणामेसु रायदोषणिव्वत्ति सामाइयमिदि अहिहाणं वा णाम सामाइयं ॥ १ ॥

तत्रेष्टानिष्टनामसु रागद्वेषनिवृत्तिः सामायिकमिति अभिधानं वा नाम सामायिकम् ॥ १ ॥

इष्ट-अनिष्ट नामों में रागद्वेष की निवृत्ति होना नाम सामायिक है। अथवा जाति द्रव्य, गुण, क्रिया की अपेक्षा के बिना किसी का नाम रखना नाम सामायिक है ॥ १ ॥

मणुण्णमणुण्णासु इत्थिपुरिसाइआयारठावणासु कट्ठलेवचित्तादि-पडिमासु रायदोसणियट्टी इणं सामाइयमिदि वा इज्जमाणयं किंचि वत्थू वा ठावणा सामाइयं ॥ २ ॥

मनोज्ञामनोज्ञासु स्त्रीपुरुषाद्याकारस्थापनासु काष्ठलेपचित्रादि प्रतिमासु रागद्वेषनिवृत्तिः इदं सामायिकमिति वा स्थाप्यमानं किंचिद्वस्तु वा स्थापना सामायिकं ॥ २ ॥

मनोज्ञ-अमनोज्ञ, स्त्री-पुरुष आदि की आकार स्थापना में वा काष्ठ, लेप, चित्रादि प्रतिमाओं में रागद्वेष नहीं करना स्थापना सामायिक है। अथवा सामायिक आवश्यक से संलग्न मानव उसके समान आकारवाली वस्तु में स्थापना करना स्थापना सामायिक है ॥ २ ॥

इट्ठाणिट्ठेसु चेदणाचेदणदव्वेसु रायदोसणियट्टी सामाइयसत्थाणु-वजुत्तणायगो तस्सरीरादि वा दव्वसामाइयं ॥३॥

इष्टानिष्टेषु चेतनाचेतनद्रव्येषु रागद्वेषनिवृत्तिः सामायिकशास्त्रानुप-युक्तज्ञायकः तच्छरीरादि वा द्रव्यसामायिकं ॥ ३ ॥

इष्ट-अनिष्ट चेतन एवं अचेतन द्रव्यों में राग-द्वेष नहीं करना द्रव्य सामायिक है। अथवा जो भविष्य में सामायिक रूप से परिणत होगा या हो चुका है उसे द्रव्य सामायिक कहते हैं। इसके दो भेद हैं ॥ ३ ॥

आगम द्रव्य सामायिक और नोआगम द्रव्य सामायिक।

जिस शास्त्र में सामायिक वर्णन है उस शास्त्र ज्ञाता जब उसमें उप-युक्त नहीं होता तब उसे आगम द्रव्य सामायिक कहते हैं।

नोआगम द्रव्य सामायिक के तीन भेद हैं, सामायिक का वर्णन करने वाले शास्त्र के ज्ञाता का शरीर, भावि और तद्व्यतिरेक। ज्ञाता का शरीर भूत, वर्तमान और भविष्य के भेद से तीन प्रकार का है। भूत शरीर के भी तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त। इन तीनों में से शास्त्र का ज्ञाता भूतकाल में किस प्रकार मरण करके शरीर छोड़ कर आया है। आयु के क्षय होने से शरीर छूटा (मरण हुआ) उसको च्युत कहते हैं। अकालमरण से शरीर छूटा है उसको च्यावित कहते हैं और समाधिमरण करके शरीर छोड़ा है उसको त्यक्त कहते हैं। समाधिमरण के भी तीन भेद हैं, इंगनी मरण—जिसमें दूसरो से सेवा नहीं कराई जाती। पादोपगमन मरण—(सब प्रकार के आहार का त्याग कर ध्यानस्थ होकर बैठना, न स्वयं शरीर की चेष्टा सेवा करना, न दूसरों से कराना) और भक्त-प्रत्याख्यान—(मरण के अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट १२ वर्ष तक समाधि की साधना करके अन्त समय में सब प्रकार के आहार का त्याग कर प्राणों का विसर्जन करना। जो जीव भविष्य में सामायिक विषय का ज्ञाता होगा वह भावि नोआगम द्रव्य सामायिक है। तद्व्यतिरेक नोआगम द्रव्य सामायिक के दो भेद हैं—कर्म, नोकर्म। सामायिक करते हुए जीव के द्वारा उपार्जित शुभकर्म प्रकृतियाँ नोआगम द्रव्यकर्म तद्व्यतिरेक है। सामायिक भावो में सहायक सचित (उपाध्याय) अचित (शास्त्रादि) मिश्र (शास्त्रग्रहण किये हुए उपाध्याय आदि) नोकर्म तद्व्यतिरेक है। यह सर्व द्रव्य सामायिक भेद है इनमें मुख्य है मनोज्ञ-अमनोज्ञ द्रव्यों में रागद्वेष नहीं करना।

णामगामणयरवणादिखेत्तसु इट्ठाणिट्ठेसु रायदोसणियट्टी खेत्त-सामाइयं ॥ ४ ॥

नामग्रामनगरवनादिक्षेत्रेषु इष्टानिष्टेषु रागद्वेषनिवृत्तिः क्षेत्र-सामायिकं ॥ ४ ॥

इष्ट, अनिष्ट, नाम, ग्राम, नगर, वन (उद्यान) आदि क्षेत्र में राग-द्वेष नहीं करना क्षेत्र सामायिक है ॥ ४ ॥

वसंताइसु उडुसु सुक्ककिण्हाणं पक्खाणं दिणवारणक्खत्ताइसुच तेसु कालविसेसेसु तं णियट्टी कालसामाइयं ॥ ५ ॥

वसंतादिषु ऋतुषु शुक्लकृष्णयोः पक्षयोः दिनवारनक्षत्रादिषु च तेषु कालविशेषेषु तन्निवृत्तिः कालसामायिकं ॥ ५ ॥

वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओं में शुक्ल, कृष्ण पक्ष में, दिन, वार

(रविवार आदि) नक्षत्र (अश्विनी आदि) आदि काल विशेष में राग-द्वेष नहीं करना काल सामायिक है। अथवा काल में जितने काल तक सामायिक की जाती है वह काल सामायिक है ॥ ५ ॥

णामभावस्स जीयादितच्चविसयुवयोगरूवस्स पज्जायस्स मिच्छादंसणकसायादिसंकिलेसणियट्टी सामाइयसत्थुपयुत्तणामगो तप्पज्जायपरिणदं सामाइयं वा भावसामाइयं ॥ ६ ॥

नामभावस्य जीवादितत्त्वविषयोपयोगरूपस्य पर्यायस्य मिथ्यादर्शनकषायादिसंक्लेशनिवृत्तिः सामायिकशास्त्रोपयुक्तज्ञायकः तत्पर्यायपरिणतं सामायिकं वा भावसामायिकं ॥ ६ ॥

सामाइयं गदं—सामायिकं गतं

'वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव कहते हैं। उसकी सामायिक भाव सामायिक है। उसके दो भेद हैं—आगमभाव सामायिक और नो-आगमभाव सामायिक।

नाम भाव जीवादि तत्व विषय (सामायिक विषयक शास्त्र) में उपयोग रूप जो पर्याय है सामायिक विषयक शास्त्र का ज्ञाता उसमें उपयुक्त है उसको आगमभाव सामायिक कहते हैं। नोआगमभाव सामायिक के दो भेद हैं—उपयुक्त और तत्परिणाम।

जीवादि तत्व विषय रूप उपयोग का सामायिक विषयक शास्त्र बिना सामायिक के अर्थ में उपयुक्त जीव को उपयुक्त नोआगमभाव सामायिक कहते हैं तथा सामायिक के ताप का मिथ्यादर्शन कषाय आदि संक्लेश भावों से निवृत्त होना रूप पर्याय से परिणत आत्मा नोआगमभाव सामायिक है अथवा सर्व जीवों में मैत्री और अशुभ परिणाम का त्याग, भाव सामायिक है ॥ ६ ॥

इस प्रकार सामायिक का कथन जिसमें विशेष रूप से पाया जाता है उसको सामायिक प्रकीर्णक कहते हैं।

॥ इति सामायिक प्रकीर्णक समाप्त ॥

स्तवन प्रकीर्णक का कथन

चउविसजिणाणं णामठवणदव्वखेत्तकालभावेहिं।
कल्लाणचउत्तीसादिसयाडपाडिहेराणं ॥ १४ ॥

चतुर्विंशतिजिनानां नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावैः।
कल्याणचतुस्त्रिंशदतिशयाष्टप्रातिहार्याणां ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

परमोरालियदेहसम्मोसरणाण धम्मदेसस्स ।
वण्णणमिह तं थवणं तप्पडिबद्धं च सत्थं च ।। १५ ।।

परमौदारिकदेहसमवशरणानां धर्मदेशस्य ।
वर्णनमिह तत्स्तवनं तत्प्रतिबद्धं च शास्त्रं च ।।

थवं गदं—स्तवं गतं ।

जिसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के द्वारा चतुर्विंशति तीर्थंकरों के पंच कल्याण, चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य, परम औदारिक शरीर, समवशरण की विभूति और धर्मोपदेश का वर्णन है (किया जाता है) वह वा उससे प्रतिबद्ध शास्त्र स्तवन प्रकीर्णक है ।। १४-१५ ।।

विशेषार्थ

चतुर्विंशति तीर्थंकरों का स्तवन व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार का है ।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र और काल के आश्रय से जो वर्णन किया जाता है वह व्यवहार स्तवन है और भाव स्तवन परमार्थ या निश्चय-नय से है ।

इस ग्रन्थ में छह प्रकार के स्तवन का वर्णन किया है । नाम स्तवन, स्थापना स्तवन, द्रव्य स्तवन, काल स्तवन, क्षेत्र स्तवन और भाव स्तवन का नाम उच्चारण करके उन स्तवन के विषय का वर्णन किया है ।

चतुर्विंशति तीर्थंकरों का एक हजार आठ नामों के द्वारा वा निज-निज नाम के द्वारा स्तुति करना नाम स्तवन है जैसे श्रीमान् स्वयंभू भगवान् की जय हो इत्यादि ।

चतुर्विंशति तीर्थंकर या तीनकाल सम्बन्धी अपरिमित तीर्थंकर अरिहंत आदि पाँच परमेष्ठी की कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमाओं को वर्ण, ऊँचाई तथा सौम्यता आदि के आश्रय से स्तुति करना स्थापना स्तवन है । जैसे नन्दीश्वर में पाँच सौ धनुष ऊँची प्रतिमा है । उनके नख लाल वर्ण के हैं, जिनके अवलोकन से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है इत्यादि रूप से जिनबिम्ब का स्तवन करना । चतुर्विंशति तीर्थंकरों के शरीर, चिह्न, गुण, ऊँचाई, दीक्षा, वृक्ष, माता-पिता आदि की मुख्यता से जो लोकोत्तम जिनेश्वरों का स्तवन किया जाता है वह द्रव्य स्तवन है । तीर्थंकर का शरीर तिल आदि नौ सौ व्यंजन और शंख, कमल आदि एक सौ

आठ लक्षणों से सुशोभित जिनेन्द्र भगवान् जयवन्त रहें। यह लक्षण की मुख्यता से द्रव्य स्तवन है। चन्द्रप्रभु, पुष्पदंत भगवान् श्वेत वर्ण के हैं। वासुपूज्य और पद्मप्रभु रक्त वर्ण के हैं, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ के शरीर का रंग कृष्ण है। पार्श्व और सुपार्श्व हरित वर्ण के हैं शेष सोलह तीर्थंकरों का शरीर सुवर्ण के समान पीत वर्ण का है। वे प्रभु मुझे सिद्धि प्रदान करें। यह शरीर के रंग की मुख्यता से द्रव्य स्तवन है।

बैल, हाथी, घोड़ा, बन्दर, चकवा, कमल, स्वस्तिक, चन्द्रमा, गैंडा, भैंसा, शूकर, सेही, वज्र, मृग, बकरा, मत्स्य, कलश, कछुआ, नील कमल, शंख, सर्प और सिंह ये वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों के चिह्न हैं। "बैलादि चिह्नों से शोभित तीर्थंकरों को मेरा नमस्कार हो" ऐसा उच्चारण करना, तीर्थंकरों की चिह्न की मुख्यता से द्रव्य स्तवन है।

आदिनाथ प्रभु के शरीर की ऊँचाई, पाँच सौ धनुष, अजितनाथ साढ़े चार सौ धनुष, संभवनाथ की चार सौ धनुष, अभिनन्दन नाथ की साढ़े तीन सौ धनुष, सुमतिनाथ की तीन सौ धनुष, पद्मप्रभु की ढाई सौ धनुष, सुपार्श्वनाथ की दो सौ धनुष, चन्द्रप्रभु की डेढ़ सौ धनुष, पुष्पदन्त की सौ धनुष, शीतलनाथ का नब्बे धनुष, श्रेयांसनाथ की अस्सी धनुष, वासुपूज्य की सत्तर धनुष, विमलनाथ की साठ धनुष, अनन्तनाथ की पचास धनुष, धर्मनाथ की पैंतालीस धनुष, शान्तिनाथ की चालीस धनुष, कुंथुनाथ की पैंतीस धनुष, अरहनाथ की तीस धनुष, मल्लिनाथ की पच्चीस धनुष, मुनिसुव्रतनाथ की बीस धनुष, नमिनाथ की पन्द्रह धनुष, नेमिनाथ की दश धनुष, पारसनाथ की नौ हाथ और महावीर की सात हाथ प्रमाण थी। उन भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ। यह शरीर की उत्सेध की अपेक्षा द्रव्य स्तवन है। यह शरीर की ऊँचाई की मुख्यता से द्रव्य स्तवन है।

तीर्थंकरों के समवशरण की विभूति की मुख्यता से कथन करना। जैसे बारह योजन विस्तृत मानस्तंभ, सरोवर, निर्मल जल से भरी हुई खातिका, पुष्प वाटिका, प्राकार, नाट्यशाला, स्तूप, हर्म्य (महल) वेदिका, चैत्यवृक्ष, ध्वजा, १२ सभा आदि से शोभित समवशरण के मध्य पीठिका पर अन्तरीक्ष स्थित प्रभु को नमस्कार हो। यह समवशरण के कथन की मुख्यता से द्रव्य स्तवन है।

शरीर की कान्ति से दशों दिशाओं को स्नान कराने वाले, अपने तेज से सूर्य के तेज को तिरस्कार करने वाले, अपने सौन्दर्य से मनुष्यों के मन

को हरनेवाले, अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा भव्य जीवों के कानों में साक्षात् सुखरूप अमृत की वर्षा करने वाले और एक हजार आठ लक्षणों के धारी प्रभु को नमस्कार हो, इस प्रकार स्तुति करना भी द्रव्य स्तवन है।

अत्यन्त स्वरूप शरीर, सुरभित शरीर, पसीना नहीं आना, मलमूत्र का नहीं होना, प्रियहित वचन का होना, अतुल बलशाली, खून दूध के समान श्वेत होना, एक हजार आठ लक्षण का होना, समचतुरस्रसंस्थान और वज्रवृषभनाराचसंहनन ये दश जन्म के अतिशय होते हैं।

जहाँ पर प्रभु स्थित हैं वहाँ चारों दिशाओं में से सौ-सौ योजन पर्यन्त सुभिक्ष होना, चारों दिशाओं में चार मुख का दिखना, अदया का अभाव, उपसर्ग नहीं होना, कवलाहार नहीं करना, सर्व विद्याओं का स्वामीपना, नख, केश का नहीं बढ़ना, शरीर की छाया नहीं पड़ना और आँखों की पलक नहीं गिरना ये दश अतिशय केवलज्ञान जन्य हैं।

१–अर्द्धमागधीभाषा का होना, २–परस्पर मित्रता, ३–दिशा और आकाश का निर्मल होना, ४–छहों ऋतुओं का फल-फूल एक साथ होना, ५–गन्धोदक की वृष्टि होना, ६–सारी पृथ्वी का हर्षित होना, ७–धरा का दर्पणवत् स्वच्छ होना, ८–प्रभु के विहार समय चरणतल के नीचे कमलों की रचना होना, ९–गगनांगण में जय-जय शब्द होना, १०–धर्मचक्र का आगे-आगे चलना, ११–मन्द-मन्द सुरभित पवन का चलना, १२–पुष्प-वृष्टि होना और अष्टमंगल का होना आदि चौदह अतिशय देवकृत हैं। चौंतीस अतिशय का कथन करके स्तुति करना भी द्रव्य स्तवन है।

अशोक वृक्ष, सिंहासन, तीन छत्र, भामण्डल, दिव्यध्वनि का खिरना, पुष्पवृष्टि का होना, यक्ष जाति के देवों द्वारा चौंसठ चमर ढोरना और दुंदुभिवादित्र बजना ये आठ प्रातिहार्य हैं। इनका वर्णन करके प्रभु का स्तवन करना, गुणों की मुख्यता से द्रव्य स्तवन है।

जब भगवान् गर्भ में आते हैं तब देवांगनायें उत्सव मनाती हैं, छप्पन कुमारी देवियाँ माता की सेवा करती हैं। इत्यादि गर्भ कल्याण का वर्णन, जन्म के समय इन्द्र भगवान् को मेरु पर ले जाकर एक हजार आठ कलशों से अभिषेक करते हैं। एक लाख योजन प्रमाण ऐरावत हाथी के बत्तीस मुख, एक-एक मुख में आठ-आठ दाँत, एक-एक दाँत पर एक-एक सरोवर, एक-एक सरोवर में एक सौ आठ कमल, एक एक कमल के एक सौ आठ पत्ते, एक-एक पत्र पर एक-एक देवांगना नृत्य कर रही हैं। इन्द्र तांडव नृत्य करता है आदि जन्म कल्याण की शोभा का कथन करके, तप कल्याण

के समय इन्द्र रचित पालकी, देवों द्वारा पालकी उठाकर भगवान् को ले जाना, केशलोंच करना, रत्न पिटारे में रखकर केशों का क्षीर समुद्र में क्षेपण करना आदि तप कल्याण का वर्णन करके, केवलज्ञान होने पर, इन्द्र के द्वारा समवशरण को रचना, प्रभु का परमौदारिक शरीर होना आदि के द्वारा ज्ञान कल्याण का कथन करके प्रभु की स्तुति करना पंच कल्याण के आश्रित द्रव्य स्तवन है।

जिनेन्द्र के दीक्षा वृक्षों के द्वारा भगवान् की स्तुति की जाती है जैसे वृषभादि तीर्थंकरों के क्रमशः दीक्षा वृक्ष हैं—वट, सप्तच्छद, शाल, सरल, प्रियंगु, शिरीष, नागकेशर, साल पाकर, श्री वृक्ष, तेंदुआ, पाटला, जामुन, पीपल, कैथ, नन्दीवृक्ष, नारंग वृक्ष, आम्र, अशोक, चम्पक, बकल, वाशिक, धव, शाल ये चौबीस वृक्ष हैं इनका आश्रय लेकर स्तुति की जाती है वह भी द्रव्य स्तवन है।

इस प्रकार भगवान् के माता-पिता आदि का कथन करके स्तवन किया जाता है वह भी द्रव्य स्तवन है।

जिस नगर में भगवान् ने जन्म लिया है अयोध्या आदि नगरी को जिस स्थान पर केवलज्ञान हुआ है, दीक्षा ग्रहण की है तथा मोक्ष प्राप्त उन स्थानों का कथन करके स्तुति करना क्षेत्र स्तवन है। अथवा तीर्थंकरों के गर्भावतरण, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण कल्याणों से पवित्र अयोध्या आदि नगर, सिद्धार्थ आदि वन, कैलाश, सम्मेदशिखर आदि पर्वत का जो स्तवन है वह क्षेत्र स्तवन है।

तीर्थंकरों के गर्भावतरण, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याणकों की प्रशस्त क्रियाओं से पवित्र काल का वर्णन तीर्थंकरों का काल स्तव है। अर्थात् जिस समय तीर्थंकरों के गर्भादिक क्रियायें हुई हैं उनका स्तवन काल स्तवन है।

केवलज्ञानादि असाधारण गुणों के धारी, प्रभु भव्यजीवों को अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा जीवादि पदार्थों के स्वरूप का उपदेश करते समय द्रव्य, गुण, पर्याय का विवेचन करते हैं तथा जीव की शुद्ध दशा और अशुद्ध दशा का विभेद करके शुद्ध जीव के स्वरूप का कथन करते हैं, इत्यादि प्रभु के असाधारण गुणों का स्तवन करना भाव स्तवन है।

इस प्रकार नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के द्वारा वीतराग प्रभु के शरीर आदि के गुणों का कथन जिसमें विस्तारपूर्वक किया जाता है वह स्तवन नामक प्रकीर्णक है।

॥ इस प्रकार स्तवन प्रकीर्णक समाप्त हुआ ॥

वन्दना स्तवन का कथन

सा वंदणा जिणुत्ता वंदिज्जइ जिणवराणमिण एक्कं ।
चेत्तचेत्तालयादिथई च दव्वादिबहुभेया ॥१६॥

सा वन्दना जिनोक्ता वन्द्यते जिनवराणां एकः ।
चैत्यचैत्यालयादिस्तुतिश्च द्रव्यादिबहुभेदा ॥

एवं वंदणा—एवं वंदना ।

जिनेन्द्रों में एक जिनेन्द्र सम्बन्धी तथा एक जिनेन्द्र के चैत्य वा चैत्यालय की स्तुति करना, जिनेन्द्र देव कथित वंदना है। द्रव्यादि के भेद से वन्दना बहुत प्रकार की है॥ १६ ॥

विशेषार्थ

रत्नत्रय के धारक यति, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, वृद्ध साधु के उत्कृष्ट गुणों का श्रद्धा सहित विनय करना वा एक जिनदेव उसके बिम्ब आदि का स्तवन करना वन्दना है अथवा ऋषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकर, भरतादि केवलि, आचार्य एवं चैत्यालयादिकों के गुण-गण भेद के आश्रित शब्द कलापों से युक्त गुणों का मनुस्मरण करके नमस्कार करने को वंदना कहते हैं।[1]

वह वन्दना नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह प्रकार की है।

चतुर्विंशति तीर्थंकरों में किसी एक तीर्थंकर का वा पंच परमेष्ठी में किसी एक पूज्य परमेष्ठी का नाम उच्चारण करना वा उनके गुणों की प्रशंसा करना नाम वन्दना है।

कृत्रिम-अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं की स्तुति वा नमस्कार स्थापना वन्दना है।

एक जिनेन्द्र भगवान् या एक परमेष्ठी के शरीर के वर्ण या ऊँचाई का आश्रय लेकर स्तवन वा नमस्कार करना द्रव्य वन्दना है।

जिनेन्द्रदेव के कैलाश, सम्मेदशिखरजी, गिरनार, पावापुर, चम्पापुर आदि सिद्ध क्षेत्रों का स्तवन करके नमस्कार करना क्षेत्र वन्दना है।

जिस काल में वीतराग प्रभु के जन्म आदि कल्याणक हुए हैं उस काल के आश्रय से स्तवन कर नमस्कार करना काल वन्दना है।

---

१. ध. ८ (३.४२)

जिनेन्द्र देव के केवलज्ञानादि गुणों का स्मरण करके स्तुति करते हुए नमस्कार करना भाव वन्दना है।

मन, वचन और काय के भेद से वन्दना तीन प्रकार की है।

वन्दना करने योग्य गुरुजन वा पंच परमेष्ठी आदि के गुणों का स्मरण करना मनो वन्दना है।

वचन के द्वारा उनके गुणों का महत्त्व प्रकट करना वचन वन्दना है।

पंच परमेष्ठी आदि पूज्य पुरुषों की प्रदक्षिणा करना, काय से नमस्कार करना काय वन्दना है।

तीनों संध्या में देव, शास्त्र, गुरु का विनय करना, स्तुति करना, उनको नमस्कार करना, कृतिकर्म के समान तीन आवर्तन आदि करना वन्दना विधि है।

इस प्रकार वन्दना का लक्षण उसके भेदों का कथन करने वाला वन्दना नामक प्रकीर्णक है।

॥ इस प्रकार वन्दना नामक प्रकीर्णक समाप्त हुआ ॥

प्रतिक्रमण का कथन

पडिकमणं कयदोसणिरायरणं होदि तं च सत्तविहं।
देवसियराइक्खियचउमासियमेववच्छरियं ॥ १७ ॥

प्रतिक्रमणं कृतदोषनिराकरणं भवति तच्च सप्तविधं।
दैवसिकरात्रिकपाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकं ॥

इज्जावहियं उत्तमअत्थं इदि भरहखेत्तादि।
दुस्समकालं च तहा छहसंहणणऽड्ढपुरिसमासिज्ज ॥ १८ ॥

ईर्यापथिकं उत्तमार्थमिति भरतक्षेत्रादि।
दुःषमकालं च तथा षट्संहननाढ्यपुरुषमाश्रित्य ॥

दव्वादिभेदभिण्णं सत्थं अवि तप्परूवयं तं (तु)।
यदिवग्गेहि सदावि य णादव्वं दोसपरिहरणं ॥ १९ ॥

द्रव्यादिभेदभिन्नं शास्त्रमपि तत्प्ररूपकं तत्तु।
यतिवर्गैः सदापि च ज्ञातव्यं दोषपरिहरणं ॥

इदि पडिक्कमणं—इति प्रतिक्रमणं।

किये हुए दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है। अथवा जिससे

अतीत दोषों का निराकरण किया जाता है वह प्रतिक्रमण है। उस प्रतिक्रमण के दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चतुर्मासिक, सांवत्सरिक, ईर्यापथिक और उत्तमार्थ ये सात भेद हैं॥ १७॥

इस प्रकार भरतादि क्षेत्र, पंचम काल, छह संहनन आदि से पुरुषों का आश्रय लेकर द्रव्यादि के भेद से प्रतिक्रमण का जो शास्त्र में प्ररूपण है। उन प्रतिक्रमणों का अपने दोषों का परिहार करने के लिए यतिवर्गों को प्रतिदिन करना चाहिये। प्रतिक्रमण प्रतिपादक शास्त्रों को भी द्रव्यादिक भेद से जानना चाहिए॥ १८-१९॥

विशेषार्थ

संध्याकाल के समय शास्त्रोक्त विधि से, सामायिक दण्डक (चत्तारि मंगल आदि) तथा 'त्थोस्सामि' आदि पढ़कर सिद्ध भक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति, दण्डक, निष्ठित करण, वीर भक्ति, चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति के प्रारम्भ में कायोत्सर्ग करके प्रतिक्रमण किया जाता है, वह दैवसिक प्रतिक्रमण है।

इसी प्रकार प्रातःकाल के समय प्रतिक्रमण करते हैं वह रात्रि प्रतिक्रमण है परन्तु दैवसिक प्रतिक्रमण में संध्याकाल के समय निष्ठित करण-वीरभक्ति में १०८ श्वासोच्छ्वास में कायोत्सर्ग किया जाता है और रात्रिक प्रतिक्रमण में चौपन (५४) श्वासोच्छ्वास में कायोत्सर्ग करते हैं।

चतुर्मासिक प्रतिक्रमण—कार्तिक, फाल्गुन और अषाढ़ की शुक्ल चतुर्दशी के दिन होता है। सिद्ध भक्ति, आदि भक्ति पाठ होता है। वीरभक्ति के प्रारम्भ में चातुर्मासिक प्रतिक्रमण के चार सौ श्वासोच्छ्वास में कायोत्सर्ग किया जाता है।

पाक्षिक प्रतिक्रमण चतुर्दशी के दिन किया जाता है इसमें दण्डक पाठ 'त्थोस्सामि' आदि का कथन पूर्वक सिद्धभक्ति आदि का पाठ चातुर्मासिक के समान ही है वही प्रतिक्रमण है। केवल "चातुर्मासिक" के स्थान पर पाक्षिक का उच्चारण करते हैं और इसके कायोत्सर्ग में तीन सौ श्वासोच्छ्वास होते हैं।

वार्षिक प्रतिक्रमण आषाढ़ के अन्त में होता है, इसमें भी प्रतिक्रमण चातुर्मासिक के समान ही है परन्तु इसमें पाँच सौ श्वासोच्छ्वास में कायोत्सर्ग होता है।

मलमूत्र त्याग करने पर, एक गाँव से दूसरे गाँव में पहुँचने पर,

आहार करने के बाद जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह ईर्यापथिक प्रतिक्रमण है। इसमें मल-मूत्र आदि के दोषों का निवारण करने के लिए पच्चीस श्वासोच्छ्वास में कायोत्सर्ग किया जाता है।

दीक्षा समय से लेकर संन्यास ग्रहण करने के समय तक लगे हुए दोषों का निराकरण करने के लिए सर्व दोषों का निश्छल भावो से गुरु के समक्ष निवेदन करके सल्लेखना ग्रहण करना उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है अथवा उत्तमार्थ (उत्तम पदार्थ सचिदानन्द स्वरूप कारण समयसार आत्मा में स्थित मुनिवर कर्मों का घात करते हैं अतः ध्यान ही उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा प्रतिक्रमण छह प्रकार का है।

पाप के कारणभूत नाम के उच्चारण करने पर पाप परिणामों की निवृत्ति के लिए प्रतिक्रमण करना नाम प्रतिक्रमण है।

सरागी देवों की स्थापना मूलक परिणामों से निवृत्ति होने को स्थापना प्रतिक्रमण कहते हैं अथवा आप्तभास, कुदेव आदि की प्रतिमाओं को नमस्कार, पूजा आदि करने का त्याग करना स्थापना प्रतिक्रमण है।

उद्गामादि दोष युक्त आहार, वसतिका, उपकरण आदि का त्याग करना द्रव्य प्रतिक्रमण है अथवा आलोचना, निन्दा, गर्हा रहित केवल प्रतिक्रमण शब्दों का उच्चारण करना द्रव्य प्रतिक्रमण है।

पानी, कीचड़ आदि सचित्त द्रव्यों से युक्त क्षेत्र का परित्याग करना वा क्षेत्र सम्बन्धी कोई दोष उत्पन्न हुए दोषों का निराकरण करने के लिए प्रतिक्रमण करना क्षेत्र प्रतिक्रमण कहलाता है।

रात्रि, तीनों संध्या काल तथा आवश्यक क्रिया काल में गमनागमन करने का त्याग करना काल प्रतिक्रमण है।

आर्त्त-रौद्र ध्यान वा राग-द्वेष रूप परिणामों का त्याग करना भाव प्रतिक्रमण है अथवा आलोचना, निन्दा, गर्हा से युक्त होकर पुनः दोष न लगाना भाव प्रतिक्रमण है।

अथवा मन, वचन, काय के भेद से प्रतिक्रमण तीन प्रकार का है कृत अपराधों का मन से त्याग करना मनः (मानसिक) प्रतिक्रमण है।

हाय मैंने यह दुष्कृत किया है, पाप में प्रवृत्ति की है ऐसा मानसिक

पश्चात्ताप के साथ प्रतिक्रमण दण्डकों का उच्चारण करना वाचनिक प्रतिक्रमण है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शरीर के द्वारा दुष्कृत्यों का आचरण नहीं करना कायिक प्रतिक्रमण है।

किस क्षेत्र के मनुष्य के, किस काल मनुष्य को, किस संहनन वाले मनुष्य को किस प्रकार का प्रतिक्रमण करना चाहिये। इसका कथन प्रतिक्रमण प्रकीर्ण में किया गया है जैसे विदेह क्षेत्र के मानव दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करते हैं परन्तु भरत क्षेत्र के आदिनाथ और महावीर प्रभु के समय के मुनिगणों को दोष लगने या नहीं लगने पर भी प्रतिक्रमण करना चाहिये।[1]

अर्थात् ऋषभदेव और महावीर प्रभु के शिष्य इन सब प्रतिक्रमणों को स्वप्नादि दोष से उत्पन्न हुए अपराध को प्राप्त होने पर वा दोषों के नहीं होने पर भी प्रतिक्रमण के सारे दण्डकों का उच्चारण करते हैं क्योंकि आदि और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य चंचल एवं मन्दबुद्धि वाले होते हैं अतः उनको दैवसिक, रात्रिक आदि प्रतिक्रमणों में सर्व दण्डकों का उच्चारण करने का विधान है क्योंकि किसी दण्डक में मन स्थिर हो जाने से भाव निर्मल हो सकते हैं।

परन्तु शेष बाईस तीर्थंकरों के शिष्य दोष होने पर ही प्रतिक्रमण करते हैं क्योंकि मध्यम तीर्थंकरों के शिष्य स्मरण शक्ति वाले, स्थिर चित्तवाले और परोक्षपूर्वक कार्य करने वाले होते हैं, अतः दोष लगने पर प्रतिक्रमण करके दोषों का निराकरण करते हैं[2]।

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहरण, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि ये आठ सविकल्प अवस्था में आत्म शुद्धि के कारण हैं, अमृत कुंभ हैं।

अपने दोषों का निराकरण करने के लिए दण्डकों का पाठ करना द्रव्य प्रतिक्रमण है।

गुणों में प्रवृत्ति करना प्रतिसरण या सारणा है। दोषों से निवृत्त होने को परिहरण या हारण कहते हैं। चित्त के स्थिर करने को धारण कहते हैं। चित्त के अन्यत्र जाने पर उसे वहाँ से लौटाने को निवृत्ति कहते हैं। गुरु के समक्ष पश्चात्तापपूर्वक दोषों का कथन करना गर्हा है और अपने

१. मूल आराधना, गा० ६१८।
२. मूलाचार, गा० ६२९।

मन में ही पश्चाताप करते रहना निन्दा है। प्रायश्चित्त आदि के द्वारा आत्म विशुद्धि करना शुद्धि है।

इन आठ प्रकार के भावों से निन्दा, गर्हा और आलोचना में तत्पर साधु का प्रतिक्रमण कर्मों का घातक भाव प्रतिक्रमण होता है। शेष द्रव्य प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण, प्रतिसरणा आदि से युक्त होकर इन प्रतिक्रमण दण्डकों को पढ़ता है, सुनता है उनके महान् कर्मों की निर्जरा होती है।

इस प्रकार प्रतिक्रमण करने की विधि, प्रतिक्रमण करने योग्य वस्तु, प्रतिक्रमण करने वाला आदि का विस्तारपूर्वक जिसमें कथन है कि वह प्रतिक्रमण प्रकीर्णक है।

॥ इति प्रतिक्रमण प्रकीर्णक समाप्त ॥

वैनयिक प्रकीर्णक का कथन

वेणइयं णादव्वं पंचविहो णाणदंसणाणं च।
चारित्ततवुवचारह विणओ जत्थ परुविज्जइ ॥ २० ॥

वैनयिकं ज्ञातव्यं पंचविधं ज्ञानदर्शनयोश्च।
चारित्रतपउपचाराणां विनयः यत्र प्ररूप्यते ॥

जिस प्रकीर्णक (शास्त्र) में ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय के भेद से पाँच प्रकार के विनय का कथन किया जाता है वह वैनयिक प्रकीर्णक है ॥ २० ॥

विशेषार्थ

गुणी पुरुषों में आदर करना विनय है अथवा जिससे कर्ममल नष्ट किया जाता है वह विनय है।

लौकिक और अलौकिक के भेद से विनय दो प्रकार का है। लोकानुवृत्ति विनय, अर्थनिमित्तक विनय, कामतंत्र विनय और भय विनय ये चार लौकिक विनय हैं।

लौकिक कार्य के लिए लौकिक जनों का विनय करना, उनके अनुकूल आचरण करना लोकानुवृत्ति विनय है अथवा घर पर आये पाहुने का सत्कार करना, उसको आसन देना, भोजन कराना, वचनों से स्तुति करना लौकिक विनय है।

अर्थ (धन) निमित्त राजा, मंत्री आदि को हाथ जोड़ना नमस्कार करना अर्थनिमित्तक विनय है।

काम पुरुषार्थ के निमित्त स्त्री पुरुष आदि का अनुनय-विनय करना कामतंत्र विनय है।

किसी से भयभीत होकर नमस्कार आदि करना भय विनय है। यहाँ लौकिक विनय से प्रयोजन नहीं है।

मोक्ष के साधन भूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि का तथा उनके साधक गुरु आदि का सत्कार करना, कषाय और इन्द्रियों का निग्रह करना मोक्ष विनय है।

निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्ष विनय दो प्रकार का है। स्वकीय निश्चय रत्नत्रय की शुद्धि निश्चय विनय है और उसके आधार-भूत पुरुषों (आचार्य आदि) के प्रति भक्ति परिणाम व्यवहार विनय है।

अथवा दर्शन विनय, ज्ञान विनय, तप विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय के भेद से मोक्ष विनय पाँच प्रकार वा चार[1] प्रकार का है। **ग्रन्थ शुद्ध**—जिनेन्द्र कथित शास्त्रों के अक्षर शुद्ध पढ़ना। **अर्थ शुद्ध**—अक्षर वाच्य अर्थ शुद्ध पढ़ना। **उभय शुद्ध**—अक्षर और अर्थ दोनों शुद्ध पढ़ना। **काल शुद्ध**—स्वाध्याय काल में ही शास्त्रों का पठन करना। **विनय**—हाथ धोकर शास्त्र को नमस्कार करके तथा श्रुतभक्ति एवं आचार्यभक्ति पढ़कर शास्त्र पढ़ना। **उपधान**—शास्त्र के अर्थ को ग्रहण करते हुये पढ़ना। **बहुमान**—बहुत भक्ति करके पढ़ना। **अनिह्नव**—जिसके पास ग्रन्थों का अध्ययन किया है उसका नाम नहीं छिपाना यह ज्ञान के ८ (आठ) विनय हैं[2]। वा ज्ञान के ये आठ अंग हैं।[3]

आलस्य रहित होकर, शुद्ध चित्त से देशकालादि शुद्धि के अनुसार उपरोक्त कथित सम्यग्ज्ञान के आठ अंग सहित यथाशक्ति मोक्ष की प्राप्ति के लिए जिनेन्द्रोपदिष्ट तत्त्वों का ग्रहण, अभ्यास, पठन, स्मरण, चिन्तन करना ज्ञानविनय है।

जिनेन्द्र कथित तत्त्व में शंका नहीं करना, निःशंकित तत्त्व है। सांसारिक भोगों की वांछा नहीं करना निष्कांक्षित है।

जिनधर्म तथा धर्मात्माओं से ग्लानि नहीं करना निर्जुगुप्सा है। तत्त्व, कुतत्त्व, हेयोपादेय का विचार करके कार्य करना वा कुगुरु, कुदेव की प्रशंसा, स्तुति, सत्कार आदि नहीं करना अमूढदृष्टित्व है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अ० नवम—सूत्र २३।

२. भगवती आराधना, गा० ११३।

३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ३६।

धर्मात्माओं के दोषों को प्रगट नहीं करना उपगूहन अंग है।

सन्मार्ग से च्युत होते हुए निज और पर के परिणामों को तत्त्व का उपदेश देकर या तत्त्व चिन्तन कर परिणामों को स्थिर करना स्थिति-करण अंग है।

जिनप्रणति धर्मात्मा में और धर्मात्माओं के प्रति नित्य अनुराग रखना वात्सल्य है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा अपनी आत्मा को उज्ज्वल करना तथा दान, तप, पूजा, विद्याओं के अतिशय आदि के द्वारा जिनधर्म का उद्योत करना, प्रभावना अंग है।

इन सम्यग्दर्शन के आठ अंगों (गुणों) को धारण करना तथा सामायिक आदि से लेकर लोकविन्दुसार पर्यन्त शास्त्ररूपी समुद्र में जैसा उपदेश दिया है उसका उसी रूप श्रद्धान करना, जिनेन्द्र के वचनों में संशय नहीं करना, दर्शन विनय है अथवा जिनधर्म के अवर्णवाद को दूर करना जिनधर्म की आसादना नहीं करना दर्शन विनय है।

सम्यग्ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि पुरुषों के पाँच प्रकार के दुश्चर चारित्रों का वर्णन सुनकर रोमाञ्च आदि के द्वारा अन्तर्भक्ति प्रगट करना, मस्तक पर अंजुलि रखकर प्रणाम करना आदि क्रियाओं के द्वारा चारित्रवन्तों का आदर करना और भावपूर्वक सम्यक्चारित्र का निर्दोष अनुष्ठान करना चारित्र विनय है।

तप का तथा तपस्वियों का आदर करना, तपोऽनुष्ठान में अनुराग रखना, तपस्वियों की अवहेलना नहीं करना तपो विनय है। जिस प्रकार सेवक राजा की आज्ञानुसार चलता है उसी प्रकार गुरु की आज्ञानुसार चलना उपचार विनय है।

उपचार विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। कायिक, वाचनिक और मानसिक के भेद से वह तीन प्रकार का है।

आचार्य गुरु आदि के समक्ष आने पर उठकर खड़े होना, उनके पीछे-पीछे चलना, कायोत्सर्गादि कृतिकर्म करना, अंजुलि जोड़ना, उनके उप-करण आदि रखना, उनके हाथ-पैर दबाना आदि प्रत्यक्ष कायिक उपचार विनय है।

परोक्ष में उनको हाथ जोड़कर नमस्कार करना परोक्ष कायिक उपचार विनय है। प्रत्यक्ष में वचन से उनकी स्तुति करना, नम्र भाव से मधुर

वार्तालाप करना उनके रत्नत्रय की कुशल पूछना प्रत्यक्ष वाचनिक उपचार विनय है।

परोक्ष में वचन के द्वारा उनके गुणों का स्मरण करना, उनकी आज्ञानुसार चलना परोक्ष वाचनिक विनय है। प्रत्यक्ष में मानसिक अनुराग प्रगट करना प्रत्यक्ष मानसिक विनय है और परोक्ष में उनके प्रति आंतरिक अनुराग होना उनकी आज्ञा का पालन करना परोक्ष मानसिक उपचार विनय है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर

विणयो सासणधम्मो विणओ संसारतारओ विणओ।
मोक्खपहो वि य विणओ कायव्वो सम्मदिट्ठीणं ॥ २१ ॥

विनयः शासनधर्मः विनयः संसारतारकः विनयः।
मोक्षपथोऽपि च विनयः कर्त्तव्यः सम्यग्दृष्टिभिः ॥

विणओ गदो—विनयो गतः।

विनय का फल—विनय जैनशासन का धर्म है, विनय ही संसार से पार करने वाला है, संसार तारक है। मोक्ष महल में प्रवेश विनय के द्वारा ही होता है अतः विनय मोक्ष का द्वार है। अतः सम्यग्दृष्टि जीवों को पाँच प्रकार के मोक्ष सम्बन्धी विनय को निरन्तर करना चाहिए ॥ २१ ॥

विशेषार्थ

मोक्षाभिलाषियों को ज्ञान की प्राप्ति और सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र और तप को निर्मल करने के लिए विनयशील बनना चाहिये। इस प्रकार पाँच प्रकार का विनय, विनय का फल आदि का कथन जिसमें है वह वैनयिक प्रकीर्णक है।

कृतिकर्म प्रकीर्णक कथन

किदिकम्मं जिणवयणधम्मजिणालयाण चेत्तस्स।
पंचगुरूणं णवहा वंदणहेदुं परूवेदि ॥ २२ ॥

कृतिकर्म जिनवचनधर्मजिनालयानां चैत्यस्य।
पंचगुरूणां नवधा वन्दनाहेतु प्ररूपयति ॥

साधीणतियपदिक्खणतियणदिचउसरसुवारसावत्ते।
णिच्चणिमित्तािकरियाविहि च वत्तीस दोसहरं ॥ २३ ॥

स्वाधीनत्रिकप्रादक्षिण्यत्रिनतिचतुःशिरोद्वादशावर्ताः ।
नित्यनैमित्तिकक्रियाविधिं च द्वात्रिंशद्दोषहरं ॥
इदि किदिकम्मं—इति कृतिकर्म ।

पंच परमेष्ठी (अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु) जिन-वचन (शास्त्र) जिनधर्म, जिनालय और जिन प्रतिमा इन नव देवताओं की वन्दना निमित्त, आत्माधीनता, तीन प्रदक्षिणा, तीनवार नति, चार शिरोनति, बारह आवर्त्तन आदि, नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं की विधि का बत्तीस दोष टालकर कृतिकर्म (वन्दना) करने का प्ररूपण करने वाला कृतिकर्म प्रकीर्णक कहलाता है ॥ २२-२३ ॥

विशेषार्थ

चारित्र सम्पन्न मुनि का अपने गुरु, अपने ज्येष्ठ मुनि (बड़े मुनि) देव-शास्त्र का विनय करना, उसकी शुश्रूषा करना इसको कृतिकर्म कहते हैं।[1]

जिससे आठ प्रकार के कर्मों का छेदन हो वह कृतिकर्म है। इस कृति-कर्म से पुण्य का संचय होता है अतः इसको "चिति" कर्म भी कहते हैं। इस कृतिकर्म के द्वारा महापुरुषों का विनय किया जाता है अतः इसको विनयकर्म भी कहते हैं। तथा इससे जल, चन्दन आदि से पूजा की जाती है अतः इसको पूजा कर्म भी कहते हैं।[2]

इस कृतिकर्म के नौ अधिकार होते हैं—(१) यह क्रिया कर्म कौन करें, (२) किसका करना, (३) किस विधि से करना, (४) कृतिकर्म की विधि किस अवस्था में करना, (५) कितनी बार करना, (६) कितनी अवनतियों से करना, (७) कितनी बार मस्तक में हाथ रखकर करना, (८) कितनी आवर्त्तन से करना और (९) कितने दोष रहित करना चाहिए। इत्यादिक का कथन है।

(१) **कृतिकर्म करने वाले का लक्षण** :—जो पंच महाव्रतधारी हैं, धर्म में उत्साह रखने वाले हैं, निर्मानी हैं और संवर निर्जरा के इच्छुक हैं ऐसे मुनिगण, पंचम गुणस्थानव्रती देशसंयमी और अविरतसम्यग्दृष्टि कृतिकर्म करते हैं अर्थात् वास्तविक में परीषह जयी, शान्त परिणामी, जिन-सूत्र विशारद, गुरुजनों का भक्त प्रिय भाषी, संयमी, देशसंयमी और अविरत-सम्यग्दृष्टि ही देव वन्दना (कृतिकर्म) करने के अधिकारी हैं।[3]

१. भ० आ० टी०/४२१/६१४
२. मू० आ०/५७५
३. मूला० आ०–प०/५-४-३१/

(२) **कृतिकर्म किसका करें**—अर्थात् कृतिकर्म के आराध्यदेव अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु इनके प्रतिबिम्ब, (चैत्य) चैत्यालय (जिन मन्दिर) जिन वचन (जिनशास्त्र) और जिनधर्म ये नव देव कृतिकर्म (वन्दना) करने योग्य हैं। अर्थात् इनका कृतिकर्म (वन्दना) करनी चाहिये।

(३) **कृतिकर्म की विधि** :—सर्व प्रथम कृतिकर्म करने के लिए आत्माधीनता होना परमावश्यक है क्योंकि पराधीनता से कृतिकर्म करने से फल की प्राप्ति नहीं होती।

वन्दना करते समय गुरु, जिन, जिनालय की प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना प्रदक्षिणा है।

प्रदक्षिणा और नमस्कार आदि को तीन बार करना त्रिकृत्वा है अथवा एक ही दिन में जिन गुरु और ऋषियों की वन्दना तीन बार की जाती है

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इसलिए त्रिकृत्वा कहते हैं।

भूमि पर बैठकर तीन बार किया जाता है अतः इसको त्रिनति कहते हैं वह इस प्रकार है—शुद्ध मन होकर, पैर हाथ धोकर और जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन से पुलकित वदन होकर, जिनेन्द्र भगवान् के सन्मुख बैठना यह प्रथम अवनति है। तदनन्तर उठकर जिनेन्द्र आदि की स्तुति करके बैठना दूसरी अवनति है। तदन्तर सामायिक दण्डक के द्वारा आत्म-शुद्धिपूर्वक, कषाय सहित शरीर के ममत्व का त्याग करके, जिनेन्द्र देव के अनन्तगुणों का ध्यान करके चतुर्विंशति तीर्थंकरों की वन्दना करके तथा चैत्य-चैत्यालय एवं गुरुओं की स्तुति करके भूमि पर बैठना तृतीय अवनति है।

कृतिकर्म में चार शिरोनति और बारह आवर्त्त होते हैं—वह इस प्रकार हैं—सर्व प्रथम "अथ पूर्वाह्निक देववन्दनाक्रियायां चैत्यभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्" इस प्रकार क्रिया विज्ञापन पूर्वक "णमो अरिहंताणं" आदि को लेकर सामायिक दण्डक के प्रारम्भ में तीन आवर्त और एक बार शिरोनति (शिर का नमन) करे। इस प्रकार सामायिक दण्डक की समाप्ति में तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करके कायोत्सर्ग करना, कायोत्सर्ग को समाप्त कर "त्थोस्सामि" के प्रारम्भ में तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करना, पुनः "त्थोस्सामि" पाठ की समाप्ति और चैत्यभक्ति आदि के प्रारम्भ में तीन आवर्तन और एक शिरोनति करना चाहिये। इस प्रकार एक कृतिकर्म में बारह आवर्तन, चार शिरोनति, तीन नति और तीन प्रदक्षिणा होती हैं।

यह कृतिकर्म, नित्य और निमित्त के भेद से दो प्रकार के हैं। प्रतिदिन स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, देव वन्दना आदि क्रियाओं में जो कृतिकर्म (क्रिया-कर्म) किया जाता है वह नित्य क्रियाकर्म है।

प्रतिदिन होने वाले २८ कायोत्सर्ग में होने वाली कृतिक्रम इस प्रकार हैं—

पूर्वाह्ण, अपराह्ण, पूर्व रात्रि और अपररात्रि ये चार स्वाध्याय काल हैं।

स्वाध्याय के प्रारम्भ में लघु श्रुतभक्ति, लघु आचार्यभक्ति पढ़ने के लिए प्रारम्भ में सामायिक दण्डक और थ्थोस्सामि पढ़ना ये दो कृतिकर्म हैं। स्वाध्याय की समाप्ति में लघु श्रुतभक्ति पढ़ना, इस प्रकार एक बेला की स्वाध्याय में तीन कृतिकर्म होते हैं। अतः चार स्वाध्याय के बारह कृतिकर्म होते हैं।

दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में चार बार कृतिकर्म होता है जिसका वर्णन प्रतिक्रमण में किया है अर्थात् सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति, निष्ठित करण, वीरभक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति इनके चार कृतिकर्म हैं।

त्रिकाल वन्दना के छह कृतिकर्म होते हैं अर्थात् चैत्यभक्ति और पंचगुरु भक्ति सम्बन्धी दो कृतिकर्म (कायोत्सर्ग) होते हैं। तीन बार वन्दना के छह कृतिकर्म हैं।

रात्रि योग निष्ठापन का प्रातःकाल और रात्रि योग प्रतिष्ठापन संध्या काल के समय योगभक्ति पढ़ते प्रारम्भ में कृतिकर्म करना—ये दो कृतिकर्म हैं। इस प्रकार आठ कृतिकर्म प्रतिक्रमण के, बारह स्वाध्याय के, छह वन्दना के और दो योग निष्ठापन प्रतिष्ठापन के होते हैं। इस प्रकार प्रतिदिन के अट्ठाईस कायोत्सर्ग के कृतिकर्म निश्चित हैं।

प्रत्याख्यान निष्ठापन (आहार करने जाते समय) क्रिया में सिद्ध-भक्ति, प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन (आहार कर लेने के बाद) क्रिया में सिद्ध-भक्ति, उपवास प्रत्याख्यान में स्वयं करे तो सिद्धभक्ति और आचार्य के समक्ष में सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढ़कर उपवास ग्रहण किया जाता है। उस समय कृतिकर्म करना ये सब नित्य क्रियाओं के कृतिकर्म हैं तथा आचार्य वन्दना में लघु सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति कृतिकर्म पूर्वक होती है यह भी नित्य क्रिया है।

नैमित्तिक क्रियाओं की अपेक्षा बहुत पूर्व (छह महीने के बाद पुनः प्रतिमा का दर्शन करना) वा प्रथम बार दर्शन किया है वह अपूर्व चैत्य कहलाता है उस अपूर्व चैत्य की वन्दना क्रिया में तथा अष्टमी क्रिया में, पाक्षिक प्रतिक्रमण क्रिया में, अपूर्व चैत्य वन्दना का योग होने पर सिद्ध-भक्ति, चारित्रभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और अन्त में शान्तिभक्ति कृतिकर्म पूर्वक करना चाहिये।

अभिषेक वन्दना में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंच गुरुभक्ति और शान्ति-पूर्वक कृतिकर्म होती है।

अष्टमी क्रिया में, सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, सालोचना चारित्रभक्ति तथा शान्तिभक्ति का पठन कृतिकर्म पूर्वक करना चाहिये।

चतुर्दशी क्रिया में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरु भक्ति और शान्तिभक्ति होती है।

पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण में सिद्धभक्ति तथा चारित्र प्रतिक्रमण के साथ चारित्र चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति, चारित्र आलोचना, गुरुभक्ति, लघु आचार्य भक्ति करना चाहिए। शिष्यों के द्वारा आचार्य भक्ति बोलकर आचार्य वन्दना करनी चाहिए। आचार्य सहित सारा संघ सिद्ध भक्ति, आलोचना सहित चारित्र भक्ति, केवल आचार्य लघु सिद्धभक्ति, लघु योगभक्ति पढ़कर "इच्छामि चारित्तायारो" इत्यादि पाठों का उच्चारण करके भगवान् के समक्ष (जिन बिम्ब समक्ष) अपने दोषों की आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण कर तीन बार (पंच महाव्रत आदि का) उच्चारण करके भगवान् के प्रति गुरुभक्ति, आचार्य सहित सर्व संघ लघु सिद्ध योग भक्ति पढ़कर प्रायश्चित्त ग्रहण कर शिष्यगण आचार्य भक्ति के द्वारा आचार्य वन्दना करें। तदनन्तर गणधर वलय, प्रतिक्रमण दण्डक, वीर भक्ति, शान्तिजिन कीर्तन सहित चतुर्विंशति जिन-स्तवन, चारित्रालोचना युक्त आचार्य भक्ति, बृहद् आलोचना युक्त मध्य आचार्यभक्ति, लघु आलोचना युक्त लघु आचार्यभक्ति और अन्त में समाधिभक्ति पढ़ें।

अष्टाह्निक क्रिया में सिद्धभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरु-भक्ति और शान्तिभक्ति पढ़ना चाहिए।

वर्षायोग धारण (प्रतिष्ठापन) क्रिया में तथा निष्ठापन क्रिया में सिद्धभक्ति, योगभक्ति, 'यावंति जिन चैत्यायतनानि' आदि चैत्यभक्ति, स्वयंभू स्तोत्र की दो-दो तीर्थंकर स्तुति, चार दिशाओं में चार बार करना

तथा अन्त में पंच गुरुभक्ति और शान्तिभक्ति पढ़ना चाहिए। इस प्रकार जितनी भी नित्य-नैमित्त क्रियाओं में भक्ति का कथन है उनका प्रारम्भ कृतिकर्म पूर्वक होना चाहिए। जैसे स्वाध्याय प्रारम्भ करना है तो "अथ अपररात्रिस्वाध्यायप्रतिष्ठापनक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थ-भावपूजावन्दना स्तवसमेतं श्री श्रुतभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं" ऐसी प्रतिज्ञा करके भूमि स्पर्श करते हुए नमस्कार करें, पश्चात् तीन आवर्तन और एक शिरोनति करके, णमो अरिहंताणं.................इत्यादि सामायिक दण्डक पढ़कर अन्त में तीन आवर्त और एक शिरोनति करके सत्ताईस उच्छ्वासपूर्वक कायोत्सर्ग करें। पश्चात् भूमि स्पर्शात्मक नमस्कार करके तीन आवर्त और एक शिरोनति करें। तत्पश्चात् "त्थोस्सामि" इत्यादि चतुर्विशति स्तवन पढ़ें। स्तवन समाप्त होने पर तीन आवर्त एक शिरो-नति करके लघु श्रुतभक्ति पढ़ें। तदनन्तर "अथ अपररात्रिस्वाध्याय-प्रतिष्ठापनक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थभावपूजास्तवसमेतं श्री आचार्यभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं" ऐसी प्रतिज्ञा करके पूर्ववत्, तीन आवर्त, एक शिरोनति करके कायोत्सर्ग। पुनः त्थोस्सामि इत्यादि के प्रारम्भ में तीन आवर्त, एक शिरोनति और स्तुति के अन्त में तीन आवर्त और एक शिरोनति करे, आचार्य भक्ति पढ़े और तदनन्तर स्वाध्याय प्रारम्भ करे।

इस प्रकार प्रत्येक क्रिया की भक्ति पाठ को कृतिकर्म। तीन आवर्त एक शिरोनति आदि करके कायोत्सर्ग करे और पुनः आवर्त कृतिकर्म करना चाहिए।

शास्त्र में कायोत्सर्ग और कृतिकर्म (वन्दना) के बत्तीस बत्तीस दोष कहे हैं। उन दोषों को टालकर कृतिकर्म और कायोत्सर्ग करना चाहिए। वे बत्तीस दोष निम्न प्रकार हैं—

अनाहृत दोष—आदर भाव से रहित होकर वन्दना करना।

स्तब्ध दोष—जाति आदि आठ प्रकार के मदों से युक्त होकर वन्दना करना।

प्रविष्ट दोष—अरिहंत आदि परमेष्ठियों के अति निकट बैठकर वन्दना करना जिससे उनकी आसादना हो।

परपीड़ित दोष—अपने हाथों से घुटनों का स्पर्श करते हुए वन्दना करना।

दोलायित दोष—झूलने के समान अपने शरीर को हिलाते हुए वन्दना करना वा वन्दना तथा वन्दना के फल में संशय होना।

अंकुशित दोष—अपने मस्तक पर अंकुश की तरह अँगूठा रखकर वन्दना करना।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कच्छपरिंगित दोष—वन्दना करते समय बैठे-बैठे कछुए के समान सरकना वा कटि भाग को इधर-उधर करना।

मत्स्योद्वर्त दोष—मच्छली के समान एक पार्श्व से कटि भाग को उचका कर वन्दना करना।

मनोदुष्ट दोष—गुरु आदि पर क्रोध करके दुष्ट मनोभाव से वन्दना करना।

वेदिकाबद्ध दोष—वेदी के आकार में दोनों हाथों से बायें और दायें स्तन प्रदेशों को दबाते हुए वन्दना करना, अथवा दोनों हाथों से दोनों घुटनों को बाँधते हुए वन्दना करना।

भय दोष—मरण भय, वेदना भय, इहलोक भय, परलोक भय, अकस्मात् भय, अनगुप्त भय और अनरक्ष भय, इन भयों से भयभीत होकर वन्दना करना।

विभ्यता दोष—आचार्य देव के भय से कृतिकर्म करना।

ऋद्धिगौरव दोष—मेरा कृतिकर्म देखकर चार प्रकार के मुनिगणों का संघ मेरा भक्त हो जायेगा, ऐसी भावना रखकर वन्दना करना।

गौरव दोष—अपने माहात्म्य की भावना रखकर (इस प्रकार वन्दना करने से मेरी ख्याति होगी ऐसी भावना कर) कृतिकर्म करना।

........दोष—गुरू आदि से छिपकर देव वन्दना करना।

प्रतिनी दोष—गुरू की आज्ञा की अवहेलना कर उसके प्रतिकूल वृत्ति रखकर उनकी आज्ञा न मानकर देव वन्दना करना।

प्रदुष्ट दोष—किसी के साथ कलह हो जाने पर उनसे क्षमा याचना न करके या स्वयं उसको क्षमा न करके देव वन्दना करना।

तर्जित दोष—स्वयं किसी को तर्जना करते हुए अथवा आचार्य के द्वारा तर्जित (आचार्य के डांटने पर) होकर देव वन्दना करना।

शब्द दोष—वार्तालाप करते हुए कृतिकर्म करना वा प्रपंच में वन्दना करना।

लिप्त दोष—दूसरों का उपहास आदि करके या वचनों के द्वारा आचार्य आदि का तिरस्कार करके देव वन्दना करना।

कुंचित दोष—संकुचित हाथों से सिर का स्पर्श करते हुए वन्दना

करना अथवा दोनों घुटनों के बीच में सिर रखकर, संकुचित होकर वन्दना करना।

दुष्ट दोष—दिशा की ओर देखते हुए वन्दना करना।

अदृष्ट दोष—गुरु के आँखों से ओझल होकर या पिच्छिका से भूमि को प्रमार्जन न करके वन्दना करना।

संघकर मोचन दोष—संघ का कर चुकाना मानकर वन्दना करना।

अनालब्ध दोष—कमण्डलु आदि उपकरण के लाभ की इच्छा से आवश्यक क्रिया करना।

आलब्ध दोष—पिच्छिका आदि उपकरण के लाभ हो जाने पर कृतिकर्म करना।

हीन दोष—शास्त्रोक्त विधि से दण्डक आदि बोलकर काल के अनुसार कृतिकर्म नहीं करना।

उत्तर चूलिका दोष—वंदना करने में थोड़ा समय लगाना, आलोचना आदि चूलिका के उच्चारण करने में अधिक समय लगाना।

मूक दोष—गूँगे के समान मुख के भीतर-भीतर पाठ करना अथवा वंदना करते समय हुंकार करना, अँगुली आदि से संकेत करना।

दर्दुर दोष—इतना जोर से पाठ करना जिससे दूसरे की आवाज का आच्छादन हो जाय अथवा स्पष्ट आवाज न हो ऐसी वंदना करना।

सुललित दोष—वंदना करते समय पाठ को गाकर पंचम स्वर से पढ़ना।

इस प्रकार कृतिकर्म के बत्तीस दोष का कथन किया है।

प्रत्येक निमित्त-नैमित्तक क्रियाओं में कृतिकर्म के साथ कायोत्सर्ग किया जाता है उसके भी बत्तीस दोष हैं अतः कायोत्सर्ग का स्वरूप तथा उसके दोषों का कथन करते हैं—

कायादि परद्रव्यों में स्थिर भाव को छोड़कर आत्मा का चिन्तन करना, काय सम्बन्धी क्रियाओं को छोड़ देना कायोत्सर्ग है।

खड्गासन या पद्मासन से बैठकर शरीर के ममत्व को छोड़कर आत्म चिन्तन करना कायोत्सर्ग है।

परिमित कालीन और अपरिमित काल के भेद से कायोत्सर्ग दो प्रकार का है।

नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं के समय जो पच्चीस-सत्ताईस, एक सौ आठ,

तीन सौ, चार सौ, पाँच सौ आदि श्वासोच्छ्वास में जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह परिमित एवं निश्चित कालीन कायोत्सर्ग है। जैसे—मल-मूत्र करके आने पर पच्चीस श्वासोच्छ्वास में कायोत्सर्ग किया जाता है। आहार करने जाते समय प्रत्याख्यान के निष्ठापन में और आहार करके आने के बाद प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन क्रिया में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास में कायोत्सर्ग किया जाता है।

इसी प्रकार धीर वीर महामुनि कर्मों की निर्जरा करने के लिए ग्रामान्तर से आने के बाद दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक, उत्तमार्थ प्रतिक्रमणों में नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं में किया गया कायोत्सर्ग परिमित कालीन है और बाहुबली आदि के समान ध्यान के लिए महीना, दो महीना, उत्कृष्ट बारह महीना आदि पर्यन्त किया गया कायोत्सर्ग अनिश्चित या अपरिमित कालीन है अथवा एक समय में अधिक आवली से लेकर एक समय कम मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त है यह कायोत्सर्ग का जघन्य काल है और उत्कृष्ट काल एक वर्ष का है।

प्रत्येक नित्य-नैमित्तिक काल में किये जाने वाले कायोत्सर्ग बत्तीस दोष टालकर करना चाहिए। कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष निम्न प्रकार हैं—

१–जैसे घोड़ा अपना एक पाँव अकड़ लँगड़ा करके खड़ा हो जाता है वैसे खड़ा होना घोटक पाद दोष है।

२–लता के समान इधर-उधर हिलते हुए कायोत्सर्ग करना लता वक्र दोष है।

३–स्तम्भ के समान अकड़ कर, खड़ा होकर वा स्तंभ के समान शून्य हृदय होकर कायोत्सर्ग करना स्तंभ स्थिति दोष है।

४–खम्बे का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करना वा भित्ति का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करना कुण्डयाश्रित दोष है।

५–मस्तक ऊपर करके, किसी पदार्थ का आश्रय देकर खड़ा रहना मालिकोद्वहन दोष है।

६–अधर ओष्ठ का लम्बा करके वा नाभि से ऊर्ध्व भाग को लम्बा करके कायोत्सर्ग करना लम्बोत्तर दोष है।

७–स्तन पर दृष्टि करके खड़ा होना स्तन दृष्टि दोष है।

८–कौवे के समान तिरछे देखते हुए कायोत्सर्ग करना काकावलोकन दोष है।

९–लगाम से पीड़ित घोड़े के समान दाँत कटकटाते हुए मस्तक को ऊपर-नीचे करना खलीनित नामक दोष है।

१०–जुए से पीड़ित बैल के समान गरदन को लम्बी करके कायोत्सर्ग से स्थित होना युगबन्धर नामक दोष है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

११–कपित्थ के समान मुट्ठी बाँधकर कायोत्सर्ग करना कपित्थ नामक दोष है।

१२–सिर को हिलाते हुए कायोत्सर्ग करना शिर प्रकम्पित दोष है।

१३–गूँगे के समान हुंकार करते हुए तथा अँगुली आदि से किसी वस्तु का संकेत करते हुए कायोत्सर्ग करना मूक संज्ञा दोष है।

१४–अँगुली चलाते हुए वा चुटकी बजाते हुए कायोत्सर्ग करना अँगुली चालन दोष है।

१५–भ्रकुटि को टेढ़े करते हुए वा भ्रकुटि को नचाते हुए कायोत्सर्ग करना भ्रूक्षेप नामक दोष है।

१६–मदपायी के समान शरीर को इधर-उधर झुकाते हुए कायोत्सर्ग करना घूर्णन वा उन्मत्त दोष है।

१७–भील की स्त्री के समान अपने गुह्य प्रदेश को अपने हाथ से ढकते हुए कायोत्सर्ग करना शवरी गुह्यगूहन दोष है।

१८–बेड़ी से जकड़े हुए मानव के समान कायोत्सर्ग करना शृंखलित नामक दोष है।

१९–ग्रीवा को ऊपर उठाकर कायोत्सर्ग करना ग्रीवोर्ध्वनयन नामक दोष है।

२०–कायोत्सर्ग करते समय गरदन को अनेक प्रकार से नीचे झुकाना ग्रीवाधोनयन नामक दोष है।

२१–थूकते-खँखारते हुए कायोत्सर्ग करना निष्ठीवन नामक दोष है।

२२–कायोत्सर्ग करते समय शरीर का स्पर्श वपुः स्पर्श नामक दोष है।

२३–कृतिकर्म के पच्चीस, सत्ताईस आदि श्वासोच्छ्वास प्रमाण जो कायोत्सर्ग का काल है उसमें न्यूनता करना न्यूनहीन नामक दोष है।

२४–कायोत्सर्ग करते समय दशों दिशाओं का अवलोकन करते रहना दिगवलोकन नामक दोष है।

२५–मायाचार के वशीभूत होकर ऐसा खड़ा रहना जिसको देखकर लोग आश्चर्यचकित हो जाएँ, उसकी भूरी-भूरी प्रशंसा करने लगें उसको मया प्रत्यास्थिति नामक दोष कहते हैं।

२६–वृद्धावस्था या रोग के कारण कायोत्सर्ग को छोड़ देना, नित्य-नैमित्तिक कृतिकर्म में पूर्ण कायोत्सर्ग नहीं करना व्योपेक्षाविवर्जन नामक दोष है।

२७–कायोत्सर्ग करते समय चित्त का स्थिर नहीं होना, विक्षिप्त रहना व्याक्षेपासक्तचित्तता नामक दोष है।

२८–समय की कमी के कारण कायोत्सर्ग के विविध अंशों में कमी करना, भक्ति दण्डक आदि पूरे नहीं बोलना, जितने श्वासोच्छ्वास में कायोत्सर्ग कहा है उतने काल तक नहीं करना कालक्षेपातिक्रम दोष है।

२९–लोभवश चित्त में विक्षेप करके कायोत्सर्ग करना लोभाकुलता दोष है।

३०–कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक से शून्य होकर कायोत्सर्ग करना मूढ़ता नामक दोष है।

३१–हिंसादि पापों में आसक्त चित्त होकर कायोत्सर्ग करना पाप-कर्मैकसर्गता नामक दोष है।

३२–सिर को नीचा करके कायोत्सर्ग करना लंबित दोष है।[1]

जिस ग्रन्थ में कृतिकर्म का, कृतिकर्म की क्रिया, नन्दीश्वर, अष्टाह्निक, दैवसिक, रात्रिक आदि प्रतिक्रमण क्रिया में किस प्रकार करना चाहिए तथा कृतिकर्म के बत्तीस दोषों का तथा कृतिकर्म के कितने कायोत्सर्ग हैं, कायोत्सर्ग के कितने दोष हैं इन सबका विस्तारपूर्वक कथन जिसमें प्ररू-पित है उसको कृतिकर्म प्रकीर्णक कहते हैं।

॥ इस प्रकार कृतिकर्म प्रकीर्णक समाप्त हुआ ॥

दशवैकालिक प्रकीर्णक का कथन

जदिगोचारस्स विहिं पिंडविसुद्धिं च जं परूवेदि।
दसवेयालियसुत्तं दह काला जत्थ संवुत्ता ॥२४॥

यतिगोचरस्य विधिं पिण्डविशुद्धिं च यत् प्ररूपयति।
दशवैकालिकसूत्रं दश काला यत्र समुक्ताः ॥

इदि दहवेकालियं—इति दशवैकालिकं।

जो मुनिजनों के गोचर विधि और पिण्ड शुद्धि का प्ररूपण करता है अथवा जिसमें दशवैकालिक सूत्र का वर्णन किया गया है वह दशवैका-लिक प्रकीर्ण है ॥ २४ ॥

१. इन दोषों का वर्णन (कथन) अनगारधर्मामृत के अनुसार किया है।

विशेषार्थ

विशिष्ट काल को विकाल कहते हैं और विकाल में होने वाली क्रियाओं को वैकालिक कहते हैं और जिसमें दशवैकालिकाओं का वर्णन किया जाता है वह दशवैकालिक है। जो मुनिजनों के आचरण विधि, गोचर विधि और पिण्ड शुद्धि का कथन करता है।

मोक्ष प्राप्ति के लिए किये गये अनुष्ठान विशेष को आचार कहते हैं[1] और आचार के विषय को गोचर कहते हैं अथवा आत्मशुद्धि के लिए सम्यग्दर्शनादि में जो प्रयत्न किया जाता है, वह आचार है।

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, वीर्याचार और चारित्राचार के भेद से आचार पाँच प्रकार का है।

आराधना योग्य, चिदानन्द रूप शुद्धात्मतत्त्व से भिन्न सर्व पर पदार्थ हेय हैं, इस प्रकार दृढ़ प्रतीति, रुचि श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं उस दर्शन का जो आचरण अर्थात् आत्म स्वरूप में परिणमन दर्शनाचार कहलाता है।

अथवा निशंकित्व, निःकांक्षित, निर्जुगुप्सा, अमूढदृष्टित्व, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन सम्यग्दर्शन के आठ अंग सहित सम्यग्दर्शन का पालन करना दर्शनाचार है।

वर्ण, पद और वाक्य को शुद्ध पढ़ना, अनेकान्त स्वरूप अर्थ को शुद्ध पढ़ना, शब्द और अर्थ (वाक्य और वाच्य) दोनों को शुद्ध पढ़ना, शास्त्रोक्त काल में स्वाध्याय करना, पढ़ाने वाले गुरु का और पढ़े हुए शास्त्रों का नाम नहीं छिपाना, मन, वचन, काय से शास्त्र का विनय करना, शास्त्र की पूजा आदि करके पढ़ना और शास्त्र के अर्थ का अवधारण करना ये आठ प्रकार का ज्ञानाचार है।

अर्थात् ज्ञान के काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन और तदुभय ये आठ अंग हैं इनसे युक्त होना ज्ञानाचार है।

संशय, विमोह, विभ्रम रहित निज शुद्धात्मज्ञान में परिणमन करना, रमण करना ज्ञानाचार है अथवा स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा मिथ्यात्व, राग, द्वेषादि परभावों से भिन्न निज शुद्धात्मा को जानना सम्यग्ज्ञान है तथा अपनी शुद्धात्म संवेदन रूप ज्ञान में ही आचरण करना निश्चय[2] ज्ञानाचार है।

---

१. षट्खण्डागम प्रथम पुस्तक। गोम्मट्टसार जीव प्रबोधिनी कथा।

२. द्रव्यसंग्रह टीका–५२/२१।

पंच महाव्रत, पंच समिति और तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार के चारित्र का निर्दोष पालन करना अथवा बाह्याभ्यन्तर क्रियाओं का निरोध कर निज स्वरूप में लीन होना चारित्राचार है।

अनशन (उपवास करना) अवमौदर्य (भूख से कम खाना) रस परित्याग (घृतादि रसों का त्याग करना) वृत्तिपरिसंख्यान (आहार को जाते समय अटपटी प्रतिज्ञा लेना) विविक्तशय्यासन (स्वाध्याय और ध्यान की वृद्धि के लिए एकान्त में बैठना, शयन करना) कायक्लेश-काय का शोषण करना ये छह बहिरंग तप हैं। विनय (पूज्य पुरुषों का आहार) वैयावृत्य (आचार्य आदि की) निर्दोष रूप से सेवा आदि करना। स्वाध्याय (शास्त्रों का पठन, पाठन करना) प्रायश्चित्त (व्रतों में लगे हुए दोषों का निराकरण करने के लिये दण्ड लेना) व्युत्सर्ग (शरीर से ममत्व का त्याग करना) और ध्यान करना ये छह अन्तरंग तप हैं। इन बारह प्रकार के तपश्चरण का आचरण करना तथा समस्त बाह्य पदार्थों की इच्छाओं का निरोध कर निज स्वरूप में रमण करना तपाचार है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अपनी शक्ति के अनुसार ज्ञानाचार आदि में प्रवृत्ति करना अथवा दर्शनाचार, ज्ञानाचार, तपाचार, चारित्राचार रूप आचारों में प्रवृत्ति करने में शक्ति नहीं छिपाना वीर्याचार है वा अपनी शक्ति का विकास कर मुनिव्रत धारण करना वीर्याचार है।

पिण्डशुद्धि—पिण्ड शब्द के अनेक अर्थ होते हैं अन्न, ग्रास, शरीर, घटका एक देश आदि[1]। यहाँ पर पिण्डशुद्धि का अर्थ आहार शुद्धि है तथा दाता की शुद्धि है। जिसका अर्थ है मुनिजनों को किस प्रकार का आहार लेना चाहिए उनके योग्य आहार कैसा होता है।

जब साधु श्रावक के घर आहार करने जाता है तब श्रावक उनकी नवधा भक्ति करता है उसमें पडगाहन, उच्चासन, पादप्रक्षालन, पूजन, नमस्कार करके "मन शुद्ध, वचन शुद्ध, काय शुद्ध और आहार जल शुद्ध, ऐसा कहकर श्रावक साधु को "आहार ग्रहण करो" इन शब्दों में आहार ग्रहण करने का आग्रह करता है इसमें पडगाहन करना, उच्चासन देना, पादप्रक्षालन करना, पूजन करना और नमस्कार करना, ये पाँच क्रियायें

---

१. पिण्डो वृन्दे जपा पुष्पे गोले बोलेडंग सिह्लयोः। कवले पिण्डं तु वैश्मैक देशे जीवनाय सोः। बले सान्द्रे पिण्डयलाबूखजूं येस्तिगरेऽपिच इति हेमचन्द्रः। मेदनी कोष में भी पिण्ड के अनेक अर्थ हैं।

श्रावक के आन्तरिक भक्ति या अनुराग के द्योतक हैं। पात्र के प्रति श्रावक का कितना आदर है, वह इन पाँच क्रियाओं से प्रकट होता है।

श्रावक और मुनि का परस्पर गुरु-शिष्य का सम्बन्ध रहता है। गुरु शिष्य का विश्वास रखता है। आहारशुद्धि श्रावक पर निर्भर रहती है। अतः श्रावक कहता है 'गुरुदेव ! यह आहार शुद्ध है और मेरा मन, वचन, काय भी शुद्ध है।

आहार की शुद्धि के कारण आठ हैं—उद्गम, उत्पादन, अशन, संयोजन, प्रमाण, अंगार, धूम, अधःकर्म इन दोषों से रहित आहार (भोजन) शुद्ध आहार वा पिण्डशुद्धि कहलाती है।

इन आठों का संक्षेप में स्वरूप इस प्रकार है—

उद्गम दोष के १६ भेद हैं—

१–औद्देशिक दोष—नाग, यक्ष देवता, अन्य पाखण्डी, दीनजन वा दिगम्बर जैन मुनि आदि किसी का भी उद्देश (निमित्त) लेकर बनाया हुआ आहार औद्देशिक दोष से दूषित कहलाता है।

२–अध्यधि दोष—संयमी मुनिराज को आते हुए देखकर उनको देने के लिए अपने निमित्त पकते हुए जल, चावल आदि में जल-चावल आदि डालकर पकाना अध्यधि दोष है।

३–पूति दोष—जिस पात्र से अन्य भेषो आदि को आहार दिया है उस पात्र में पकाया हुआ आहार दिगम्बर साधु को देना या प्रासुक वस्तु में सचित्त जलादि अप्रासुक वस्तु मिलाकर देना पूति दोष है।

४–मिश्र दोष—प्रासुक आहार दिगम्बर साधु को और अन्य गृहस्थादि को साथ में देना मिश्र दोष है।

५–स्थापित दोष—जिस पात्र में वा घर में भोजन पकाया है उस भाजन से दूसरे भाजन में निकाल कर दूसरे घर में स्थापित कर संयमी को देना स्थापित दोष है।

६–बलि दोष—यक्ष, नाग आदि की पूजा के लिए बनाए हुए आहार को साधु को देना बलि दोष है।

७–प्राभृत दोष—आहार देने की तिथि के नियम का उत्कर्षण (बढ़ाकर) करके अपकर्षण (घटाकर) करके देना प्राभृतदोष है।

८–प्रादुष्कार दोष—साधु के घर में आ जाने के बाद भोजन-भाजन आदि को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना, भाजन को माँजना, साधु के जाने के बाद दीपक से प्रकाश करना प्रादुष्कार दोष है।

९-क्रीत दोष—संयमी के भिक्षार्थ प्रवेश करने पर गाय, वस्त्र, भोजन आदि देकर बदले में भोजन लेकर साधु को देना क्रीत दोष है।

१०-प्राभृष्य दोष—संयमी जनों को आहार कराने के लिए दूसरों से उधार भात आदि भोजन सामग्री लेकर देना प्राभृष्य दोष है।

११-परिवर्तन दोष—साधुओं को आहार कराने के लिए अपने चावल आदि देकर दूसरों से बढ़िया चावल आदि लेकर साधु को आहार देना वह परिवर्तन दोष है।

१२-अभिघट दोष—पंक्तिबद्ध सीधे तीन या सात घरों से आया हुआ योग्य भोजन आभिन्न है अर्थात् ग्रहण करने योग्य है इसके विपरीत आहार अभिघट दोष से युक्त है। सर्वाभिघट दोष के चार भेद हैं। स्वग्राम, परग्राम, स्वदेश और परदेश से लाया हुआ पूर्व दिशा अथवा पश्चिम दिशा आदि से लाया हुआ आहार साधु को देना सर्वाभिघट दोष है।

१३-उद्भिन्न दोष—मिट्टी, लाख आदि से आच्छादित घट आदि को खोलकर साधु को आहार देना उद्भिन्न दोष है।

१४-मालारोहण दोष—काष्ठ आदि की बनी हुई सोपान पर चढ़कर, घर के ऊपर के खन पर चढ़कर वहाँ रखे हुए लड्डू-पूरी आदि लाकर साधु के लिए देना मालारोहण दोष है।

१५-अच्छेद्य—राजभय, चौरभय आदि से जो साधु को आहार दिया जाता है वह अच्छेद्य दोष है।

१६-अनिसृष्ट दोष—स्वामी की अनिच्छा से दिया गया अन्न अनिसृष्ट दोष से दूषित है।

ये १६ उद्गम दोष गृहस्थ के आश्रित हैं क्योंकि आहार गृहस्थ बनाता है। दोष ज्ञात होने पर आहार साधु आहार ग्रहण नहीं करते।

उत्पादन दोष के भी १६ भेद हैं—

१-धात्री दोष—बालक को स्नान कराने वाली, पालन-पोषण करने वाली धात्री कहलाती है। उस धात्री का उपदेश वा धात्री के समान बालक को अपने पास बिठाकर भोजन करवाना आदि कार्य करके आहार ग्रहण करना धात्री दोष है।

२-दूत दोष—एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जाने पर किसी सम्बन्धी के समाचार कहकर आहार लेना दूत दोष है।

३–निमित्त दोष—व्यंजन, अंग, स्वर, छिन्न, भौम, अन्तरिक्ष, लक्षण, स्वप्न इन अष्ट प्रकार के निमित्तों से शुभाशुभ कथन करके आहार ग्रहण करना निमित्त दोष है।

४–आजीव दोष—अपने जाति, कुल, विद्या, तपश्चरण आदि के माहात्म्य को प्रकट करके आहार ग्रहण करना आजीव दोष वा स्वगुण स्तवन दोष है।

५–वनीपक वा इच्छाविभाषण दोष—कुत्ता, भिखारी आदि के दान देने से पुण्य होता है क्या ? दाता के द्वारा पूछने पर दाता के अनुकूल कथन करके आहार ग्रहण करना वनीपक दोष है।

६–पूर्व स्तुति दोष—जो साधु स्तुति वाचक वचनों के द्वारा आहार के पूर्व दाता की स्तुति करके आहार लेता है वह पूर्व स्तुति दोष है।

७–पश्चात् स्तुति दोष—आहार करने के बाद दाता की स्तुति करता है पश्चात् स्तुति दोष है।

८–क्रोध दोष—क्रोध के वशीभूत हो दातार को डाँट फटकार करके आहार लेना क्रोध दोष है।

९–मान दोष—मान कषाय के वशीभूत होकर आहार लेना मान दोष है।

१०–माया दोष—छल कपट करके आहार लेना माया दोष है।

११–लोभ दोष—आहार दान देने से शुभ भोगों की प्राप्ति होगी, इत्यादि वचनों के द्वारा दाता को लोभ दिखाकर आहार लेना लोभ दोष है।

१२–वश्यकर्म दोष—वशीकरण मन्त्र आदि देकर आहार लेना वश्यकर्म दोष है।

१३–चिकित्सा दोष—रोग शमन औषधियों का आहार के लिए उपयोग करना अथवा रोगों की चिकित्सा बताकर आहार लेना चिकित्सा दोष है।

१४–विद्योपजीवन दोष—हम तुमको ऐसी विद्या[1] देंगे जिससे तुम्हारे सारे कार्य सिद्ध हो जायेंगे इत्यादि वचनों से गृहस्थ को आकर्षित करके आहार लेना विद्योपजीवन दोष है।

१५–मन्त्रोपजीवन दोष—गृहस्थों को मन्त्र देने की आशा देकर मन्त्र

१. जो साधना से सिद्ध होती है वह विद्या कहलाती है।

की महिमा बताकर वा मन्त्र के द्वारा व्यन्तर आदि देवों को बुलाकर आहार लेना मन्त्रोपजीवन दोष है।

१६–चूर्णोपजीवन दोष—शरीर की शोभा बढ़ाने वाले चूर्ण आदि के द्वारा गृहस्थ को आकर्षित करके आहार लेना चूर्णोपजीवन दोष है।

ये १६ दोष मुनिराज के आश्रित हैं, क्योंकि ऐसी क्रिया करके मुनिराज आहार लेते हैं।

अशन सम्बन्धी दश दोषों का कथन इस प्रकार है—

१–जिस भोजन में प्रासुक है कि अप्रासुक है। इस प्रकार शंकित होकर आहार लेना शंकित दोष है।

२–चिकने हाथ या बर्तन से दिया गया आहार लेना म्रक्षित दोष है।

३–सचित वस्तु पर रखा हुआ आहार ग्रहण करना निक्षिप्त दोष है।

४–सचित पत्ते आदि से ढका हुआ आहार लेना पिहित दोष है।

५–हस्तगत आहार को अधिक नीचे गिराना, थोड़ा खाना उज्झित दोष है।

६–भाजन आदि का लेन-देन शीघ्रता से कर बिना देखे भोजन पान लेना संव्यवहरण दोष है।

७–मद्यपायी, रोगी, सूतक पातक वाले, नपुंसक, मुर्दे जलाकर आये हुए, दासी, दास, आर्यिका, अन्यभेषधारी, अंग मर्दन करके आजीविका करने वाले, अति बालक, अत्यधिक वृद्ध, खाते हुए, मुनिराज से ऊँचे स्थान पर खड़े हुए, अधिक नीचे स्थान पर खड़े हुए, इत्यादि शास्त्र निषिद्ध दातार के हाथ से आहार लेना दातृदोष है।

८–सचित अप्रासुक जल आदि से मिले हुए आहार को ग्रहण करना उन्मिश्र दोष है।

९–अग्नि से जो पूर्णतया परिपक्व न हो, जिसका रस, वर्ण, गन्ध, परिवर्तित नहीं हुआ है, उस आहार को ग्रहण करना अपक्व दोष है।

१०–घृत आदि से लिप्त चम्मच आदि से आहार लेना लिप्त दोष है।

ये दश असन दोष हैं—

१–जिह्वा इन्द्रिय के स्वाद के लिये आहार में नमक आदि मिलाकर खाना संयोजन दोष है।

२–भूख से अधिक भोजन करना अप्रमाण दोष है।

३–रुचिकर भोजन मिलने पर राग-भाव से रुचिपूर्वक ग्रहण करना अंगार दोष है।

४–अरुचि या अमनोज्ञ आहार मिलने पर अरुचि से आहार करना धूम दोष है।

इन छ्यालीस दोषों से भी महान् दोष है अधःकर्म। वह जीवों के आरम्भ (प्राणियों के प्राणों का व्यपरोपण करना) उपद्रव,[1] संतापन,[2] विदावण[3] आदि करके महान् दोषों से दूषित अधःकर्म कहलाता है। इस अधःकर्म दोष को मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से करके आहार लेना अधःकर्म दोष दूषित आहार है।

इन ४६ दोषों को टालकर शुद्ध आहार लेने वाले के भी अन्तभुक्ति (आहार) में अन्तराय (बाधा) करने वाली अन्तरायें कितनी होती हैं, उनका वर्णन करते हैं।

अन्तराय बत्तीस होती हैं। उसमें कितनी अन्तरायें देखने से होती हैं, कितने ही स्पर्श करने से होती हैं, कितने ही मन में स्मरण कर लेने मात्र से होती हैं, कितने ही शब्द सुनने से ही होती हैं, कितने ही सूँघने से होती हैं और कितने ही चखने अथवा स्वाद लेने से भक्षण कर लेने पर होती हैं।

गीला चमड़ा, गीली हड्डी, मदिरा, मांस, लहू (खून), पीव, मल (टट्टी), मृतक, पंचेन्द्रिय प्राणी, चण्डाल आदि के देखने पर अन्तराय होती हैं। अर्थात् इन पदार्थों को देखकर आहार छोड़ दिया जाता है।

रजस्वला स्त्री, सूखा चमड़ा, सूखी हड्डी, कुत्ता, बिल्ली, चण्डाल आदि का स्पर्श हो जाने पर अन्तराय होती है।

इसका मस्तक काटो, हा हा इत्यादि रूप आर्त्त स्वर वाले शब्द को, चण्डाल के शब्द, रजस्वला स्त्री के शब्द, सुअर के शब्द, मोह से उत्पन्न रुदन के शब्द अथवा दीनता, शोक, संताप के शब्द सुनकर आहार छोड़ दिया जाता है। यह सुनने में होने वाली अन्तराय है।

जिस वस्तु का त्याग कर दिया उस वस्तु के खाने में आ जाने पर अथवा किसी पदार्थ का त्याग किया था स्मरण नहीं रहा, थोड़ा खाने के बाद स्मरण आया हो, हाथ में अथवा मुख में भरा हुआ जन्तु, नख, रोम (केश) हड्डी के आ जाने पर भोजन का परित्याग कर दिया जाता है।

---

१. प्राणियों का उपद्रवण करना उपद्रव है।
२. प्राणियों को परितापन करना संताप है।
३. प्राणियों का छेदन-भेदन करना विदावण कहलाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इन वस्तुओं के खाने पर अथवा इन संसर्ग हुई वस्तु के खाने पर अन्तराय होती है।

मद्य की, मृतक प्राणी आदि की दुर्गन्ध आने पर अन्तराय करना गन्ध सम्बन्धी अन्तराय है।

किसी वस्तु को देखकर उसकी दूसरे पदार्थ का मन से स्मरण अथवा संकल्प हो जाने पर आहार में अन्तराय होती है। जैसे किसी लाल वस्तु को देखकर खून का संकल्प हो जाना यह मांस जैसा है। इत्यादि मानसिक विचार हो जाने पर अथवा मन में संशय हो जाने पर आहार में अन्तराय होते हैं यह मन सम्बन्धी अन्तराय है तथा और भी साधु की कुछ विशेष अन्तराय हैं जैसे—

साधु के आहार के लिए जाते समय अथवा खड़े रहते समय उनके ऊपर कौआ आदि बीट कर देते हैं तो वह काकनामा भोजन का अन्तराय है।

आहार को जाते समय, अशुचि मल-मूत्रादि वस्तु से चरण लिप्त हो जाना वह अमेध्य अन्तराय है।

भोजन करते समय छर्दि (वमन) हो जाय तो छर्दिनामा अन्तराय है।

आहार करते समय कोई कहता है "इसको यह आहार मत देवो" ऐसा कहने पर साधु आहार छोड़ देता है वह रोध नाम का अन्तराय है।

अपने या दूसरे का खून निकलता देखकर अन्तराय करना रुधिर अन्तराय है।

अपने या दूसरों के आँखों में दुःख से अश्रुधारा निकलती हुई देखकर आहार नहीं करना अश्रुपात अन्तराय है।

पैर के नीचे के भाग का स्पर्श करने पर अन्तराय होती है वह जान्वधः परामर्श अन्तराय है।

घुटने प्रमाण काठ के ऊपर उल्लंघन कर नहीं जाते अतः जानूपरि व्यतिक्रम अन्तराय है।

नाभि से नीचा मस्तक कर निकलना वह नाभ्यधोनिर्गमन अन्तराय है।

त्याग की हुई वस्तु खाने में आ जाने पर आहार का त्याग करना प्रत्याख्यान सेवना नामक अन्तराय है। किसी जीव का घात करते देख लिया, किसी हिंसक जीव से किसी जीव का वध होने में अन्तराय होती है। वह जन्तुवध अन्तराय है।

रस, पीप, हड्डी, मांस, रक्त, चमड़ा आदि के देखने पर अन्तराय है।

पाणि-पात्र से ग्रास नीचे गिर जाये तो पाणिता पिण्ड पतन अन्तराय है।

पाणि (हाथ) पात्र से कौआ ग्रास ले आए वह काकादि पिण्डहरण अन्तराय है।

दोनों पैरों के बीच में से चूहा आदि पंचेन्द्रिय जीव निकल जाने पर जीव संताप नामक अन्तराय है।

आहार करते समय यतिजन के उदर से क्रमि (कीड़ा) मल, मूत्र, रक्त, पीप आदि कुछ भी निकल जाय तो अन्तराय होती है।

आहार करते समय मुख से कफ आदि निकालना निष्ठीवन अन्तराय है। आहार करते-करते साधु बैठ जाय तो उपवेशन नामक अन्तराय है।

मुनिराज के मुख में अथवा हाथ में बाल, नख, प्राणी का शरीर अस्थि आदि आ जाय तो अन्तराय होती है।

चर्या को जाते समय मुनिराज पर कोई प्रहार करे तो अन्तराय होती है।

ग्राम दाह-ग्राम में अग्नि लगी हो, ग्राम जल रहा हो, हाहाकार मचा हो तो साधु आहार नहीं करते। उनके अन्तराय हो जाती है।

अशुभ ग्रवीभत्स्य वाक श्रवण अन्तराय अर्थात् अशुभ उग्र तीव्र मर्म भेदी वचन सुनने में आ जाय, निर्दय और भयावह शब्द श्रवण गोचर हो जाने पर अन्तराय हो जाता है।

कोई उपसर्ग आ जाता है तो अन्तराय होती है।

दातार के हाथ से भोजन का पात्र गिर जाय तो या आहार नीचे गिर जाय तो अन्तराय होती है।

मुनि चर्या के लिए बिना पड़गाहन किये श्रावक के घर में कहाँ तक जा सकते हैं जहाँ तक प्रायः सभी लोग जा सकते हैं। उस घर प्रवेश के समय यदि अभोज्य आहार के अयोग्य हिंसक चण्डाल, वेश्या, शूद्र आदि के घर में प्रवेश हो जाये तो अन्तराय हो जाती है।

जानु अधः स्पर्शन, बिना दिया कुछ ग्रहण कर ले अदत्त ग्रहण नामक अन्तराय है।

पाँव के द्वारा भूमि पर से कुछ उठा लेना तो अन्तराय होता है। हाथ के द्वारा कुछ उठा लिया जाय तो अन्तराय है। चण्डाल आदि का स्पर्श, इष्ट का मरण हो जाय, कलह हो जाय आदि और भी आहार के अन्तराय के अनेक कारण हैं जिसके उपस्थित होने पर साधु आहार को छोड़ देते हैं

तथा राजादिक का भय होने से, लोक निन्दा होने से अथवा संयम के लिए, वैराग्य के लिए, द्रव्य, क्षेत्र, काल के आश्रय से योग्य-अयोग्य को जानकर भिक्षा शुद्धि से युत होकर आहार करते हैं अतः आचार्यों ने साधु जनों को आदेश दिया है कि योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जानकर इस प्रकार चेष्टा करें कि शुद्ध निर्दोष चर्या से आत्मध्यान की उमंग बढ़ती रहे। इस प्रकार आहार के दोषों और अन्तराय को टालकर आहार लेना आहारशुद्धि या पिण्डशुद्धि है।

मन शुद्धि से आत्म परिणाम विशुद्धि कही जाती है। दाता की परिणाम विशुद्धि मन शुद्धि है। पात्र में ईर्षा नहीं होना, त्याग में विषाद नहीं होना, दान देने वाले में और पात्र में प्रीति होना, दया, क्षमा, कुशल अभिप्राय, प्रत्यक्ष फल की आकांक्षा नहीं करना, निदान नहीं करना, किसी से विसंवाद नहीं करना, श्रद्धा भक्ति, निर्लोभता, सन्तोष, अलुब्धता ये दाता के गुण भी भाव विशुद्धि है। सक्लेश परिणामों के आहार देना योग्य नहीं है।

असभ्य, कटु, परनिन्दा कारक, सावद्ययुक्त वचन नहीं बोलना, शिष्ट आदर सूचक वचन बोलना वचनशुद्धि है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी

शरीर में कुष्ठ आदि रोग का नहीं होना, सूतक-पातक वाला नहीं हो, चण्डाल, नापित, रजक आदि हीन जाति का न हो, विजातीय विवाह वा विधवा से उत्पन्न हुआ न हो इत्यादिक की सूचक कायशुद्धि है तथा रोगी, अतिवृद्ध, बालक, उन्मत्त, अंधा, गूँगा, अशक्त, भय युक्त, शंका युक्त आहार नहीं लेना। यह सब कायशुद्धि में गर्भित है। आहारशुद्धि के प्रकरण में छह बातें विख्यात हैं—द्रव्य शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि, काल शुद्धि, मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि।

देने योग्य पदार्थ, शास्त्रोक्त विधि से द्रव्य शुद्ध होना द्रव्यशुद्धि है अथवा चौदह मल दोष रहित, यत्नपूर्व का शोधा हुआ आहार द्रव्यशुद्ध है।

सूर्योदय से तीन घटिका बाद सूर्यास्त के तीन घटिका पूर्व का ही काल में आहार ग्रहण करना कालशुद्धि है।

आहार लेने का जो क्षेत्र है वह कैसा होना चाहिए। गीला न हो, अन्धकार युक्त न हो, मद्य, मांस आदि से युक्त न हो यह क्षेत्रशुद्धि है। इनका विशेष विस्तार मूलाचार आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए।

इस प्रकार जिस ग्रन्थ में मुनिगणों के आहार की विशुद्धि का वर्णन है तथा दशवैकालिक का अर्थ विशिष्ट काल में होने वाली मुनियों की क्रिया

जिनका वर्णन कृतिकर्म में किया है। कौनसी क्रिया किस समय करनी चाहिए उसको वैकालिक कहते हैं। जैसे—प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, देव-वन्दना, स्वाध्याय, अष्टमी, चतुर्दशी, नन्दीश्वर, वर्षा योग, पंच कल्याण, मंगल गोचर आदि क्रियाओं का जो काल कहा है उस विशिष्ट काल में उन क्रिया को करना दशवैकालिक कहलाता है[1]।

चार स्वाध्याय काल, दो प्रतिक्रमण काल, तीन वन्दना काल और प्रत्याख्यान का काल ये दश विशिष्ट काल हैं इसमें होने वाली क्रिया को दशवैकालिक क्रिया कहते हैं।

प्रातःकाल सूर्योदय काल के दो घटिका काल व्यतीत होने के बाद से लेकर बारह बजे के दो घटिका पूर्व काल पौर्वाह्लिक स्वाध्याय का काल है। बारह बजे के दो घटिका के बाद और सूर्यास्त के दो घटिका[2] पूर्व का काल मध्याह्न स्वाध्याय का है।

रात्रि प्रारम्भ के दो घटिका बीत जाने पर स्वाध्याय आरम्भ का काल है और १२ बजने के काल के दो घटिका पूर्व स्वाध्याय समाप्ति का काल है। तत्पश्चात् बारह बजने के दो घटिका बीत जाने पर स्वाध्याय का प्रारम्भ काल है और सूर्योदय के दो घटिका पूर्व स्वाध्याय की समाप्ति का काल है। ये चार स्वाध्याय काल हैं।

वैरात्रिक स्वाध्याय के अनन्तर प्रतिक्रमण काल है वह रात्रिक प्रति-क्रमण है। मध्याह्लिक स्वाध्याय काल के बाद दैवसिक प्रतिक्रमण किया जाता है ये दो सन्ध्या प्रतिक्रमण का काल है। तीनों संध्या तीन वन्दना का काल है।

प्रातःकालीन स्वाध्याय के अनन्तर देववन्दना करके प्रत्याख्य की निष्ठापन करके आहार को जाना यह प्रत्याख्यान काल है। इस प्रकार ये दश विशिष्ट काल हैं। इन विशिष्ट कालों में होने वाली क्रिया है कि किस क्रिया में कितने कायोत्सर्ग हैं, कौनसी भक्ति का पाठ करना चाहिए इत्यादि का कथन दशवैकाशिक क्रिया कहलाती है। इन क्रियाओं का विशेष कथन मूलाचार, अनागारधर्मामृत आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए।

संक्षेप में इनका वर्णन कृतिकर्म में किया है वहाँ से जानना चाहिए।

इस प्रकार दशवैकालिक क्रियाओं का, पिण्डशुद्धि का और दर्शनाचार

---

१. त्रिकाल में होने वाली क्रियाओं का विशेष खुलासा नहीं हो रहा है।

२. चौबीस मिनट की घटिका होती है।

आदि पाँच आचार तथा दर्शन, विनय आदि पाँच प्रकार के विनय वर्णन जिसमें हैं वह दशवैकालिक है।

॥ इस प्रकार दशवैकालिक प्रकीर्णक समाप्त ॥

उत्तराध्ययन नामक प्रकीर्णक का कथन

उत्तराणि अहिज्जंति उत्तरज्झयणं मदं जिणिंदेहिं।
वावीसपरीसहाणं उवसग्गाणं च सहणविहिं ॥२५॥

उत्तराणि अधीयन्ते उत्तराध्ययनं मतं जिनेन्द्रैः।
द्वाविंशतिपरीषहानां उपसर्गाणां च सहनविधिं ॥

वण्णेदि तत्फलमवि एवं पण्हे च उत्तरं एवं।
कहदि गुरु सीसयाणं पइण्णिय अट्ठम तं खु ॥२६॥

वर्णयति तत्फलमपि एवं प्रश्ने च उत्तरं एवं।
कथयति गुरुः शिष्येभ्यः प्रकीर्णकं तदष्टमं तत्खलु ॥

इति उत्तराज्झयणं—इत्युत्तराध्ययनं।

चार प्रकार (तिर्यञ्च, मानव, देव और अचेतन कृत) के उपसर्गों को कैसे सहन करना चाहिये, बाइस परीषहों के सहन करने की विधि क्या है, उपसर्ग एवं परीषहों को सहन करने से क्या फल प्राप्त होता है इत्यादि प्रश्नों का उत्तर गुरु-शिष्यों के लिए देते हैं तथा प्रश्नों का उत्तर जिसमें पढ़े जाते हैं उनके प्रश्नों का अध्ययन किया जाता है, वह अष्टम उत्तराध्ययन नामक प्रकीर्णक कहलाता है ॥ २५-२६ ॥

विशेषार्थ

परीषह किसको कहते हैं, परीषह उपसर्ग सहन करने की प्रक्रिया क्या है, उनके सहन करने से क्या फल प्राप्त होता है ऐसा प्रश्न पूछने पर उत्तर दिया जाता है वह उत्तराध्ययन है। सन्मार्ग से च्युत न होने के लिये और कर्मों की निर्जरा करने के लिए जो सहन की जाती है उसको परीषह कहते हैं अर्थात् क्षुधादि वेदना के होने पर भी कर्म निर्जरा के लिए सहन करना परीषह कहलाती है।

भूख, प्यास आदि अनेक प्रकार की तीव्र वेदना आने पर भी संक्लेश परिणाम नहीं होना परीषह जय है। वे परीषह निम्न प्रकार हैं—

निर्दोष आहार न मिलने पर अथवा अल्प आहार मिलने पर मानसिक खेद नहीं होना व कर्म निर्जरा के लिए समतापूर्वक क्षुधा वेदना को सहन करना क्षुधा परीषह जय कहलाता है।

उपवास व गर्मी आदि के कारण तीव्र प्यास लगने पर उसका प्रतिकार नहीं करना, अपितु सन्तोषरूपी जल के द्वारा प्यास को शान्त करना तृषा परीषह जय है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर

शीतकालीन ठण्डी वायु या हिम की असह्य शीत को शांतिपूर्वक सहन करना शीत परीषह जय है।

ग्रीष्मकाल की प्रचण्ड गर्म वायु आदि से उत्पन्न वेदना को समतापूर्वक सहन करना उष्ण परीषह जय है।

नग्नता के प्रति अपने मन में किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होने देना नग्न परीषह जय है। नागन्य से ही ब्रह्मचर्य व्रत का निर्दोष पालन होता है।

इन्द्रिय विषयों से विरक्त होकर, संगीत आदि से रहित शून्यगृह, वृक्ष, कोटर आदि में निवास करना तथा स्वाध्याय में लीन रहना, अरति परीषह जय है।

स्त्रियों के भ्रू-विलास, नेत्र कटाक्ष, शृंगार आदि को देखकर मानसिक विकार उत्पन्न नहीं होना, कछुए के समान इन्द्रियों और मन का संयमन करना स्त्री परीषह जय है।

नंगे पैर चलते समय कंकड़, काँटे आदि के चुभने पर उत्पन्न वेदना को समतापूर्वक सहन करना चर्या परीषह जय है।

ध्यान, स्वाध्याय के लिए नियतकाल पर्यन्त स्वीकार किये गये आसन से देवादि कृत उपसर्ग आने पर भी च्युत नहीं होना निषद्या परीषह जय है।

ऊँच, नीच, कंकड़, बालू आदि से कठोर भूमि पर एक करवट से लकड़ी, पत्थर के समान निश्चल सोना शय्या परीषह जय है।

दुष्ट और अज्ञानी जनों के द्वारा कहे गये कठोर वचन व असत्य दोषारोपण को सुनकर हृदय में रंच मात्र भी कषाय नहीं करना आक्रोश परीषह जय है।

तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों के द्वारा शरीर पर प्रहार करने वाले पर द्वेष नहीं करना अपितु पूर्वोपार्जित कर्म का फल विचार कर शान्तिपूर्वक सहन वध परीषह जय है।

तप या रोग के द्वारा शरीर सूख कर अस्थि-पंजर मात्र बन जाने पर भी दीन वचन, मुख वैवर्ण्य आदि के द्वारा भोजन, औषधि आदि की

याचना नहीं करना याचना परीषह जय है। अनेक दिनों तक आहार न मिलने पर भी मन में खेद नहीं करना, लाभ की अपेक्षा अलाभ को ही तप का हेतु समझना अलाभ परीषह जय है।

शारीरिक रोगों के उत्पन्न होने पर भी रंच मात्र मानसिक आकुलता का नहीं होना, औषधि आदि से उसके प्रतिकार की भावना नहीं करना रोग परीषह जय है।

चलते समय काँटे आदि के चुभने पर खेद खिन्न नहीं होना तृण स्पर्श परीषह जय है।

पसीना आदि से शरीर पर धूलि आदि के जम जाने पर उत्पन्न खुजली आदि से खेद खिन्न नहीं होना, शरीर को नहीं खुजलाना मल परीषह जय कहलाता है।

प्रशंसा करने को सत्कार तथा किसी कार्य में किसी को प्रधान बना देना पुरस्कार है। लोगों द्वारा सत्कार पुरस्कार न दिये जाने पर मलिन चित्त नहीं होना सत्कार पुरस्कार परीषह जय है।

तर्क, व्याकरण, साहित्य, छन्द, अलंकार, अध्यात्मशास्त्र आदि विद्याओं में निपुण होने पर भी ज्ञान का मद नहीं करना प्रज्ञा परीषह जय है।

सकल शास्त्रों के पारगामी होने पर भी दूसरों के द्वारा किये गये, यह महामूर्ख आदि आक्षेपों को सुनकर मन में कषायों का प्रादुर्भाव नहीं होना अज्ञान परीषह जय है।

चिरकाल तप करने पर भी ऋद्धियों आदि के उत्पन्न न होने पर भी यह विचार नहीं करना कि यह दीक्षा निष्फल है। व्रतों का धारण करना व्यर्थ है, यह अदर्शन परीषह जय है।

इन बाईस परीषहों को सहन करने से आस्रव का विरोध करने वाली (संवर पूर्वक) निर्जरा होती है।

किसी भी बाह्य निमित्त से अचानक आ जाने वाली विपत्ति को उपसर्ग कहते हैं। वह उपसर्ग चार प्रकार का होता है—अचेतनकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत और देवकृत।

अचेतन धूलि कण्टक, अग्नि, जल आदि के द्वारा जो कष्ट उत्पन्न होते हैं वह अचेतन कृत उपसर्ग हैं। जैसे शिवभूति मुनिपर तृणपुंज आकर गिर गया परन्तु मुनिराज अपने ध्यान से विचलित नहीं हुये।

मनुष्यकृत उपद्रव मनुष्यकृत उपसर्ग कहलाता है जैसे राजकुमार, पाण्डव, अकम्पनाचार्य आदि पर होने वाला उपसर्ग।

सुकुमाल, सुकोशल आदि के समान तिर्यंचकृत उपद्रव तिर्यंचकृत उपसर्ग कहलाता है।

श्रीदत्त, विद्युच्चर आदि मुनिगणों पर देवों के द्वारा किये गये उपद्रवों को देवकृत उपसर्ग कहते हैं।

परीषह एवं उपसर्ग सहन करने की विधि—

आत्मचिन्तन से मन एकाग्र हो जाता है और इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं तथा मन के एकाग्र हो जाने से स्वसंवेदन के द्वारा आत्मा की अनुभूति होती है जहाँ आत्मा की अनुभूति होती है, आत्मलीनता होती है वहाँ बाह्य सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता अतः उपसर्ग और परीषहों को सहन करने की विधि या उपाय है आत्मचिन्तन, आत्मलीनता तथा वस्तु स्वरूप का मनन, चिन्तन, स्मरण।

परीषह एवं उपसर्ग के सहन करने का फल है—नवीन कर्मों का संवर और पुरातन कर्मों की निर्जरा। पूज्यपाद स्वामी ने कहा है—भूख, प्यास आदि वेदन का अनुभव न करने से तथा आत्मा का आत्मा में स्थिर हो जाने से शुभाशुभ कर्मों की संवर पूर्वक निर्जरा होती है। जो मानव परीषहों को सहन करते हैं वे उपसर्ग दुःख संकट आने पर अपने संयम से च्युत नहीं होते।

इस प्रकार उपसर्ग एवं परीषह का स्वरूप, उनके सहन करने की विधि तथा उनके सहन करने का फल का कथन उत्तराध्ययन में किया जाता है।

॥ इति उत्तराध्ययन प्रकीर्ण समाप्त ॥

कल्प प्रकीर्ण का कथन

कप्पव्ववहारो जहिं ववहिज्जइ जोग कप्पमाजोगा।
सत्थं अवि इसिजोग्गं आयरणं कहदि सव्वत्थ ॥२७॥

कल्पव्यवहारः यत्र व्यवह्नियते योग्यं कल्प्यं अयोग्यं।
शास्त्रमपि ऋषियोग्यं आचरणं कथयति सर्वत्र॥

एवं कप्पववहारो गदो—एवं कल्पव्यवहारो गतः।

कल्प नाम आचार का है और उस आचार के वर्णन करने का नाम कल्प व्यवहार है। जो प्रकीर्णक (शास्त्र) ऋषियों के योग्य आचरण का

सर्वत्र वर्णन करता है तथा अयोग्य आचरण का कथन कर, अयोग्य आचरण होने पर प्रायश्चित्त विधि का वर्णन करता है वह कल्प व्यवहार प्रकीर्ण कहलाता है ॥ २७ ॥

विशेषार्थ

अचेलकत्व, उद्दिष्ट भोजन का त्याग, शय्याग्रह, वसतिका बनाने वाले वा सुधारने वाले के घर के आहार का त्याग, राज पिण्ड त्याग, कृतिकर्म–साधुओं की सेवा-विनय करना। व्रत—जिसको व्रत का स्वरूप ज्ञात है उसको व्रत देना, ज्येष्ठ—अपने बड़े साधुओं का योग्य विनय करना। प्रतिक्रमण—प्रतिदिन नित्य लगे हुए दोषों का निराकरण करना। मासैकवासता—एक स्थान में चतुर्मास को छोड़कर शेष समय में एक महीने से अधिक एक स्थान में नहीं रहना। पद्य—वर्षा काल में चार मास एक स्थान में रह सकते हैं इत्यादि रूप से कल्पों का कथन जिसमें है वह कल्प व्यवहार प्रकीर्णक (शास्त्र) कहलाता है।

॥ इस प्रकार कल्प का कथन समाप्त हुआ ॥

कल्पाकल्प प्रकीर्णक का कथन

कप्पाकप्पं तं चिय साहूणं जत्थ कप्पमाकप्पं।
वण्णिज्जइ आसिच्चा दव्वं खेत्तं भवं कालं ॥२८॥

कल्प्याकल्प्यं तदेव साधूनां यत्र कल्प्यमकल्प्यं।
वर्ण्यते आश्रित्य द्रव्यं क्षेत्रं भवं कालं ॥

इति कप्पाकप्प—इति कल्प्याकल्प्यं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर यह मुनियों के कल्प्य करने योग्य है यह अकल्प्य (नहीं करने योग्य) है। इस प्रकार का वर्णन जिसमें है वह कल्पाकल्प प्रकीर्णक कहलाता है ॥ २८ ॥

विशेषार्थ

आहार-विहार आदि क्रिया में कौनसी क्रिया करने योग्य है, आहार के योग्य कौन से घर हैं, अभोज्य घर में आहार नहीं करना चाहिये आदि सर्व क्रियाओं का वर्णन इसमें किया जाता है। कौनसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आश्रय लेने योग्य है, किस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का त्याग किया जाता है आदि का कथन इसमें पाया जाता है। श्रुतभक्ति के अर्थ में पूज्यपाद स्वामी ने गृहस्थ तथा मुनिराजों के व्रत, क्रिया आदि करने योग्य क्रियाओं का कथन है।

॥ इति कल्पाकल्प समाप्त ॥

महाकल्प प्रकीर्णक का कथन

महकप्पं णायव्वं जिणकप्पाणं च सव्वसाहूणं।
उत्तमसंहडणाणं दव्वक्खेत्तादिवत्तीणं ॥२९॥

महाकल्प्यं ज्ञातव्यं जिनकल्पानां च सर्वसाधूनां।
उत्तमसंहननानां द्रव्यक्षेत्रादिवर्तिनां ॥

तियकालयोगकप्पं थविरक्कप्पाण जत्थ वण्णिज्जइ।
दिक्खासिक्खापोसणसल्लेहणअप्पसक्कारं ॥३०॥

त्रिकालयोगकल्प्यं स्थविरकल्पानां यत्र वर्ण्यते।
दीक्षाशिक्षापोषणसल्लेखनात्मसंस्काराणि ॥

उत्तमठाणगदाणं उक्किट्ठाराहणाविसेसं च।

उत्तमस्थानगतानां उत्कृष्टाराधनाविशेषं च।

इदि महाकप्पं गदं—इति महाकल्प्यं गतं।

काल और संहनन का आश्रय कर साधुओं के योग्य द्रव्य, क्षेत्रादिक का जो वर्णन करता है वा जिसमें उत्कृष्ट संहननादि विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर प्रवृत्ति करने वाले, जिनकल्पी साधुओं के योग्य त्रिकाल योग आदि अनुष्ठान का और स्थविरकल्पी साधुओं की दीक्षा-शिक्षा, गण पोषण, आत्म संस्कार, सल्लेखना, उत्तम स्थान, गति, उत्कृष्ट आराधना आदि का विशेष वर्णन है वह महाकल्प कहलाता है ॥ २९-३० ॥

विशेषार्थ

जिन्होंने राग, द्वेष, मोह को जीत लिया है, जो उपसर्ग और परीषह रूपी शत्रुओं के वेग को सहन करने में समर्थ हैं तथा जो जिनेन्द्र भगवान् के समान विहार करते हैं वे जिनकल्पी कहलाते हैं[1]।

वर्द्धमान स्वामी के पूर्व चतुर्थ काल में उत्तम संहननधारी मुनि सर्व सावद्ययोग निवृत्ति रूप सामायिक चारित्र के धारी होते थे। भेद रूप चारित्र (छेदोपस्थान चारित्र) का पालन नहीं था। वे जिनकल्पी कहलाते थे[2] अर्थात् तेरह प्रकार का चारित्र, अट्ठाईस मूलगुण का पालन करते हुए

१. भगवती आराधना/१५५
२. गो. क. जी./५७।

भी उत्तम संहनन के कारण परीषह एवं उपसर्ग विजयी होते हैं वे जिन-कल्पी कहलाते हैं।

हीन संहनन वाले पंचम काल के साधु गणों को स्थविरकल्पी कहते हैं।

ग्रीष्म ऋतु में पर्वत के शिखर पर सूर्य के सन्मुख खड़े होकर ध्यान आतापन योग है।

वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे बैठना, वृक्ष मूल योग है, और शीतकाल में चौराहे पर या नदी के किनारे पर खड़े होकर ध्यान लगाना शीत योग है।

स्थविरकल्पी साधु त्रिकाल योग धारण करने योग्य हैं कि नहीं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, उत्तम संहनन युक्त जिनकल्पी त्रिकाल योग धारण करते हैं।

जब कोई आसन्न भव्य जीव निश्चयनय से भेदाभेद रत्नत्रयात्मक आचार्य को प्राप्त करके तथा व्यवहारनय से आराधना के अभिमुख हुए पंचाचार से युक्त आचार्य को प्राप्त करके बाह्य एवं अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर जिन दीक्षा (दिगम्बर मुद्रा) धारण करता है वह दीक्षा काल है।

दीक्षा के अनन्तर परमार्थ से निश्चय, व्यवहार रत्नत्रय तथा परमात्म-तत्त्व के परिज्ञान के लिए उसके प्रतिपादक आध्यात्मशास्त्रों का और व्यवहारनय से चतुर्विध आराधना का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जब आचार आराधनादि चरणानुयोग ग्रन्थों की शिक्षा ग्रहण करता है वह शिक्षा काल है।

शिक्षाकाल के पश्चात् निश्चयनय से निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थित होकर जिज्ञासु भव्य प्राणियों को परमात्मा के उपदेश से तथा व्यव-हारनय से चरणानुयोग में कथित अनुष्ठान और उसके व्याख्यान के द्वारा पञ्चभावना सहित होता हुआ शिष्य गण का पोषण करता है वह गण पोषण काल है।

गण पोषण काल के अनन्तर निश्चयनय से गण को छोड़कर निज परमात्मा में शुद्ध संस्कार करता है वह आत्म संस्कार काल है और व्यवहारनय से गण पोषण काल पश्चात् अपने गण (संघ) को छोड़कर आत्म भावना के संस्कार का इच्छुक होकर परगण (संघ) में जाता है वह आत्म संस्कार काल है।

आत्म संस्कार काल के बाद आत्म संस्कार को स्थिर करने के लिए

परमात्म पदार्थ में स्थित होकर रागादि विकार भावों को कृश करने रूप भाव सल्लेखना तथा भाव सल्लेखना को साधनीभूत कायक्लेशादि का अनुष्ठान रूप द्रव्य सल्लेखना है इन दोनों सल्लेखना का आचरण करना सल्लेखना काल है। आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विधिपूर्वक द्रव्य और भाव सल्लेखना का धारी तद्भव मोक्षगामी या दो तीन भव में मोक्ष प्राप्त करने वाला महामुनि इच्छा निरोध रूप तपश्चरण में स्थित होता है। वा इङ्गिनीमरण, प्रायोपगमनमरण, भक्त-प्रत्याख्यान रूप समाधि को धारण करना वह उत्तमार्थ काल है।[1]

राध, साध, संसिद्धि ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप रूप आत्मधर्म की आराधना करना, सिद्धि करना, इनका उद्योतन, इनमें परिणति करना, इनको दृढ़तापूर्वक धारण करना, किसी कारणवश इनके मन्द पड़ जाने पर पुनः सम्यग्दर्शनादि को जागृत करना, धारण किये हुए व्रतों का आमरण पालन करना आराधना कहलाती है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के भेद से आराधना चार प्रकार की है।

जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और उनको जानना सम्यग्ज्ञान है। अपने स्वरूप में लीन होना वा पंच महाव्रतादिक का पालन करना सम्यक्चारित्र है तथा इच्छाओं का निरोध वा आत्म स्वरूप में तप करना तप है। इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्-तप को धारण पालन आदि करना सम्यग्दर्शन आदि आराधना है।

दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना तथा उत्तम अर्थ स्थान की प्राप्ति ये सब आराधना में ही प्ररूपित हैं।[2] आराधना के ही विशेष भेद हैं।

उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से आराधना के आराधक तीन प्रकार के हैं अतः आराधना भी तीन प्रकार की है।

शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट अंशों में परिणत होकर जो क्षपक आराधना करता है और मरण करता है वह उत्कृष्ट आराधक है।

शुक्ललेश्या के मध्यम या जघन्य अंश और पद्म लेश्या के उत्कृष्ट अंश में मरण करने वाला मध्यम आराधक है।

---

१. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति गा. १७३।
२. गो. जी. प्रबो० ३६८।

पीत लेश्या के अंशों में परिणत होकर मरण करने वाला जघन्य आराधक है।

अथवा सम्यग्दर्शनादि का उत्कृष्ट आराधक अयोगकेवली है, मध्यम आराधक देश संयमी से लेकर सर्व संयमी है और जघन्य आराधक अविरतसम्यग्दृष्टि है।[1]

इस प्रकार जिस ग्रन्थ में जिनकल्पी, स्थविरकल्पी मुनियों के संहनन, द्रव्य, क्षेत्र, काल भावादि के अनुसार सम्यग्दर्शनादि चार प्रकार की आराधना, उनके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य रूप से आराधना करने वाले तीन प्रकार के आराधक और आराधना में ही प्ररूपित की ही विशेष पर्याय स्वरूप दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण काल, आत्मसंस्कार काल, समाधिकाल, उत्तमार्थकाल आदि के स्वरूप का विस्तार रूप से कथन किया गया है। जो ग्रन्थ आराधनादि के स्वरूप का वर्णन करता है वह महाकल्प नामक प्रकीर्णक है।

॥ इति महाकल्प प्रकीर्णक समाप्त ॥

पुण्डरीक प्रकीर्णक का कथन

पुंडरियणामसत्थं णमामि णिच्चं सुभावेण ॥३१॥

पुंडरीकनाम शास्त्रं नमामि नित्यं सुभावेन ॥

भावणवितरजोइसकप्पविमाणेसु जत्थ वण्णिज्जइ।
उप्पत्तीकारण खलु दाणं पूयं च तवयरणं ॥३२॥

भावनव्यन्तरज्योतिष्ककल्पविमानेषु यत्र वर्ण्यते।
उत्पत्तिकारणं खलु दानं पूजा च तपश्चरणं ॥

सम्मत्तसंजमादिं अकामणिज्जरणमेव जत्थ पुणो।
तमुवादट्ठाणवेहवसुहसंपत्ती च जीवाणं ॥३३॥

सम्यक्त्वसंयमादि अकामनिर्जरा एव यत्र पुनः।
तदुत्पादस्थानवैभवसुखसंपत्तिश्च जीवानां ॥

इदि महपुंडरीयं[2]—इति महापुंडरीकं।

---

१. भगवती आराधना १९१८–१९२१।

२. महापुण्डरीयं अस्य स्थाने पुण्डरीयं इत्येव भाव्यं। महापुण्डरीकस्य लक्षणं पुस्तकाच्च्युतं अस्मदृष्टिदोषाद्वा गतमिति न जानीमः। लिखितपुस्तकं त्वधुना

जीवों के भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी इन चार प्रकार के देवों के विमानों के उत्पत्ति के कारणभूत दान, पूजा, तपश्चरण, अकामनिर्जरा, सम्यग्दर्शन और संयमादि अनुष्ठानों का तथा उन देवों के स्थान, वैभव, सुख सम्पत्ति आदि का जो निरूपण करता है वह पुण्डरीक प्रकीर्णक है। उस पुण्डरीक नामक ग्रन्थ में नित्य ही शुभ भावों से नमस्कार करता हूँ ॥ ३१-३२-३३ ॥ आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेषार्थ

असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, स्तनितकुमार, विद्युतकुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार और वायुकुमार के भेद से भवनवासी देव दश प्रकार के हैं।

इन दश प्रकार के भवनवासी देवों के मुकुट में क्रम से चूड़ामणि, सर्प, गरुड़, हाथी, मगर, स्वस्तिक, वज्र, सिंह, कलश और तुरग ये दश चिह्न हैं।

ज्ञान और चारित्र में शंका होने से संक्लिष्ट भाव से युक्त होने से मिथ्यात्व भाव युक्तता कामिनी के विरहरूपी अग्नि से जर्जरिता, कलह-प्रियता, अनन्तानुबन्धी कषाय से आसक्त अविनयता, किसी कारण से परवश होकर दुःखादि सहन करने से होने वाली अकाम निर्जरा आदि कारणों से देव आयु को बाँधकर, यह जीव भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं।

अथवा जो मिथ्यादर्शन सहित तपश्चरण करते हैं, जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं, मुनियों को दान देते हैं तथा सम्यग्दर्शन सहित व्रत धारण करके भी अन्त में सम्यग्दर्शन की विराधना करते हैं, वे जीव भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं।

भवनवासी देवों के निवास स्थान भवन, भवनपुर, आवास के भेद से तीन प्रकार का है—रत्नप्रभा पृथ्वी स्थित निवास को भवन, द्वीप समुद्रों के ऊपर स्थित निवास को आवास कहते हैं। असुरकुमारों के एक भवन

अस्मत्समीपे नास्ति २१-७-२२। तल्लक्षणं हि महच्च तत्पुण्डरीकं च महा-पुण्डरीकं शास्त्रं तच्च महर्धिकेषु इन्द्रप्रतीन्द्रादिषु उत्पत्तिकारणतपोविशेषाद्या-चरणं वर्णयति।

महापुण्डरियं सत्थं वण्णिज्जइ जत्थ महड्ढिदेवेसु।
इंदपडिंदाईसूपत्तीकारणतवोविसेसाइआयरणं ॥ १ ॥

रूप ही निवास स्थान हैं शेष नौ प्रकार के भवनवासी देवों में तीन प्रकार के निवास स्थान होते हैं।

ये भवन सात, आठ, नौ, दश आदि विचित्र भूमियों से भूषित रत्न-माला, मणिमय द्वीपों से शोभित जन्मशाला, अभिषेकशाला, भूषणशाला, मैथुनशाला, परिचर्यागृह और मंत्रशालाओं से रमणीय, मणिमय तोरणों से सुसज्जित द्वारों से युक्त तीन सौ योजन ऊँचे और संख्यात एवं असंख्यात योजन विस्तार वाले भवन होते हैं।

उन प्रत्येक भवनों के चारों दिशाओं में एक योजन प्रमाण जाकर दो कोश ऊँचे, पाँच सौ धनुष प्रमाण विस्तृत तथा भवनों को वेष्टित करने वाले कोट हैं। उस कोट के उपरिभाग में जिन मन्दिर हैं और बाह्य भाग में चैत्यवृक्षों से युक्त पवित्र अशोक सप्तच्छेद चम्पक और आम्रवन हैं।

चैत्यवृक्ष के मूल में चारों दिशाओं में प्रत्येक दिशा में पद्मासन से स्थित, देवों से पूजनीय पाँच-पाँच जिन प्रतिमाएँ हैं। ये जिन प्रतिमा चार तोरणों से रमणीय, आठ मंगलद्रव्यों से शोभित, उत्तमोत्तम रत्नों से निर्मित्त मानस्तंभों से शोभित हैं।

यह चैत्यवृक्ष पृथिवीकायिक है और भवनवासी देवों के उत्पत्ति और विनाश के कारण हैं।

प्रत्येक कोट के बहु मध्यभाग में एक सौ योजन ऊँचे वेत्रासन के आकार वाले महाकूट स्थित हैं।

प्रत्येक कूट पर सुवर्ण एवं रत्नों से निर्मित, तीन कोट से युक्त, तीन कोट की प्रत्येक वीथी में एक-एक मानस्तम्भ, नौ स्तूप, वनभूमि, ध्वज-भूमि, चैत्यभूमि से सुशोभित नन्दादि वापिकाओं से रमणीय एक-एक जिन मन्दिर है, जिसमें वन्दन मण्डप, अभिषेक मण्डप, नर्तन मण्डप, संगीत मण्डप, प्रेक्षण मण्डप, क्रीडा गृह, स्वाध्यायशाला, चित्रशाला आदि उत्तम स्थान हैं।

उन जिन मन्दिरों में श्रीदेवी, श्रुतदेवी, सर्वाण्ह और सनतकुमार यक्ष की मूर्तियाँ तथा हाथ में चँवर लिए नाग यक्ष युगलों से युक्त, अष्ट मंगल द्रव्य से शोभित, देवच्छन्द के भीतर जिनबम्ब शोभित हैं। ऐसी शोभा से युक्त भवनवासी देवों के सात करोड़ बहत्तर लाख हैं।

सम्यग्दृष्टि देव कर्म क्षय निमित्त नित्य जिनबिम्ब की नित्य पूजा करते हैं और मिथ्यादृष्टि देव कुल देवता समझकर उनकी पूजा करते हैं।

इन देवों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विष जाति के देव हैं। उनमें इन्द्र—राजा तुल्य है शेष देव इन्द्र के परिवार के देव हैं। सामानिक—इन्द्र के समान विभूति वाले हैं, त्रायस्त्रिंश—पुरोहित आदि के समान है, पारिषद—सभासद के समान हैं, आत्मरक्ष—अंगरक्षक के सदृश हैं, लोकपाल—कोट-पाल के समान है, अनीक—सेना तुल्य है, प्रकीर्णक—प्रजा के समान है, आभियोग्य जाति के देव—दास के समान है और किल्विषिक—चण्डाल की उपमा को धारण करने वाले हैं।

अग्र वल्लभा और परिवार देवांगनाओं के भेद से तीन प्रकार की देवियाँ होती हैं। एक देव के कम से कम बत्तीस देवांगना होती है विशेष संख्यातों देवांगना होती हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इनकी उत्कृष्ट आयु असुर कुमारों की एक सागर, नागकुमार की तीन पल्य, सुपर्णकुमार की अढाई पल्य, द्वीपकुमार की दो पल्य और शेष छह देवों की उत्कृष्ट आयु डेढ़ पल्य प्रमाण है। यह उत्कृष्ट आयु इन्द्रों की होती है। जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है। मध्यम आयु के अनेक भेद हैं। देवियों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम, ढाई पल्योपम और पल्योपम के आठवें भाग प्रयाण है।

असुरकुमारों की शरीर की ऊँचाई पच्चीस धनुष और शेष देवों के शरीर की ऊँचाई दश धनुष प्रमाण है। यह प्रमाण मूल शरीर का है। विक्रिया निर्मित शरीर की ऊँचाई अनेक प्रकार की होती है।

दश हजार वर्ष की आयु वाले देव अपनी शक्ति से एक सौ मनुष्यों को मारने वा पोषण करने में समर्थ हैं तथा डेढ़ सौ धनुष प्रमाण लम्बे चौड़े और मोटे क्षेत्र को बाहुओं से वेष्ठित करने और उखाड़ने में समर्थ हैं।

पल्योपम आयु के धारक देव छह खण्डों को उखाड़ने और छह खण्ड में स्थित मानव और तिर्यञ्चों को मारने अथवा पोषण करने में समर्थ हैं।

एक सागरोपम आयु के धारक देव जम्बूद्वीप को समुद्र में फैंकने में समर्थ और जम्बूद्वीपस्थ तिर्यञ्च और मनुष्यों को मारने और पोषण करने में समर्थ हैं।

जिनकी आयु दश हजार वर्ष या करोड़ वर्ष रूप संख्यात वर्ष की आयु है वे एक समय में संख्यात योजन जा सकते हैं। जिनकी आयु पल्य वा सागर सरूप असंख्यात वर्षों की है, वे एक समय में असंख्यात योजन प्रमाण जा सकते हैं।

भवनवासी देवों के अवधिज्ञान क्षेत्र की अपेक्षा ऊर्ध्वदिशा में उत्कृष्ट रूप से मेरु पर्वत के शिखर पर्यन्त क्षेत्र की, अधोभाग में अपने भवन से कुछ नीचे और तिरछे रूप से बहुत अधिक क्षेत्र को जानता है। जघन्य रूप से पच्चीस योजन प्रमाण क्षेत्र जानते हैं। काल की अपेक्षा से उत्कृष्ट करोड़ वर्ष और जघन्य एक दिन के भीतर की बात जानते हैं।

जिन देवों की आयु दश हजार वर्ष प्रमाण है वे देवों के दो दिन के बाद और पल्योपम आयु वाले देवों के पाँच दिन के बाद अमृतोपम मानसिक आहार होता है।

दश हजार वर्ष की आयु वाले देव, सात श्वासोच्छ्वास प्रमाण काल में और पल्योपम आयु वाले देव पाँच मुहूर्त्त में एक उच्छ्वास लेते हैं। इस प्रकार विविध सुखों का अनुभव करते हुए भवनवासी देव देवांगनाओं के साथ अनेक अनुपम सुख भोगते हैं। उनके शयन आसन्न मृदुल विचित्र रूप से रचित तथा शरीर मन वचन को आनन्दोत्पादक होते हैं।

व्यन्तर देवों के किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच ये आठ भेद हैं। — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भवनवासियों के समान इनके भी भवन, भवनपुर और आवास ये तीन भेद हैं।

भवन के कोट, वन, जिनमन्दिर, चैत्यवृक्ष भवनवासियों के समान हैं अन्तर इतना है इनके भवनों का उत्कृष्ट विस्तार बारह योजन और बाहुल्य तीन सौ योजन प्रमाण है। जघन्य भवनों का विस्तार पच्चीस योजन बाहुल्य एक योजन के चार भागों में से तीन भाग प्रमाण है।

उत्कृष्ट भवनपुरों का विस्तार इक्यावन लाख योजन और जघन्य भवनपुरों का विस्तार एक योजन मात्र है।

उत्कुष्ट आवास का विस्तार बारह हजार दो सौ योजन प्रमाण और जघन्य आवास तीन कोश प्रमाण है।

चैत्य वृक्ष के मूल में चारों ओर चार-चार जिनेन्द्र प्रतिमाएँ हैं।

व्यन्तर जाति के देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जाति के देव नहीं होते।

इनकी उत्कृष्ट आयु एक पल्य प्रमाण और जघन्य आयु दश हजार वर्ष प्रमाण है।

दश हजार वर्ष प्रमाण आयु वाले व्यन्तर देव अवधिज्ञान से जघन्य पाँच कोश और उत्कृष्ट पचास कोश को जानते हैं।

पल्योपम प्रमाण आयु वाले उत्कृष्ट एक लाख योजन प्रमाण को जानते हैं।

इनके शरीर की ऊँचाई दश धनुष प्रमाण है। शेष सर्व प्रमाण भवनवासियों के समान हैं।

व्यन्तर देवों का आवास चित्रा पृथ्वी खरभाग में ऊपर-नीचे एक हजार योजन छोड़कर शेष भाग में, मध्य में किम्पुरुष आदि सात प्रकार के देव तथा राक्षस देवों का निवास, अब्बहुल भाग में तथा द्वीप समुद्र, शाल्मली आदि वृक्ष, जगति नगर, तिराहा, चौराहा, घर, आँगन, गली, जलाशय, उद्यान, देव मंदिर आदि अनेक स्थानों में हैं।

यह भी अपनी देवांगनाओं के साथ अनेक प्रकार के उत्तम भोगों का उपभोग करते हैं।

ज्योतिषी देवों का कथन पूर्व में कल्याणवाद पूर्व में किया है जिनके शरीर की ऊँचाई सात धनुष प्रमाण है उनके देव विमानों को आभियोग्य जाति के देव ढोते हैं। सूर्य चन्द्रमा के विमानों को १६ हजार देव ढोते हैं। बृहस्पति आदि के चार हजार और सभी ताराओं के विमान को दो हजार देव ढोते हैं। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के कृष्ण, नील, कपोत और पीत लेश्या होती है। द्रव्य की अपेक्षा छहों लेश्या पायी जाती हैं। इनके श्वासोच्छ्‌वास आदि का प्रमाण भवनवासियों के समान है। शेष कथन त्रिलोयपण्णत्ति आदि से जानना चाहिए।

कल्पवासी देवों के दो भेद हैं, कल्पोपन्न और कल्पातीत। कल्पोपन्न के १२ या १६ भेद हैं। उनके नाम निम्न प्रकार हैं सौधर्म, ऐशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत।

कल्पातीत, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश तथा विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पाँच पंचोत्तर हैं। वे विशिष्ट विमानों में रहते हैं इसलिए वैमानिक कहलाते हैं।

बारहवें स्वर्ग तक मिथ्यादृष्टि तपस्वी भी जा सकते हैं, बारहवें स्वर्ग के बाद जिनधर्मावलम्बी देशव्रती मुनि जाते हैं परन्तु मिथ्यादर्शन सहित व्रत पालन करने वाले भी जाते हैं।

नव ग्रैवेयिक में मिथ्यादृष्टि, द्रव्यलिंगी मुनि तथा सम्यग्दृष्टि मुनि जाते हैं अव्रती नहीं जा सकते।

नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानों में सम्यग्दृष्टि मुनि ही जाते हैं, मिथ्यादृष्टियों का प्रवेश नहीं है।

प्रथम स्वर्ग में बत्तीस लाख, दूसरे में अट्ठाईस लाख, तीसरे स्वर्ग में बारह लाख, चौथे में आठ लाख, पाँचवें, छट्ठे में चार लाख, सातवें-आठवें स्वर्ग में पचास हजार, नवमें-दशवें स्वर्ग में चालीस हजार, ग्यारहवें और बारहवें स्वर्ग में दस हजार और आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग में सात सौ विमान हैं।

अधो ग्रैवेयिक में एक सौ ग्यारह, मध्यम ग्रैवेयिक एक सौ सात और ऊर्ध्व ग्रैवेयिक में इकानवें विमान हैं।

नव अनुदिश में नव और अनुत्तरों में पाँच विमान हैं—इस प्रकार सारे विमान चौरासी लाख सत्तानवें हजार तेईस हैं, इतने ही जिन मन्दिर हैं। जिन मन्दिरों का वर्णन भवनवासी देवों के समान ही है केवल ऊँचाई विस्तार आदि में अन्तर है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु दो सागर, सनतकुमार माहेन्द्र के देवों की सात सागर की, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर के देवों के दश सागर, लान्तव कापिष्ट के देवों की चौदह सागर की, शुक्र, महाशुक्र देवों की सोलह सागर की, शतार, सहस्रार के देवों की अठारह सागर की, आनत, प्राणत देवों की बीस हजार सागर की आरण और अच्युत के देवों की बाईस सागर की आयु है।

नव ग्रैवेयिक में क्रमशः इक्कीस, बाईस, तेवीस, चौवीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस, अट्ठाईस, उनतीस, तीस और इकतीस सागर प्रमाण आयु है। नव अनुदिश में बत्तीस सागर और अनुत्तरों में तेतीस सागर की आयु है।

सौधर्म और ईशान स्वर्ग में जघन्य आयु पल्योपम प्रमाण है तथा ऊपर के देवों में नीचे वाले स्वर्गों की उत्कृष्ट आयु ऊपर वाले स्वर्गों में जघन्य होती है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती।

सौधर्म और ईशान स्वर्ग की देवांगना की आयु पाँच-पाँच पल्य प्रमाण है।

सनत्कुमार, माहेन्द्र देवियों की सत्रह पल्य, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर पच्चीस पल्य, लान्तव और कापिष्ट में पैंतीस पल्य, शुक्र-महाशुक्र में चालीस पल्य, शतार, सहस्रार में पैंतालीस पल्य, आनत-प्राणत में पचास पल्य और

आरण, अच्युत में पचपन पल्य की आयु होती है। मध्यम आयु के अनेक विकल्प हैं वह अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिये।

इस प्रकार चारों काय के देवों का निवास, क्षेत्र, विन्यास, भेद, नाम, सीमा, संख्या, इन्द्रविभूति, आयु, उत्पत्ति वा मरण का अन्त आहार, उच्छ्वास, उत्सेध, देवलोक सम्बन्धी आयु के बन्धक, भाव, लौकान्तिक देवों का स्वरूप, गुणस्थानादिक का स्वरूप, दर्शन ग्रहण के विविध कारण, आगमन, अवधिज्ञान, देवों की संख्या, शक्ति और योनि आदि का विस्तार रूप कथन जिसमें पाया जाता है, वह पुण्डरीक नामक प्रकीर्णक है।

शुभचन्द्र आचार्य ने भक्तिपूर्वक पुण्डरीक प्रकीर्ण को नमस्कार किया है।

॥ इस प्रकार पुण्डरीक का कथन समाप्त हुआ ॥

इस ग्रन्थ में महापुण्डरीक प्रकीर्णक का कथन नहीं है नीचे टिप्पणी में लिखा है "महापुण्डरीक प्रकीर्णक प्राप्य नहीं है या हमारी दृष्टिदोष से नष्ट हो गया है।"

गोम्मटसार जीव प्रबोधिनी टीका में लिखा है जो इन्द्र और प्रतीन्द्रों में उत्पत्ति में कारण स्वरूप तपो विशेष का कथन करता है वह महा-पुण्डरीक है।

णीसेहियं हि सत्थं पमाददोसस्स दूरपरिहरणं।
पायच्छित्तविहाणं कहेदि कालादिभावेण ॥ ३४ ॥

निषेधिका हि शास्त्रं प्रमाददोषस्य दूरपरिहरणं।
प्रायश्चित्तविधानं कथयति कालादिभावेन ॥

आलोयण पडिकमणं उभयं च विवेयमेव वोसग्गं।
तव छेयं परिहारो उवठावण मूलमिदि णेया ॥ ३५ ॥

आलोचनं प्रतिक्रमणं उभयं च विवेक एव व्युत्सर्गः।
तपश्छेदः परिहारः उपस्थापना मूलमिति ज्ञेयं ॥

प्रमाद जनित दोषों का परिहार करने के लिए निषेधिका शास्त्र का कथन है। यह कालादि भाव से प्रायश्चित्त विधान का कथन करता है ॥ ३४ ॥

विशेष—प्रमाद अथवा अज्ञान से लगे हुए दोषों की शुद्धि करना प्राय-

श्चित्त है। उत्कृष्ट चारित्र के धारक मुनि को 'प्राय' और मन को चित्त कहते हैं। अतः मन की शुद्धि करने वाले कर्म को प्रायश्चित्त कहते हैं।

आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना मूल ये प्रायश्चित्त के नव भेद हैं तथा मूल के स्थान में श्रद्धान मिलाने से प्रायश्चित्त के दश भेद कहे हैं॥ ३५ ॥

एकान्त में विराजमान, प्रसन्नचित्त से गुरु के समक्ष देश काल को जानने वाले शिष्य के द्वारा सविनय दश दोष रहित आत्म (अपने) दोषों के निवेदन करने को आलोचना कहते हैं।

मेरा दुष्कृत मिथ्या हो, इस प्रकार से कर्मों का प्रतिकार करने वाले वचनों का उच्चारण करना प्रतिक्रमण है। कर्मवश या प्रमाद से लगे हुए दोष हे प्रभो ! तेरे प्रसाद से मिथ्या होवें। इस प्रकार सरल हृदय से वचनों का उच्चारण करना प्रतिक्रमण है।

दोनों प्रकार के दोषों का संसर्ग होने पर उनका शोधन करना उभय नाम प्रायश्चित्त है। कुछ कर्म आलोचना मात्र से शुद्ध हो जाते हैं और कुछ कर्म प्रतिक्रमण से शुद्ध होते हैं और कुछ कर्म आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों से शुद्ध होते हैं, अतः उभय है। खोटे स्वप्न संक्लेश आदि से होने वाले दोषों का निवारण करने के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों किए जाते हैं।

संसक्त अन्नादिक में दोषों को दूर करने में असमर्थ साधु जो संसक्त अन्नपान के उपकरण आदि को अलग कर देता है उसको विवेक प्रायश्चित्त कहते हैं अथवा जिस वस्तु के न खाने का नियम है, वह वस्तु भाजन में वा मुख में आ जाने पर अथवा जिन वस्तुओं के ग्रहण करने में कषायादि उत्पन्न होते हैं उन वस्तुओं का त्याग कर देना विवेक नाम का प्रायश्चित्त है।

काल का नियम करके कायोत्सर्ग आदि व्युत्सर्ग है।

मल-मूत्र के त्याग आदि में अतीचार लगाने पर प्रशस्त ध्यान का अवलम्बन लेकर मुहूर्तकाल पर्यन्त कायोत्सर्ग पूर्वक शरीर से ममत्व त्याग कर खड़े रहना व्युत्सर्ग नामक तप है।

शास्त्र विहित आचरण में दोष लग जाने पर अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान आदि का दण्ड देना तप नाम का प्रायश्चित्त है।

चिरकाल से दीक्षित साधु की अमुक दिन, पक्ष, माह आदि की दीक्षा छेद करना छेद प्रायश्चित्त है।

किसी दोष के हो जाने पर चिर प्रव्रजित साधु को पक्ष, माह आदि काल के विभाग से संघ से दूर कर देना, उसका संसर्ग नहीं करना परिहार नामक प्रायश्चित्त है।

चिर प्रव्रजित साधुओं के महाव्रतों का मूलच्छेद करके पुनः दीक्षा देना उपस्थापना नामक प्रायश्चित्त कहा जाता है। इसका दूसरा नाम मूल प्रायश्चित्त भी है।

(जिसने अपने धर्म को छोड़कर मिथ्यात्व को अंगीकार कर लिया है उसे पुनः सद्धर्म में स्थापित करना श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त है यह प्रायश्चित्त उपस्थापना में गर्भित हो जाने से तत्त्वार्थसूत्र में इसका उल्लेख नहीं है परन्तु आचारसार, चारित्रसार, मूलाचार आदि में इसका कथन है)

जैसे आरोग्य के इच्छुक दोष के अनुसार बल, काल आदि की अपेक्षा से चिकित्सा का प्रयोग करता है उसी प्रकार आत्मकल्याण के इच्छुकों को बल, काल, संहनन आदि के अनुसार स्वकृत अपराध जनित दोषों को दूर करने के लिए उपर्युक्त दश प्रकार के प्रायश्चित्त का प्रयोग करना चाहिए।

आलोचना के दश भेद

दहभेया वि य छेदे दोसा आकंपियं दस एदे।
अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं सुहमं च छिण्णं च ॥ ३६ ॥

दशभेदा अपि च छेदे दोषा आकंपितं दश एते।
अनुमानितं यद्दृष्टं बादरं सूक्ष्मं च छिन्नं च ॥

सद्दावुलियं बहुजणमव्वत्तं चावि होदि तस्सेवी।
दोसणिसेयविमुत्तं इदि पायच्छित्तं गहीदव्वं ॥ ३७ ॥

शब्दाकुलितं बहुजनमव्यक्तं चापि भवति तत्सेवी।
दोषनिषेकविमुक्तं इति प्रायश्चित्तं गृहीतव्यं ॥

स्वदोष रहित निष्कपट भाव से की गई आलोचना ही दोष नाशक होती है अतः दश दोष रहित आलोचना करना चाहिए।

आलोचना के दश दोष—आकम्पित, अनुमानित, यद्दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये दश दोषों के नाम हैं ॥ ३६-३७ ॥

विशेषार्थ

उपकरण देने से मुझे लघु प्रायश्चित्त देंगे, इस प्रकार विचार करके प्रायश्चित्त के समय उपकरण आदि देना प्रथम आलोचना दोष है।

मैं प्रकृति से दुर्बल हूँ, उपवास आदि नहीं कर सकता "यदि मुझे लघु (थोड़ा) प्रायश्चित्त देते हैं तो मैं अपने दोषों का निवेदन करूँगा, इस प्रकार का विचार कर वा अपने प्रति गुरु के मन में अनुकम्पा उत्पन्न कराकर दोषों का निवेदन करना दूसरा अनुमानित दोष है।

जिन दोषों को दूसरों ने नहीं देखा, उन दोषों को छिपाकर दूसरों के द्वारा जाने गये दोषों को कहना मायाचार अदृष्ट दोष है।

आलस्य वा प्रमाद के कारण सूक्ष्म दोषों की परवाह न करके स्थूल दोषों का प्रतिपादन करने वाले के स्थूल दोष प्रतिपादन दोष है।

महान् दुश्चर प्रायश्चित्त के भय से महान् दोषों को छिपाकर सूक्ष्म दोषों का (अल्प दोषों का) गुरु के समक्ष कथन करना सूक्ष्माचार निवेदन नामक पाँचवा दोष है।

"ऐसा व्रतों का अतिचार (दोष) लगने पर क्या प्रायश्चित्त होगा ?" इस प्रकार किसी उपाय से प्रायश्चित्त जानकर पश्चात् गुरु के समीप अपने दोषों का निरूपण करना छट्ठा छन्न नाम का दोष है।

पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण के समय बहुत यतियों के समुदाय में कोलाहल में अपने दोषों का निवेदन करना जिससे गुरु अच्छी तरह नहीं सुन सकें वह शब्दाकुलित नामक सातवाँ दोष है।

गुरु के द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त युक्त (ठीक) है या नहीं ? आगम विहित है या नहीं ? इस प्रकार शंकित मन होकर अन्य साधुजनों से पूछना आठवाँ बहुजन नामक दोष है।

जिस किसी प्रयोजन का उद्देश्य लेकर अपने ही समान गुरु के लिए प्रमाद से आचरित दोषों का निवेदन करना अव्यक्त नाम का नवमा दोष है। इसमें किया गया कठोर प्रायश्चित्त भी निष्फल होता है। इसके समान ही मेरा अपराध है, उसको यही जानता है, जो इसके लिये प्रायश्चित्त दिया गया है, वही मैं शीघ्र ले लूँगा, वही प्रायश्चित्त शीघ्र ही मुझे करना चाहिये। इस प्रकार गुरु से अपने दोषों को संवरण करना तत्सेवित नाम का दसवाँ दोष है।

एवं दहछेया वि य तद्दोसा तहविहा वि तब्भेया।
वण्णिज्जंते स जत्थ वि णिसीदिकाएसु वित्थारा ॥ ३८ ॥

एवं दशच्छेदा अपि च तद्दोषा तथा विधा अपि च तद्भेदाः।
वर्ण्यन्ते तद्यत्रापि निसीतिकासु विस्तारेण ॥

इदि विसेहियपइण्णयं—इति निषेधिका प्रकीर्णकं।

इस प्रकार दश प्रकार के प्रायश्चित्त और दश प्रकार के आलोचना के दोषों का निषेधिका (निसितिका) में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। अर्थात् प्रायश्चित्त की विधि का कथन जिसमें है वह निषेधिका प्रकीर्णक है ॥ ३८ ॥

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

॥ इस प्रकार निषेधिका प्रकीर्णक समाप्त हुआ ॥

एवं पइण्णयाणि च चोद्दस पडिदाणि एत्थ संखेवा ।
सद्दहदि जो वि जीवो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥ ३९ ॥

एवं प्रकीर्णकानि च चतुर्दश प्रतीतानि अत्र संक्षेपात् ।
श्रद्दधाति योपि जीवः स प्राप्नोति परमनिर्वाणं ॥

एवं चोद्दसपइण्णया—एवं चतुर्दशप्रकीर्णकानि

इस प्रकार इस ग्रन्थ में संक्षेप से चौदह प्रकीर्णकों का कथन किया है। जो भव्य जीव इस अंगपण्णत्ति में चौदह पूर्व, बारह अंग, पाँच परिकर्म, प्रथमानुयोग, सूत्र, चूलिका और चौदह प्रकीर्ण का श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है वह निर्वाण सुख को प्राप्त करता है ॥ ३९ ॥

॥ इस प्रकार चौदह प्रकीर्णक समाप्त हुए ॥

सुदणाणं केवलमवि दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो ।
पच्चक्खं केवलमवि सुदं परोक्खं सया जाणे ॥ ४० ॥

श्रुतज्ञानं केवलमपि द्वे अपि सदृशे भवता बोधतः ।
प्रत्यक्षं केवलमपि श्रुतं परोक्षं सदा जानीहि ॥

ज्ञान की अपेक्षा केवलज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों सदृश (समान) हैं। क्योंकि दोनों ही ज्ञान सर्व तत्त्वों के प्रकाशक हैं। इन दोनों में केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद है। अर्थात् केवलज्ञान जिन पदार्थों को साक्षात् जानकर भव्यजीवों के लिए प्रतिपादन किया है उन सर्व पदार्थों को श्रुतकेवली आगम के द्वारा सर्व पदार्थों को जानते हैं। अतः इन दोनों में प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद जानना चाहिए ॥ ४० ॥

इस प्रकार वृषभसेन गणधर के प्रश्नानुसार आदिनाथ भगवान् ने श्रुतज्ञान (बारह अंग) का उपदेश दिया था। उसी प्रकार शेष तेईस तीर्थंकरों ने अपने-अपने गणधरों के प्रश्नानुसार श्रुत का कथन किया था। वह श्रुत परम्परा अविच्छिन्न रूप से इस प्रकार चली आ रही है।

इदि उसहेण वि भणियं पण्हादो उसहसेणजोइस्स ।
सेसावि जिणवरिंदा सगणिं पडि तह समक्खंति ॥ ४१ ॥

इति वृषभेणापि भणितं प्रश्नतः वृषभसेनयोगिनः।
शेषा अपि जिनवरेन्द्राः स्वगणिनः प्रति तथा समाख्यान्ति ॥

सिरिवड्ढमाणमुहकयविणिग्गयं बारहंगसुदणाणं।
सिरिगोयमेण रइयं अविरुद्धं सुणह भवियजणा ॥ ४२ ॥

श्रीवर्धमानमुखकजविनिर्गतं द्वादशाङ्गश्रुतज्ञानं।
श्री गौतमेन रचितं अविरुद्धं शृणुत भव्यजनाः ! ॥

श्री वर्द्धमान भगवान् के मुख से निकले हुए द्वादशांग श्रुतज्ञान को गौतम गणधर ने अविरुद्ध रूप से रचना की थी। हे भव्य जीवो, तुम उसको सुनो। साक्षात् महावीर भगवान् के मुख कमल से निकले वचनों को सुनकर द्वादशांग की रचना की थी, शुभचन्द्र आचार्य कहते हैं वह वीर प्रभु के वचनों का प्रवाह अक्षुण्णरूप से चला आ रहा है, उसका हे भव्य-जीवो, तुम श्रद्धान करो ॥ ४१-४२ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर

सिरिगोदमेण दिण्णं सुहम्मणाहस्स तेण जंबुस्स।
विण्हू णंदीमित्तो तत्तो य पराजिदो य (त) त्तो ॥ ४३ ॥

श्री गौतमेन दत्तं सुधर्मनाथस्य तेन जम्बूनाम्नः।
विष्णुः नन्दिमित्रः ततश्चऽपराजितः ततः ॥

श्रुतप्रवाह से आने वाले आचार्यों की परम्परा महावीर भगवान् के मोक्ष जाने के बाद गौतम गणधर केवलज्ञानी हुए और उनसे सुधर्माचार्य ने तत्त्व देशना को प्राप्त किया। सुधर्माचार्य से जम्बूस्वामी सर्व श्रुत के ज्ञायक और अन्त में केवलज्ञानी हुए। अर्थात् महावीर स्वामी के पश्चात् तीन अनुबद्ध केवली हुए—गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी। इनके पश्चात् विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँच महामुनि इस कलियुग में द्वादशांग के ज्ञाता हुए थे। अर्थात् इस पंचमकाल में पाँच श्रुतकेवली हुए थे ॥ ४३ ॥

गोवद्धणो य तत्तो भद्दभुओ अंतकेवली कहिओ।
बारहअंगविदण्हू पंचेदे कलियुगे जादा ॥ ४४ ॥

गोवर्धनश्च ततः भद्रबाहुः अन्तकेवली कथितः।
द्वादशाङ्गविदः पंचैते कलियुगे जाताः ॥

दसपुव्वाणं वेदा विसाहसिरिपोढिलो तदो सूरी।
खत्तिय जयसो विजयो बुद्धिल्लसुगंगदेवा य ॥ ४५ ॥

दशपूर्वाणां वेत्तारौ विशाखश्रीप्रौष्ठिलौ ततः सूरी।
क्षत्रियः जयसः विजयः बुद्धिल्लसुगंगदेवौ च॥

सिरिधम्मसेणसुगणी[1] तत्तो एगादसंगवेत्तारा।
णक्खत्तो जयपालो पंडू धुयसेण कंसगणी॥ ४६॥

श्रीधर्मसेनसुगणी तत एकादशाङ्गवेत्तारः।
नक्षत्रः जयपालः पांडुः ध्रुवसेनः कंशगणी॥

अग्गमअंगि सुभद्दो जसभद्दो भद्दबाहु परमगणी।
आइरियपरंपराइ एवं सुदणाणमावहृदि॥ ४७॥

अग्रिमाङ्गी[2] सुभद्रः यशोभद्रः भद्रबाहुः परमगणी[3]।
आचार्यपरंपरया एवं श्रुतज्ञानं आवहृति॥

पाँच श्रुतकेवली पश्चात् क्रमशः विशाखाचार्य, श्री प्रौष्ठिल, क्षत्रियाचार्य, जयस, विजय, बुद्धिल, सुगदेव, धर्मसेन, सुगणी, नाग, सिद्धार्थ ये ग्यारह मुनि दश पूर्व और ग्यारह अंग के ज्ञानी हुए थे। इस गाथा में ग्यारह नाम नहीं निकलते हैं अन्य ग्रन्थों में सुगणी के स्थान में नाग और धृतिषेण, सिद्धार्थ ये नाम आते हैं। इसके पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंसाचार्य ये पाँच आचार्य ग्यारह अंग के ज्ञाता हुये हैं।

तत्पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु (यशोबाहु) परमगणी (लोहाचार्य) ये चार आचार्य एक अंग के ज्ञाता थे। इस प्रकार यह आचार्य परम्परा, श्रुतज्ञान को धारण करती हुई अक्षुण्णरूप से आ रही है॥ ४४-४५-४६-४७॥

कालविसेसा णट्ठं सुदणाणं अप्पबुद्धिधरणादो।
तं अंसं संवहृदि धम्मुवदेसस्स सद्धे दु॥ ४८॥

कालविशेषात् नष्टं श्रुतज्ञानं अल्पबुद्धिधरणतः।
तदंशं संवहृति धर्मोपदेशस्य श्रद्धानेन तु॥

अन्य ग्रन्थों के अनुसार कुछ नाम में परिवर्तन अवश्य है तथापि परम्परा से आने वाले आचार्यों के नाम में अधिक परिवर्तन नहीं है।

काल के प्रभाव से अल्पबुद्धि धारक होने से अंगों का श्रुतज्ञान नष्ट हो

---

१. नागसेन सिद्धार्थ धृतिषेणेति त्रीणिनामानि पुस्तकाद्गतानीत्यवभाति। नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण ये तीन नाम पुस्तक से गये हुए प्रतीत होते हैं।

२. प्रथमाङ्ग वेत्तारः।

३. लोहार्यश्चेति।

गया है। तथापि इस समय धर्मोपदेश के श्रद्धान श्रुत के अंश को आचार्य धारण करते हैं—अर्थात् शुभचन्द्राचार्य कहते हैं कि कालदोष से ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम विशेष न होने से द्वादशांग या एक अंग के ज्ञाता महामुनि इस समय नहीं है तथापि आचार्य परम्परागत धर्मोपदेश के श्रद्धान से श्रुत का ज्ञान अक्षुण्णरूप से आ रहा है ॥ ४८ ॥

आइरियपरंपराइं आगदअंगोवदेसणं पढइ ।
सो चढइ मोक्खसउहं भव्वो बोहप्पहावेण ॥ ४९ ॥

आचार्यपरंपरया आगताङ्गोपदेशनं पठति ।
स चटति मोक्षसौधं भव्यो बोधप्रभावेन ॥

इस आचार्य परम्परागत द्वादशांग के उपदेश को जो भव्य भावपूर्वक पढ़ते हैं। (मनन, चिन्तन, धारण करते हैं) वे भव्यजीव ज्ञान के प्रभाव से मोक्षमहल में आरोहण करते हैं। परम्परा से मुक्तिपद को प्राप्त करते हैं ॥ ४९ ॥

शुभचन्द्राचार्य की परम्परा

सिरिसयलकित्तिपट्टे आसेसी भुवणकित्तिपरमगुरु ।
तप्पट्टकमलभाणू भडारओ बोहभूसणओ ॥ ५० ॥

श्री सकलकीर्तिपट्टे आसीत् भुवनकीर्तिपरमगुरुः ।
तत्पट्टकमलभानुः भट्टारकः बोधभूषणः ॥

सिरिविजकित्तिदेओ णाणासत्थप्पयासओ धीरो ।
बुहसेवियपयजुयलो, तप्पयवरकलभसलो य ॥ ५१ ॥

श्रीविजयकीर्तिदेवो नानाशास्त्रप्रकाशको धीरः ।
बुधसेवितपदयुगलः तत्पदवरकलभसलो य ॥

श्री सकलकीर्ति आचार्य के पट्टपर परमगुरु भुवनकीर्ति आसीन थे। उनके पट्ट पर भट्टारक कमलभानु उनके पट्ट पर बोधभूषण ॥ ५० ॥ उनके पट्ट पर नानाशास्त्र के प्रकाशक, धीर, विद्वज्जनों के द्वारा सेवित पदयुगल, बोधभूषण के चरणकेशर में आसक्त भ्रमर श्री विजयकीर्ति देव आसीन हुए थे ॥ ५१ ॥

तप्पयसेवणसत्तो तेवेज्जो उहयभासपरिवेई ।
सुहचंदो तेण इणं रइयं सत्थं समासेण ॥ ५२ ॥

तत्पदसेवनसक्तः त्रैविद्यः उभयभाषापरिसेवी ।
शुभचन्द्रस्तेनेदं रचितं शास्त्रं समासेन ॥

श्री विजयकीर्ति के पट्टपर उनके चरणों को सेवन में आसक्त तथा उभय (संस्कृत-प्राकृत) भाषा का ज्ञाता त्रैविद्य नामक आचार्य आसीन हुए थे। त्रैविद्य के शिष्य शुभचन्द्र आचार्य देव ने संक्षेप से इस अंगपण्णत्ति नामक शास्त्र की रचना की है ॥ ५२ ॥

सत्थविरुद्धं किं पि य जं तं सोहंतु सुदहरा भव्वा।
परउवयारणिविट्ठा परकज्जयरा सुहावड्ढा ॥ ५३ ॥

शास्त्रविरुद्धं किमपि च यत्तत् शोधयन्तु श्रुतधरा भव्याः।
परोपकारनिविष्टाः परकार्यकराः सुभावढ्याः ॥

इस ग्रन्थ में जो कुछ भी शास्त्र विरुद्ध लिखा गया हो, तो श्रुत के पारगामी, परोपकार करने में निष्ट, दूसरों के कार्य को करने वाले और शोभनीय भावों के धारी-भव्यात्मा इसका संशोधन करें ॥ ५३ ॥

जो णाणहरो भव्वो भावइ जिणसासणं परं दिव्वं।
अचलपयं सो पावइ सुदणाणुवदेसियं सुद्धं ॥ ५४ ॥

यो ज्ञानधरो भव्यो भावयति जिनशासनं परं दिव्यं।
अचलपदं स प्राप्नोति श्रुतज्ञानोपदेशितं शुद्धं ॥

इदि अंगपण्णत्तीए सिद्धंतसमुच्चये बारहअंगसमराणावराभिहाणे तइओ अहियारो सम्मत्तो ॥ ३ ॥

॥ इदि अंगपण्णत्ती सम्मत्ता ॥

जो ज्ञानी भव्यात्मा पर दिव्य जिनशासन की भावना करता है इसका चिन्तन, मनन करता है। वह श्रुतज्ञान द्वारा उपदिष्ट शुद्ध अचलपद को प्राप्त करता है ॥ ५४ ॥

इस प्रकार **अंगप्रज्ञप्ति** नामक सिद्धान्त समुच्चय में बारह अंग के अभिधान तृतीय अधिकार समाप्त हुआ।

सं० १८६४ पूषवदी १५ सुरतबंदरे चन्द्रप्रभचैत्यालये लिखितं पण्डित रूपचन्द्रेण स्वज्ञानावरणीयकर्मक्षयार्थं। शुभं भवतु, कल्याणमस्तु।

श्रीमच्छांतिसागरसूरिशिष्यवीरसागराचार्यान्तेवासिनीन्दूमत्यार्यिकाया-शिष्यासुपार्श्वमत्यालिखितत्वा अंगपण्णत्तेः हिन्दीभाषायां नागालैण्डदेशे डीमापुरनगरे चैत्रमासे शुक्लपक्षे त्रयोदशां तिथौ रविवासरे विक्रम संवत् द्विसहस्रसप्तचत्वारिंशते वीर संवत् द्विसहस्रपंचशतोत्तरसप्तदशत्तमे निजज्ञानावरणकर्मक्षयार्थं समाप्त कृतं।

शुभं भूयात्